परमपूज्य आचार्य 108

श्री ज्ञानसागर जी महाराज की

साहित्य साधना -

संस्कृत साहित्य –

१. जयोदय महाकाव्यम् (2 भाग में)
२. वीरोदय महाकाव्यम्
३. सुदर्शनोदय महाकाव्यम्
४. भद्रोदय महाकाव्यम् (समुद्रदत्त चरित्र)
५. दयोदय चम्पू
६. सम्यकत्वसारशतकम्
७. मुनि मनोरञ्जनाशीति
८. भक्ति संग्रह
९. हित सम्पादकम्

हिन्दी साहित्य –

१०. भाग्य परीक्षा
११. ऋषभ चरित्र
१२. गुण सुन्दर वृतान्त
१३. पवित्र मानव जीवन
१४. कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन
१५. सचित्त विवेचन
१६. सचित्त विचार
१७. स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म
१८. सरल जैन विवाह विधि
१९. इतिहास के पन्ने
२०. ऋषि कैसा होता है

टीका ग्रन्थ –

२१. प्रवचसार
२२. समयसार
२३. तत्त्वार्थसूत्र
२४. मानवधर्म
२५. विवेकोदय
२६. देवागमस्तोत्र
२७. नियमसार
२८. अष्टपाहुड़
२९. शांतिनाथ पूजन विधान

जयोदय महाकाव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन

जयोदय महाकाव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन

(बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल द्वारा १९९१ में पी.एच.डी. के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध)

-: लेखिका :-

डॉ. (कु.) आराधना जैन "स्वतन्त्र"

प्राध्यापिका, शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय

उदयपुर (विदिशा) म.प्र

आचार्य विद्यासागर वाङ्मय राष्ट्रीय संगोष्ठी

सान्निध्य – परम पूज्य मुनिपुगव १०८ श्री सुधासागरजी महाराज

ससघ २७ से ३० सितम्बर,१९९८

श्रीमती मनफुलीदेवी धर्मपत्नि स्व नेमीचन्द काला (धोद वाला)द्वारा भेट

-: प्रकाशक/प्रकाशन :-

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर

एवं

श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र, नारेली–अजमेर (राज.)

प्रेरक प्रसंग : चारित्र चक्रवर्ती पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के सुशिष्य, तीर्थक्षेत्र समुद्धारक, आगम के प्रामाणिक एवम् सुमधुर प्रवचनकार, युवामनीषी, ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र (नारेली-अजमेर) प्रेरक, आध्यात्मिक एवम् दार्शनिक सन्त मुनि श्री सुधासागरजी महाराज एवम् पू. क्षु. श्री गंभीरसागरजी एवं क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज के 1996 जयपुर वर्षायोग में महाकवि ज्ञानसागर के साहित्य पर पंचम् विद्वत संगोष्ठी के सुअवसर पर प्रकाशित!

प्रकाशक : आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
ब्यावर (राज.)

ग्रन्थमाला : डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
सम्पादक एवं नियामक पं. अरुणकुमार शास्त्री ब्यावर

संस्करण : द्वितीय 1996

प्रति : 1000

मूल्य : **25/- रुपये मात्र**

प्राप्ति स्थान : **आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र**
"सरस्वती भवन" सेठ जी की नसियाँ
ब्यावर 305 901 (राज.)

श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र
नारेली-अजमेर (राज.) फोन : 33663

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र
मन्दिर संघीजी, सांगानेर, (जयपुर-राज.)

मुद्रक : निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टर्स
पुरानी मण्डी, अजमेर ✆ **422291**

जयोदय महाकाव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन

-: आशीर्वाद एवं प्रेरणा :-

मुनि श्री सुधासागरजी महाराज

क्षु. श्री गंभीरसागरजी महाराज

क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज

-: सौजन्य :-

श्रीमान् श्रेष्ठी श्री एम. एल जैन

डी-15, आकाश दीप

सुभाष नगर शॉपिंग सेन्टर

जयपुर (राज.)

-: प्रकाशक/प्रकाशन :-

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर

एवं

श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र, नारेली अजमेर (राज.)

श्री दिगम्बर जैन महाकवि आचार्य श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज

ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र – एक दृष्टि

भारतीय संस्कृति आदर्श पुरुषों के आदर्शों से प्रसूत एवं संवर्द्धित/संरक्षित है । प्रत्येक भारतीय अपने आदर्श पुरुषों को जीवन के निकटतम सजोने का प्रयास करता है । भारत की आदर्श शिरोमणी दिगम्बर जैन समाज आध्यात्मिक संस्कृति का कीर्त्तिमान अनादिनिधन सनातन काल से स्थापित करती रही है। इस सनातन प्रभायमान दि. जैन संस्कृति में/प्रत्येक युग में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते रहे हैं, होते रहेंगे । जिनकी सर्वज्ञता से प्रदत्त जीवन को जयवंत बनाने वाले सूत्रों ने इनके व्यक्तित्व को आदर्शता एवं पूज्यता प्रदान की है। वीतरागी, निष्प्रही, अठारह दोषों से रहित, अनन्त चतुष्ट्य के धनी, इन अरहन्तों ने अपनी दिव्य वाणी से राष्ट्र समाज एवं भव्य जीवों के लिये सर्वोच्च आदर्श प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया है ।

जब इन महान् अरहन्तों का परम् निर्वाण हो जाता है तब इनके अभाव को सद्भाव में अनुभूत करने के लिए दि. जैन संस्कृति में स्थापना निक्षेप से वास्तुकला के रूप में/ मूर्ति के रूप में स्थापित कर जिन बिम्ब संज्ञा से संज्ञित किया जाता है । इन जिन बिम्बों मे अनन्त आदर्श प्रतिबिम्बित होकर भव्य प्राणीयों के निधत्त-निकाचित दुष्ट कर्मों को नष्ट करते हैं ।

ऐसे महान् जिन बिम्बों को जिन-भक्त नगर या नगर के निकट उपवन में विराजमान कर उस पवित्र क्षेत्र को आत्मशान्ति का केन्द्र बना लेता है । नगर जिनालयों की अपेक्षा उपवनों में स्थापित तीर्थक्षेत्रों का वातावरण अधिक विशुद्ध होता है । अत: लोग सैकड़ों मीलों से हजारों रुपया खर्च करके तीर्थक्षेत्रों पर तीर्थयात्रा करने जाते हैं । कहा जाता है कि जिस भूमि पर तीर्थ क्षेत्र होते हैं तथा तीर्थ यात्री आकर तीर्थ वन्दना करते हों वह भूमि देवताओं द्वारा भी वन्दनीय हो जाती है । इसलिये प्रत्येक जिला निवासी जैन बन्धु अपने जिले में / किसी सुन्दर उपवन में विशाल जिन-तीर्थ की स्थापना करके सम्पूर्ण राष्ट्र के भव्य जीवों के लिये यात्रा करने का मार्ग प्रशस्त करके अपने जिले की भूमि को पावन बना लेता है । दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि अजमेर जिला दिगम्बर जैन श्रावकों के लिये कर्म स्थली रहा है लेकिन तीर्थक्षेत्र के रूप में धर्म स्थली बनाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सका । अर्थात् अजमेर मण्डलान्तंगत अभी तक एक भी तीर्थ क्षेत्र नहीं है । जिस पर भारतवर्ष के साधर्मी बन्धु तीर्थ यात्री के रूप में आकर जिले की भूमि को पवित्र कर सकें ।

जिले की दिगम्बर जैन समाज के सातिशय पुण्य के उदय से इस राजस्थान की जन्मस्थली, कर्मस्थली बना कर पवित्र करने वाले तथा चार-चार संस्कृत महाकाव्यों सहित 30 ग्रन्थों के सृजेता बाल ब्रह्मचारी महाकवि आ. श्री ज्ञानसागरजी महाराज द्वारा श्रमण संस्कृति के उन्नायक जिन शासन प्रभावक आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज को दीक्षा देकर अजमेर क्षेत्र को पवित्र किया है। ऐसी इस पावन भूमि पर चिर अन्तराल के बाद संत शिरोमणी आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के परम शिष्य आध्यात्मिक संत मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, क्षु. श्री गम्भीरसागरजी, क्षु. श्री धैर्यसागरजी का पावन वर्ष 1994 में वर्षायोग हुआ। इसी वर्षा योग में सरकार, समाज एवं साधु की संगति ने इस जिले को आध्यात्मिक वास्तुकला को स्थापित करने के लिए नारेली ग्राम के उपवन को तीर्थक्षेत्र में परिवर्तित करने के लिये चुना। सच्चे पुरुषार्थ में अच्छे फल शीघ्र ही लगते हैं ऐसी कहावत है। तदनुसार 4 माह के अन्दर ही अजमेर से 10 कि.मी. दूर नारेली ग्राम में किशनगढ़ ब्यावर बाइपास पर एक विशाल पर्वत सहित 127.5 बीघा का भूखण्ड दिगम्बर जैन समाज को सरकार से आवंटित किया गया जिसका नामकरण आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज एवं मुनि श्री सुधासागरजी महाराज के आशीर्वाद से "ज्ञानोदय तीर्थ" ऐसा मांगलिक पवित्र नाम रखा गया। इस क्षेत्र का संचालन दिगम्बर जैन समिति (रजि.) अजमेर द्वारा किया जाता है। इस क्षेत्र पर निम्न योजनाओं का संकल्प जिला स्तरीय दिगम्बर जैन समाज ने किया है।

1. **त्रिमूर्ति जिनालय (मूल जिनालय)** – इस महाजिनालय में अष्टधातु की 11-11 फुट उतंग तीर्थंकर, चक्रवर्ती कामदेव जैसे महा पुण्यशाली पदों को एक साथ प्राप्त कर महा निर्वाण को प्राप्त करने वाले श्री शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ के जिन बिम्ब विराजमान किये जावेंगे। यह जिनालय इस क्षेत्र को मूलनायक के नाम से प्रसिद्ध होगा।

2. **श्री नन्दीश्वर जिनालय** – यह वही जिनालय है जिसकी वन्दना शायद सम्यग्दृष्टि एक भवतारी सौधर्म इन्द्र अपने परिकर सहित वर्ष की तीनों अष्टानिका पर्व में जाकर निरन्तर 8 दिन तक पूजन अभिषेक कर अपने जीवन को धन्य बनाता है। यह नन्दीश्वर द्वीप जम्बूदीप से आठवें स्थान पर पड़ता है। अतः वहां पर मनुष्यों का जाना सम्भव नहीं है। एतर्थ उस नन्दीश्वर दीप के 52 जिनालयों की स्थापना निक्षेप से इस क्षेत्र में भव्य जीवों के दर्शनार्थ इस जिनालय की स्थापना की जा रही है।

3. **सहस्त्रकूट** – अरहन्त तीर्थकरों के शरीर में 1008 सुलक्षण होते हैं। अत: तीर्थकरों को 1008 नामों से पुकारते हैं। इस एक-एक नाम के लिये एक-एक वास्तु कला में विराजमान कर 1008 बिम्ब एक स्थान पर विराजमान किये जाते हैं। इसलिये इसको सहस्त्रकूट जिनालय कहा जाता है। श्री कोटि भट्ट राजा श्रीपाल के समय सहस्त्रकूट जिनालय के सम्बन्ध में श्रीपाल चरित्र में वर्णित किया गया है कि जब सहस्त्रकूट जिनालय के कपाट स्वत: ही बन्द हो गये तब कोटि भट्ट राजा श्रीपाल एक दिन उसकी वन्दना करने के लिये आते हैं तो उसके शील की महिमा से कपाट एकदम खुल जाते हैं।

4. **त्रिकाल चौबीसी जिनालय** – यह वह जिनालय है जिनमें भरत क्षेत्र के भूत, वर्तमान व भविष्य की 24 24 जिन प्रतिमायें 5 6 फुट उतंग 24 जिनालयों में विराजमान की जावेंगी। भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के बाद शोक मग्न होकर भरत चक्रवर्ती विचारने लगा कि अब तीर्थ का प्रवर्तन कैसे होगा। तब महा मुनिराज गणधर परमेष्ठी कहते हैं कि हे चक्रि, अब धर्म का प्रवर्तन जिन बिम्ब की स्थापना से ही सम्भव है। तब चक्रवर्ती भरत ने मुनि ऋषभ सेन महाराज का आशीर्वाद प्राप्त कर कैलाश पर्वत पर स्वर्णमयी 72 जिनालयों का निर्माण कराकर रत्न खचित 500 500 धनुष प्रमाण 72 जिन बिम्बों की स्थापना की।

5. **मानस्तम्भ** – जैनागम के अनुसार जब भगवान का साक्षात समवशरण लगता है तब चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ स्थापित किये जाते हैं और मानस्तम्भ में चारों दिशाओं में एक-एक प्रतिमा स्थापित की जाती है अर्थात 1 मानस्तम्भ में कुल चार प्रतिमायें होती हैं। इस मानस्तम्भ को देखकर मिथ्यादृष्टियों का मद (अहंकार) गल जाता है और भव्य जीव सम्यग्दृष्टि होकर समवशरण में प्रवेश कर साक्षात अरहंत भगवान की वाणी को सुनने का अधिकारी बन जाता है। इस सम्बन्ध में अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर के समय एक घटना का उल्लेख जैन शास्त्रों में मिलता है कि इन्द्रभूति गौतम अपने 5 भाई और 500 शिष्यों सहित भगवान् महावीर से प्रतिवाद करने के लिये अहंकार के साथ आता है लेकिन मानस्तम्भ को देखते ही उसका मद गलित हो जाता है और प्रतिवाद का भाव छोड़कर/ सम्यक्त्व को प्राप्त कर। सम्पूर्ण शिष्यों सहित जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर भगवान् महावीर के प्रथम गणधर पद को प्राप्त हो गया अर्थात् इस मानस्तम्भ

की महिमा कितनी अनुपम है कि इन्द्रभूति गौतम कहां तो भगवान् से लड़ने आया था और कहां भगवान् का प्रथम गणधर बन गया । ऐसा यह भव्य मानस्तम्भ इस क्षेत्र पर निर्माण किया जा रहा है ।

6. **तलहटी जिनालय** – इस जिनालय में वृत्ताकार प्रथम मंजिल पर प्रवचन हाल रहेगा । दूसरी मंजिल पर भगवान् बाहुबलि, तीसरी पर भरत और चौथी पर ऋषभदेव भगवान् की प्रतिमायें विराजमान होंगी ।

7. **18 दोषों से रहित तीर्थङ्कर अरिहंत भगवान के द्वारा उपदेश देने की सभा को समवशरण कहते हैं इसकी रचना कुबेर द्वारा होती–** देव, मनुष्य एवं तिर्यञ्चों की 12 सभाएँ होती है । भव्य जीव ही इस समवशरण में प्रवेश करते हैं । ऐसा यह भव्य जीवों का तारण हार समवशरण भी इस क्षेत्र पर स्थापित किया जा रहा है ।

8. **संतशाला** - क्षेत्र हमेशा से साधु सन्तों के धर्म ध्यान करने के आवास स्थान रहे हैं । इस क्षेत्र पर भी आचार्य विद्यासागरजी आदि महाराज जैसे महासन्त संघ के साथ भविष्य में यहां विराजमान होंगे एवं अन्य आचार्य साधुगण वन्दनार्थ, साधनार्थ विराजमान रहेंगे । उनकी साधनानुकूल सन्त वसतिका बनाने का निर्णय लिया गया है ।

9. **गौशाला** – वर्तमान में मानव स्वार्थ पूर्ण होता चला जा रहा है । इसी कारण से गाय, बैल, भैंस आदि जब इसके उपयोगी नहीं होते अथवा दूध देना बन्द कर देते हैं तब व्यक्ति उनकी सेवा सुश्रूसा नहीं करके उनको कसाई अथवा बूचड़खाने में भेज देता है । ऐसे आवारा पशुओं को इस क्षेत्र में रख कर उनके जीवन को अकाल हत्या से मरण से बचाया जावेगा। यह क्षेत्र समवशरण है और समवशरण में एक सभा तिर्यञ्चों की होती हैं । अत: यह गौशाला है इस क्षेत्र रूपी समवशरण में एक सभा के रूप में प्रतिष्ठित होगी इस दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र गौशाला का शिलान्यास श्री भैंरूसिंह शेखावत, मुख्य मंत्री राजस्थान सरकार द्वारा किया गया है ।

10. **ज्ञानशाला (विद्यालय)** – मानवीय दृष्टिकोण से विचारने पर जीवन का एक आवश्यक अंग आजीविका भी है । इस आजीविका को कार्यान्वित रूप देने के लिये मनुष्य को लौकिक व शाब्दिक ज्ञान की भी आवश्यकता

है । इस दृष्टिकोण से इस क्षेत्र पर विद्यालय को स्थापित करने की भी योजना है । साथ ही एक विशाल ग्रन्थालय भी स्थापित किया जायेगा।

11. **भाग्यशाला (औषधालय/चिकित्सालय)** – जीव का आधार शरीर है और शरीर बाहरी वातावरणों से प्रभावित होकर जीव को अपने अनुकूल क्रिया करने में बाधा उत्पन्न करता है । तब शरीर में आई हुई विकृतियों को दूर करने के लिये औषधि की आवश्यकता होती है । अत: इस औषधायल चिकित्सालय से असहाय गरीबों के लिये नि:शुल्क चिकित्सा कराने के विकल्प से स्थापना की जावेगी ।

12. **धर्मशाला** – क्षेत्र की विशालता को देखते हुये ऐसा लगता है कि भविष्य में यह एक लघु सम्मेद शिखर का रूप ग्रहण कर लेगा । जिस प्रकार दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र श्री सम्मेद शिखरजी, महावीर जी अतिशय क्षेत्र आदि में निरन्तर यात्री आकर दर्शन पूजन आदि का लाभ लेते हैं उसी प्रकार इस क्षेत्र में भी तीर्थ यात्री बहु संख्या में आकर दर्शन पूजन का लाभ लेवेंगे । अत: उनकी सुविधा के लिये 300 कमरों की धर्मशाला आधुनिक सुविधाओं सहित बनाने का निर्णय लिया गया है ।

13. **उदासीन आश्रम** – अपनी गृहस्थी से विरक्त होकर लोग इस क्षेत्र पर आकर अपने जीवन को धर्म साधना में लगा सकें । अत: उदासीन आश्रम के निर्माण करने का निर्णय लिया गया है ।

14. **बाउण्ड्री दीवाल** – सम्पूर्ण क्षेत्र को सुरक्षित करने के लिए 6 फुट ऊंची बाउण्ड्री दीवाल की सर्वप्रथम आवश्यकता थी । पूज्य मुनि श्री के प्रवचनों से प्रभावित होकर अजमेर जिले की दिगम्बर जैन महिलाओं ने इस बाउण्ड्री को बनाने का आर्शीवाद प्राप्त किया ।

15. **पहाडी के लिए सीढ़ी निर्माण** – उबड़-खाबड़ उतङ्ग पहाड़ी पर जाने के लिए सीढ़ियों की आवश्यकता थी । अजमेर जिले के समस्त दिगम्बर जैन युवा वर्ग ने इस सीढ़ियों को बनाने का पूज्य मुनि श्री से आर्शीवाद प्राप्त किया ।

16. **अनुष्ठान विधान** – क्षेत्र शुद्धि हेतु 28.6.95 से 30.6.95 तक समवशरण महामंडल विधान का आयोजन पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज ससंघ सानिध्य में किया गया । तदनन्तर मुनि श्री के ही ससंघ सानिध्य में 1.12.95 से 10.12.95 तक सर्वतोभद्र महामंडल विधान अर्द्ध-सहस्र

इन्द्र इन्द्राणियों की सम्भागिता में महत् प्रभावना के साथ सम्पन्न हुआ। इसी विधान के अन्तर्गत मूलनायक, त्रिकाल चौबीसी, नंदीश्वर जिनालय एवं मानस्तम्भ का शिलान्यास किया गया। इस महोत्सव में माननीय भैरोंसिंह शेखावत मुख्य मंत्री राजस्थान सरकार, श्री ललित किशोर चतुर्वेदी शिक्षा एवं सार्वजनिक निर्माण राज्य मंत्री, श्री गंगाराम चौधरी राजस्व राज्य मंत्री, श्री किशन सोनगरा खादी एवं ग्रामोद्योग राज्य मंत्री, श्री सांवरमल जाट राज्य मंत्री, श्री महावीर प्रसाद जैन सचेतक राजस्थान विधान सभा, श्री ओंकारसिंह लखावत अध्यक्ष नगर सुधार न्यास अजमेर, सांसद श्री रासासिंह रावत सांसद अजमेर, श्री किशन मोटवानी विधायक अजमेर, श्री कैलाश मेघवाल गृह एवं खान मंत्री राजस्थान सरकार, श्री पुखराज पहाड़िया जिला प्रमुख अजमेर, श्री देवेन्द्र भूषण गुप्ता जिलाधीश अजमेर, श्री वीरकुमार अध्यक्ष नगर परिषद, श्री अदिति मेहता संभागीय आयुक्त अजमेर, कांग्रेस (इ) अध्यक्ष अजमेर माणक चन्द सोगानी। आदि प्रशासनिक अधिकारियों ने इस दस दिवसीय मंडल विधान में अपना महतीय योगदान दिया है।

17. **सरकारी सहयोग** – इस क्षेत्र स्थापना के पूर्व 26.10.94 को दिगम्बर जैन समिति (रजिस्टर्ड) अजमेर का गठन कर राज संस्था रजिस्ट्रीकरण अधिनियम 1958 के अन्तर्गत दिनांक 2.11.94 को पंजीकृत कराया गया। नगर सुधार न्यास के अध्यक्ष ओंकारसिंह लखावत एवं कांग्रेस अध्यक्ष अजमेर माणकचन्द सोगानी के विशेष सहयोग से इस नारेली पर्वतीय स्थल का चयन किया गया। तदुपरान्त महाराज श्री ने इस स्थल का निरिक्षण कर इस स्थल को पवित्र किया। समाज के कर्मठ कार्यकर्ताओं, स्थानीय प्रशासन एवं राजस्व राजमंत्री राजस्थान के विशेष सहयोग से रियायती दर पर यह पहाड़ी मैदान-दिगम्बर जैन समाज को दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र स्थापना हेतु स्थाई रूप से अवंटित किया गया। तदुपरान्त आर्किटेक्ट श्री उम्मेदमल जैन एवं निर्मल कुमार जैन ने क्षेत्र के योजनाओं सहित नक्शे तैयार किये। 10.12.95 को माननीय भैरोंसिंह शेखावत मुख्य मंत्री राजस्थान सरकार एवं माननीय ललित किशोर जी चतुर्वेदी शिक्षा एवं सार्वजनिक निर्माण मंत्री जी ने मेन रोड़ से पहाड़ी के ऊपर तक डामर रोड बनाने की घोषणा की। सांसद श्री रासासिंह रावत ने 3 ट्यूबवैल सरकारी स्तर पर लगाने की घोषणा की। राजस्व राज्यमंत्री श्री गंगाराम

चौधरी जी ने क्षेत्र की योजनाओं को देखते हुए लगभग 200 बीघा जमीन और सरकार से दिलाने की घोषणा की जिलाधीश द्वारा प्रशासनिक समस्त कार्यो को करने की घोषणा की । गौशाला में जिला प्रमुख धर्म निष्ठ श्री पुखराज पहाड़िया एवं प्रशासन का विशेष सहयोग देने की घोषणा की गई है । गृह एवं खान मंत्री जी श्री कैलाश मेघवाल ने पुलिस चौकी की घोषणा की । इस प्रकार राज नेताओं द्वारा इस नवोदित तीर्थ क्षेत्र के विकास में हुई घोषणाएं क्रियान्वित होने की प्रतिक्षा कर रही है. माननीय मुख्यमंत्री श्री भैरुसिंहजी शेखावत ने गौशाला को विशेष सुविधायुक्त बनाने के लिए आयुक्त श्रीमति अदिति मेहता को विशेष निर्देष दिये ।

18. **विशेष सहयोग** – पहाडी आवंटित होने के बाद सबसे बड़ी समस्या थी कि पहाड़ी को समतल कैसे किया जाये । लेकिन यह कार्य धर्म निष्ठ आर.के.मार्बल्स लि किशनगढ़ वालों ने अपनी मशीन द्वारा पहाड़ी तक का कच्चा मार्ग एवं पहाडी का समतली करण लगभग डेढ़ माह के अन्दर करके क्षेत्र एवं सच्चे देव शास्त्र गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा व्यक्त कर असम्भव कार्य को सम्भव कर दिखाया है ।

पाषाण–टंकोतकीर्ण वास्तु कला – पाषाण टंकोत्कीर्ण वास्तुकला विशेष रूप से प्राय: लुप्त सी हो चुकी थी लेकिन तीर्थ क्षेत्र जीर्णोद्धारक एवं वास्तुकला के मर्मज्ञ दिगम्बर जैन मुनि श्री सुधासागरजी महाराज की दूर दृष्टि ने उस खोई हुई कला को खोज निकाला, तथा इस जीर्णशीर्ण वास्तुकला का जीर्णोद्धार कर इस संस्कृति को चिर स्थाई बनाने के लिए उपदेश दिया । मुनिराज ने अपने उपदेशों में सद् प्रेरणा दी कि आर.सी.सी (RCC) के मंदिर बनाने से संस्कृति दीर्घकाल तक सुरक्षित नहीं रह सकेगी क्योंकि आर.सी.सी. की उम्र मात्र 100 वर्षो की है । मंदिरों का निर्माण सहस्रों वर्षो को ध्यान में रख कर करना चाहिए । दूसरी बात यह है कि जैन प्रतिष्ठा पाठों में लोहे के प्रयोग को प्रशस्त नहीं कहा है । गुरु का यह उपदेश समाज के हृदयों को छू गया तथा पत्थर चूना के मंदिर बनाने वाले शिल्पियों को खोजा गया। "जिन खोजा तिन पाईया गहरे पानी पैठ वाली कहावत चरितार्थ हुई परिणाम स्वरुप शिल्पि उपलब्ध हो गये समाज एवं समिति ने मुनि श्री सुधासागरजी महाराज के चरणों में श्री फल चढ़ाकर संकल्प किया कि इस ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र पर (पहाड़ी पर) जितने भी मंदिर बनेंगे वह सभी खजुराहो, देलवाड़ा, देवगढ़, रणकपुर के समान कलापूर्ण पत्थर के ही बनेंगे । उनमें लोहे का प्रयोग नहीं किया जावेगा अर्थात वह आर.सी.सी. के नहीं बनेंगे ।

जिनालयों का नक्षण कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है । पाषाण टंकोत्कीर्ण वास्तु कला को पुनरोज्जीवित करने वाला भारत वर्ष का यह अनुपम दिगम्बर तीर्थ क्षेत्र अनोखा कीर्तीमान स्थापित करेगा ।

स्वर्ण अवसर– आइये हम सबके महान् सातिशय पुण्य के उदय से ज्ञानोदय तीर्थ में अनेक मांगलिक शुभ योजनाओं को क्रियान्वित किया जा रहा है। कितना अच्छा अवसर है कि उपरोक्त योजनाओं को आपकी जड़ सम्पदा द्वारा स्थापित करने का । जड़ सम्पदा पुण्य के उदय से आती है लेकिन जाने के दो द्वार होते हैं । एक पाप कार्यो के द्वारा और दूसरी पुण्य कार्यो के द्वारा । भरत चक्रवर्ती ने भी अपने धन का सदुपयोग करके कैलाश पर्वत पर 72 स्वर्णमयी जिनालय बनवाये थे अर्थात चक्री ने भी अपना धन व्यय किया था । और एक रावण था जिसने अपने धन का दुर्पयोग अपने पापोपभोग करके महलों को, लंका को स्वर्णमय बनाकर नष्ट किया था । दोनों के परिणाम आप हम सब जानते है । एक चक्रवर्ती ने अपने धन का सदुपयोग जिनालय बनाने में किया सो वह जिनालय के समान पूज्य जिनेन्द्र देव के पद को प्राप्त हुआ और रावण ने भोग सामग्री में किया तो उसे नरक का वास मिला । आईये- हम सब इश्वाकु वंशी भरत चक्रवर्ती के वंशज हैं। हमें भी परम्परानुसार अपने धन का उपभोग ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र में बनने वाले जिनालयों में करना है और इश्वाकु वंश के कुल दीपक बनने का गौरव प्राप्त करना है । इस तीर्थ की समस्त धार्मिक योजनायें अति शीघ्र करने का संकल्प समाज ने लिया है । अत: शीघ्र विचारिये, सोचिये एवं अपने दान की घोषणा करके चक्रवर्ती के वंश के बनने का गौरव प्राप्त करिये। आप सब के सहयोग से ही यह तीर्थ भारत में दिगम्बर जैन संस्कृति की ध्वजा को फहरा सकेगा और अजमेर जिला भारतीय दिगम्बर जैन संस्कृति में अपना एक ऐतिहासिक अध्याय जोड़ सकेगा ।

भारतवर्ष का प्रथम बहुउद्देशीय नवोदित यह ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र अनेक योजनायें अपने गर्भ में संजोय हुए है । उन्हीं योजनाओं में से पू. मुनि श्री सुधासागर जी के आर्शीवाद प्रेरणा एवं सानिध्ये में "श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र ग्रन्थालय" नाम से एक पुस्तकालय शुभारम्भ किया गया - इस क्षेत्र से प्रसूत इस पुष्प के अन्तर्गत जिनवाणी के प्रचार प्रसार हेतु ग्रन्थों को प्रकाशन कराने के कार्य का भी शुभारम्भ किया जा रहा है ।

श्रुतदेवताय नम: ! प्रस्तुति :

दिगम्बर जैन समिति (रजि.) अजमेर (राज.) **कैलाशचन्द पाटनी, अजमेर**

कार्यालय : श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र नारेली-अजमेर (राज.)
फोन नं. 33663, वीर निर्वाण सं. 2522 इंसवी सन्-1996

संस्थापित : 1 सितम्बर 1996 फोन नं. 384663

श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान

जैन नशियां, नशियां रोड – सांगानेर
(पंजीयन सं. 320 दिनांक 25–8–96)

प्राचीन समय से ही जयपुर जैन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है और यहां के विद्वानों ने समय - समय पर जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में अमूल्य योगदान दिया है ।

इस क्रम में दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृति महाविद्यालय सौ वर्ष से अधिक समय से प्रयास रत है । परन्तु छात्रावास के अभाव में विद्यालय में जो श्रमण संस्कृति के उपासक विद्वान तैयार होने चाहिए थे वे नहीं हो पा रहे हैं जिसके फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक समारोह एवं पर्वो पर विद्वानों की मांग आने पर भी पूर्ति करने में असमर्थता रहती थी जिससे जैन संस्कृति के सिद्धान्तो एवं ज्ञान का वांछित प्रचार प्रसार नहीं हो पा रहा है इसी अभाव की पूर्ति हेतु पूज्य 108 आचार्य संत शिरोमणी आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के प्रतिभाशाली शिष्य प्रवर मुनिवर 108 श्री सुधासागर जी महाराज की प्रेरणा और आशीवाद से श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान की स्थापन 1 सितम्बर, 1996 को अपार जन समूह के बीच की गई । इस संस्थान के माध्यम से एक छात्रावास जिसमें 200 छात्र रहकर जैन दर्शन का अध्ययन करेंगे और विद्वान बनकर समाज में जैन तत्वज्ञान और श्रमण संस्कृति का प्रचार प्रसार करेंगे ।

इस संस्थान के मुख्य उद्देश्य निम्न प्रकार हैं –

1. दिगम्बर जैन धर्म अनादि काल से प्रचलित है जिसकी श्रमण परम्परा भी अनादि काल से शाश्वत रुप से चली आ रही है और वर्तमान में भी विद्यमान है । उसी पवित्र श्रमण परम्परा (28 मूलगुणों को निर्दोष पालन करने वाली) को संरक्षित करना तथा श्रावकों को उनके कर्तव्य एवं संस्कारों से अलंकृत कराना उन संस्कारों को सिखाने के लिये छात्रों को श्रमण संस्कृति रक्षक/उपासक विद्वानों के रुप में तैयार करना इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य है ।

2. जो अध्यात्मवाद के नाम पर वर्तमान साधुओं को आहारदान, वैय्यावृत्ति, विनयादि न करके उनका सम्मान नहीं करते हैं जो यह कहते हैं कि वर्तमान में आचार्य कुन्दकुन्द की मूल-आम्नायानुसार मुनि होते ही नहीं है उन लोगों के द्वारा प्रचारित सन्मार्ग का खण्डन कर अथवा रोक कर सन्मार्ग का प्रचार प्रसार करना ।

3. वर्तमान में कुछ साधुओं में व्याप्त शिथिलाचार को रोकने तथा समाप्त करने का प्रयास करना ।

4. जो संस्थाएं विद्वान् आगमविरुद्ध विशेषार्थ लिखकर शास्त्रों के भाव को बदलने की कोशिश कर रहे है, चारों अनुयोगों में से द्रव्यानुयोग को विशेष मानकर अनुयोगों को अप्रयोजनीय बतलाते हैं, उनकी उपेक्षा करते हैं, प्रकाशन एवं स्वाध्याय में प्रमुखता नहीं देते, उनके दुष्प्रचार को रोककर चारों अनुयोगों के शास्त्रों का मूल रूप में प्रकाशन, प्रचार-प्रसार एवं स्वाध्याय की प्रेरणा देना ।

5. मूल आगम परम्परा अनुसार विद्वानों को प्रशिक्षित करना, उनको स्थान स्थान पर भेजकर दिगम्बर जैन धर्म का प्रचार प्रसार करना, शिविरादि लगाकर लोगों को धर्म व संस्कारों को सिखाना । अप्रकाशित या आवश्यक ग्रन्थों का अनुवाद या प्रकाशन करना पूजा प्रतिष्ठा विधानादि करना या कराना, स्थान-स्थान पर धर्मप्रसार के लिए श्रमण संस्कृति पाठशालाएँ खोलना ।

6. समाज को सप्त व्यसनों से मुक्त कराकर श्रावकों को उनके चार षट आवश्यकों को करने की प्रेरणा देना, सिखाना, समाज में व्याप्त रात्रि भोजन, मृत्यु भोज एवं दहेज आदि कुरीतियों का निवारण करना ।

7. संस्थान में प्रशिक्षण के लिए प्रविष्ट छात्रों के आवास, भोजन, पठन पाठन की निःशुल्क या उचित शुल्क पर व्यवस्था करना व कराना ।

8. आवश्यकतानुसार विभिन्न स्थानों पर अपने निर्देशन में पाठशाला, छात्रावास, विद्यालय आदि खोलना एवं सुचारु रूप से संचालित करना ।

9. विभिन्न अवसरों पर विभिन्न विषयों पर विद्वानों की गोष्ठी सम्मेलन वाचनादि का आयोजन करना ।

10. विभिन्न स्थानों की प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह करना और देश विदेश में श्रमण संस्कृति की रक्षा की उचित व्यवस्था करना तथा शोधकार्य कराने की समुचित व्यवस्था करना ।

11. विदेशों में दिगम्बर जैन धर्म के मूल आम्नय का प्रचार हेतु प्रकाशित ग्रन्थों को भेजना तथा छात्रों और विद्वानों को भेजने, शिक्षण प्रशिक्षण की व्यवस्था करना ।

12 दिगम्बर जैन मूल - आर्ष आम्नाय में प्रतिपादित धर्म के विरोध में अज्ञान, द्वेष या ईर्ष्यादिवश लिखे गये लेखों, पुस्तकों, व्याख्यानों, शोध प्रबंधो आदि का येन केन प्रकारेण निराकरण करना एवं सन्मार्ग का विकास करना ।

13 धार्मिक पठन पाठन के लिए निश्चित पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन कराना, उनके शिक्षण प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, उनके परीक्षा के लिए परीक्षा बोर्ड की स्थापना एवं व्यवस्था करना ।

14 जयपुर नगर एवं समस्त भारत में ऐसे संगठनों की रचना करना, उन्हे उचित संरक्षण, प्रोत्साहन, एवं आर्थिक सहायता देना, उनके प्रचार प्रसार कार्य का संवर्द्धन करना, जिनका उद्देश्य जैन श्रमण संस्कृति को संरक्षित करना एवं मानव कल्याण करना है ।

विनीत :

गणेशकुमार राणा — अध्यक्ष

महावीरप्रसाद पहाड़िया — मंत्री

महाकवि आचार्य ज्ञानसागर महाराज की

साहित्य - साधना

लेखक : मुनि 108 श्री सुधासागर जी महाराज

जैन साहित्य में चौदहवीं शताब्दी के बाद संस्कृत महाकाव्यों की विच्छिन्न शृंखला को जोड़ने वाले राजस्थान प्रान्त, सीकर जिला, राणोली ग्राम में पिता चतुर्भुज व माता घृतवरी की कोख से प्रसूत गौर-वर्णीय महाकवि भूरामल शास्त्री हुए हैं।

बचपन में ही ज्ञान अर्जन की ललक होने के कारण संस्कृत विद्या व जैन दर्शन में प्रवेश करने के लिए स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस में शास्त्री तक अध्ययन किया। अध्ययन के उपरान्त सृजन साहित्य का लक्ष्य बनाया तथा आत्म उत्थान हेतु बाल ब्रह्मचारी रहने का संकल्प किया।

ब्रह्मचारी बनकर संस्कृत साहित्य के लेखन करने में इतने निमग्न हो गये कि चार चार महाकाव्यों सहित संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में तीस ग्रन्थ लिखे।

'णाणस्य फलम् उपेक्खा' कुंद कुंद के इस सूत्र को जीवन में साकार करने के लिए अविरत दशा से आगे कदम बढ़ाते हुए देशव्रत रूप क्षुल्लक दशा को धारण किया। तदुपरांत चारित्र का चरमोत्तम पद महाव्रत रूप दिगम्बरी दीक्षा धारण की तथा आचार्य वीर सागर, आचार्य शिव सागर महाराज ... संघ का पठन-पाठन कराते हुए उपाध्याय पद से सुशोभित हुए। इसके बाद आचार्य पद को ग्रहण करके कई भव्य प्राणियों को मोक्ष मार्ग का उपदेश प्रदान कर अनेकों मुमुक्षुओं को मुनि दीक्षा से उपकृत किया। इन्हीं शिष्यों में प्रथम शिष्य ऐसी ... को प्राप्त हुए कि आज सारे विश्व के साधुओं में श्रेष्ठता को प्राप्त को ... जिन्हें दुनियाँ "संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी" के नाम से जानती है।

जीवन के अन्त में अपना आचार्य पद इन्हीं "विद्यासागर" को देकर लगभग 180 दिन की "यम संल्लेखना" धारण की। अन्त में चार दिन तक चतुर्विध आहार के त्याग के साथ 1 जून, 1973 ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या को 10 बजकर 20 मिनट पर नसीराबाद में पार्थिव शरीर को छोड़कर संसार का अन्त करने वाली समाधि को प्राप्त हुए अर्थात् समाधिस्थ हो गये।

इनके द्वारा रचित २९ ग्रन्थों की संक्षिप्त समीक्षा यहाँ प्रस्तुत है :

1. जयोदय महाकाव्यम्

यह महाकाव्य रस अलंकार एवं छन्द की त्रिवेणी से पवित्रता को प्राप्त है। साहित्य दर्शन एवं आध्यात्मिक शैली में देश की ज्वलंत समस्याओं का निराकरण करता है। इस युग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सेनापति जयकुमार के चारित्रिक जीवन की सरस कथा के आश्रय पूर्वक इस काव्य की रचना हुई है। इस काव्य में शृंगार रस और शान्तरस की समानान्तर प्रवहमान धारा पाठकों को काव्य रस से सिक्त कर देता है। जयकुमार और सुलोचना की प्रणय कथा के प्रसंग वर्णन नैषधीय चरित्र एवं कालिदास के काव्यों का स्मरण दिला देता है। इस काव्य का प्रभात चित्रण माघ के काव्यों की तुलना करने के लिए प्रेरित करता है। इस महाकाव्य रूपी सागर की तलहटी साहित्य है तो दर्शन उसके किनारे और रस अलंकार आदि की अपार जल राशि के रूप में दृष्टिगोचर होती है एवं अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य आदि आचरणपरक अनेक बहुमूल्य रत्नों का भण्डार इस जयोदय महाकाव्य रूप सिन्धु में भरा पड़ा है। साहित्य जगत में 20वीं शताब्दी का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य तो है ही साथ ही जैन दर्शन में 14वीं शताब्दी के बाद का प्रथम महाकाव्य भी है।

इस महाकाव्य में [illegible] श्लोक 28 सर्गों में है।

संस्कृत और हिन्दी टीका सहित दो भागों में (पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध) इसका प्रकाशन किया गया है। यह महाकाव्य महाकवि आचार्य ज्ञान सागर महाराज ने दीक्षा के पूर्व लिखा था जब आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था।

2. वीरोदय महाकाव्यम्

यह महाकाव्य जयोदय महाकाव्य के समान ही रस अलंकार एवं शब्दों से परिपूर्ण है। इसे जयोदय महाकाव्य का अनुज कह सकते हैं। दिगम्बर जैन दर्शन के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन चरित्र का सांगोपांग वर्णन किया गया है। भगवान महावीर के जीवन चरित्र को, देश की आधुनिक समस्याओं के निराकरण को ध्यान में रखते हुए आधुनिक शैली में वर्णन किया है।

994 श्लोक वाला यह महाकाव्य 22 सर्गों में विभाजित है। छः सर्गों पर स्वोपज्ञ संस्कृत एवं एवं समस्त सर्गो पर स्वोपज्ञ हिन्दी टीका सहित प्रकाशित है।

यह महाकाव्य भी महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी ने दीक्षा के पूर्व लिखा था। उस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था।

3. सुदर्शनोदय महाकाव्यम्

यह महाकाव्य जैन दर्शनानुसार चौबीस कामदेवों में से अन्तिम कामदेव सेठ सुदर्शन के जीवन चरित्र को प्रस्तुत करता है। इस महाकाव्य में एक गृहस्थ के सदाचार, शील एवं एक पत्नीव्रत की अलौकिक महिमा को प्रदर्शित किया गया है, कि व्यभिचारिणी स्त्रियाँ एवं वेश्याएँ अनेक प्रकार की कामुकता से परिपूर्ण अपनी चेष्टाओं से भी स्वदार संतोषव्रती सुदर्शन को शील व्रत से च्युत नहीं कर पाती हैं।

काव्य नायक जयकुमार के शील व्रत की महिमा के कारण शूली भी सिंहासन में बदल जाती है। यह महाकाव्य रूढ़िक परम्पराओं से हटकर दार्शनिक साहित्य विधा से ओत प्रोत होकर भक्ति संगीत का अलौकिक छटा प्रस्तुत करता है। एक आर्य श्रावक की दैनिक चर्या को सुचारु ढंग से प्रस्तुत किया गया है। राग की आग में बैठे हुए काव्यनायक को वीतरागता के आनन्द का अनुभव कराया है। काव्यनायक के जीवन के अंतिम चरण को श्रमण संस्कृति के सिद्धान्तों से विभूषित किया है। यूँ कहना चाहिये कि यह काव्य जहाँ साहित्य की छटा को बिखेर कर साहित्यकारों के लिए और दार्शनिकता के कारण दार्शनिकों के लिए अपनी बुद्धि को परिश्रम करने की प्रेरणा देता है, वहीं पर गृहस्थ एवं साधु की आचार संहिता पर भी प्रकाश डालता है। इस काव्य को 481 श्लोकों को लेकर 9 सर्गों में विभाजित किया गया है। स्वोपज्ञ हिन्दी टीका सहित प्रकाशित है।

यह महाकाव्य भी महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी ने दीक्षा के पूर्व लिखा था, जिस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था।

4. भद्रोदय महाकाव्यम् (समुद्रदत्त चरित्र)

इस काव्य में अस्तेय को मुख्य लक्ष्य करके एक भद्रमित्र नामक व्यक्ति के आदर्श चरित्र को काव्य की भाषा शैली में प्रस्तुत किया गया है। वहीं पर सत्यघोष जैसे मिथ्या ढोंगी के काले कारनामों की कलई खोली गई है। यह काव्य 'सत्यमेव जयते' की उद्घोषणा करता है। इस लघु-महाकाव्य के लक्षणों के साथ-साथ पुराण काव्य एवं चरित्र काव्य के लक्षणों का समन्वय हो जाने के कारण त्रिवेणी संगम के समान पवित्रता को प्राप्त होता है। यह काव्य 344 श्लोकों को लेकर 9 सर्गों में विभाजित है।

यह महाकाव्य भी महाकवि ज्ञानसागर जी ने दीक्षा के पूर्व लिखा था, जिस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था।

5. दयोदय चम्पू

चम्पू काव्यों की परम्परा बहुत प्राचीन काल से गंगा-जमुना के संगम के समान मानी जाती है। क्योंकि चम्पू काव्य में गद्य एवं पद्य दोनों का ही सम्मिश्रण होता है। इन चम्पू काव्यों की शैली पाठकों के लिए रुचिकर एवं सहज अर्थ बोध कराने में कारण बनती है। यह दयोदय चम्पू काव्य भी बहुत ही सरल है। इस चम्पू काव्य में विषय वस्तु को गागर में सागर के समान भरा गया है। इस काव्य में कवि ने एक मृगसेन धीवर के छोटे से अहिंसाव्रत को लेकर अहिंसा व्रत की महिमा का बखान किया है। काव्य की विषय वस्तु से ज्ञात होता है कि धर्म या आचरण किसी जाति विशेष की बपौती नहीं है। एक धीवर जैसी तुच्छ जाति के मृगसेन धीवर भी अहिंसा व्रत के फल को पा गया। काव्य में धीवर को भी वेदों का ज्ञान होता है, यह बात भी दर्शायी गयी है। काव्य में कहा है कि पुनर्जन्म, उपकार्य, उपकारी भाव भव भवान्तरों तक अपना प्रभाव दिखाते है। धीवर का नियम था कि मैं अपने जाल में आयी हुई प्रथम मछली को नहीं मारूंगा। परिणामस्वरूप वही एक मछली पांच बार उसके जाल में फंसी और पाँचो बार उसने छोड़ दिया। इस पर उपकार के कारण अगले भव में पाँच बार उस मछली के जीव ने उस धीवर के प्राण बचाये। इस काव्य का भाव पक्ष महनीय है। इस काव्य में सात लम्ब हैं तथा स्वोपज्ञ हिन्दी टीका सहित प्रकाशित है।

यह चम्पू काव्य भी महाकवि ज्ञानसागर जी ने दीक्षा के पूर्व लिखा था, जिस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था।

6. सम्यकत्व-सार-शतकम्

जैन दर्शनानुसार सम्यग् दर्शन मोक्ष मार्ग की प्रथम सीढ़ी है। अत: सम्यग् दर्शन की महिमा जैन आगमानुकूल इस काव्य में की गई है। कवि के द्वारा रचित आध्यात्मिक काव्यों में यह उच्च श्रेणी का काव्य है। सम्यग्दर्शन के बिना घोर-घोर चरित्र भी मोक्ष का कारण नहीं हो सकता। कवि ने इस बात को विशेष रूप में दर्शाया है। यह काव्य 104 श्लोकों में स्वोपज्ञ हिन्दी टीका सहित प्रकाशित है। यह महाकाव्य भी महाकवि ज्ञानसागर जी ने दीक्षा के पूर्व लिखा था, जिस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था।

7. मुनि मनोरञ्जनाशीतिः

इस काव्य में उपदेशात्मक शैली प्रयुक्त की गई है। दिगम्बर मान्यतानुसार श्रमणों की पवित्र चर्या का वर्णन किया गया है। तथा वर्तमान काल की भी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए आगमानुकूल श्रमण चर्या को सुरक्षित रखा गया है।

यह काव्य साधु सन्तों के लिए प्रतिदिन पाठ करने योग्य है। आर्यिकाओं की चर्या का वर्णन भी इसमें समाविष्ट किया गया है। साधु के प्रवृत्तिपरक मार्ग को प्रदर्शित करते हुए निवृत्ति पर चलने हेतु इस काव्य में विशेष जोर दिया गया है। इस काव्य में 80 पद्य हैं।

यह काव्य आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज द्वारा दीक्षा के पूर्व लिखा गया था। उस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पण्डित भूरामल शास्त्री था।

8. भक्ति संग्रह

लगभग 2000 वर्ष पूर्व आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी द्वारा 10 भक्तियाँ प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध की गई थीं। इसके बाद पूज्यपाद स्वामी द्वारा संस्कृत भाषा में 10 भक्तियाँ लिखी गई। इसके बाद किसी भी आचार्य द्वारा 10 भक्तियों को लिखने का उल्लेख मुझे देखने में नहीं आया। 20वीं शताब्दी के महाकवि आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने संस्कृत पद्यों में भक्तियों की रचना करके प्राचीन परम्परा को पुनर्जीवित किया है। 6 श्लोकों में सिद्ध भक्ति, 5 श्लोकों में श्रुत भक्ति, 6 श्लोकों में चारित्र भक्ति, 6 श्लोकों में आचार्य भक्ति, 5 श्लोकों में योगि भक्ति, 5 श्लोकों में परमगुरु भक्ति, 5 श्लोकों में चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति, 5 श्लोकों में शांति भक्ति,

श्लोकों में समाधि भक्ति, 6 श्लोकों में चैत्य भक्ति, 22 श्लोकों में प्रतिक्रमण भक्ति, 4 श्लोकों में कायोत्सर्ग भक्ति ये भक्तियाँ पूर्व भक्तियों की अपेक्षा सरल एवं कम श्लोक में ही पूर्ण भावभिव्यक्ति व्यक्त करती है। जैन दर्शन में साधुओं की दैनिक आवश्यक क्रियाओं में यह भक्तियाँ अवश्य ही प्रयोग करनी पड़ती है। लेखक ने नन्दीश्वर एवं निर्वाण भक्ति की रचना नहीं की हैं। प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग भक्ति की रचना एक नवीन प्रस्तुतीकरण कहा जा सकता है।

यह ग्रन्थ भी आचार्य ज्ञानसागर जी के द्वारा रचित है (श्रमण अवस्था में)।

९. हित-सम्पादकम्

यह काव्य मिथ्या रूढ़ियों का खण्डन करता है। क्रिया काण्डियों को अविचारित गतानुगतिकताओं के विरुद्ध इस काव्य में क्रान्तिकारी घोषणा की गयी है। जातीयता के अहंकार के मद में डूबने वाले अहंकारियों के लिए अहंकार का खण्डन करने वाला है। व्यक्ति जन्म से नहीं, कर्म से महान् बनता है। व्यक्ति को पापी से नहीं, पाप से घृणा करनी चाहिए। इन सूत्रों को ध्यान में रखकर इस काव्य की रचना हुई है। आज के आधुनिक तर्कशील व्यक्तियों के लिए यह काव्य बहुत ही पसन्द आयेगा। चारों पुरुषार्थों का सटीक वर्णन इस काव्य में है। सामाजिक एवं पारिवारिक रीति रिवाजों को भी इस काव्य में समाविष्ट किया गया है। इस काव्य की मुख्य विशेषता है कि अपनी तर्कणाओं की पुष्टि कवि ने पूर्वाचार्यों द्वारा आगम में कथित सटीक उदाहरण देकर की है। जाति के मद में डूबने वाले लोगों ने आगम में कथित जिन बातों को गौण कर दिया था, कवि ने उन बातों को निर्भीक होकर प्रस्तुत कर दिया है। यह लघु काव्य क्रान्तिकारी है एवं मिथ्याकुरीतियों का निराकरण और सम्यक् रीति रिवाजों की स्थापना करने वाला है। इस काव्य में १६० श्लोक हैं।

यह ग्रन्थ भी महाकवि ज्ञानसागर जी के द्वारा दीक्षा के पूर्व लिखा गया था, जिस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल्ल शास्त्री था।

<u>हिन्दी - साहित्य</u>

10. भाग्य परीक्षा

जैन दर्शन में कथित धन्य कुमार के प्रसिद्ध कथानक के आधार पर इस काव्य को रचा गया है। इस काव्य का काव्यनायक धन्य कुमार है, जिनका जीवन आत्मीयजनों की प्रतिकूलता में पल्लवित होता है। फिर भी अपने पुण्य के कारण अपने प्रतिद्वन्दियों के लिये यह सबक सिखाता है कि जिनके भाग्य में पुण्य की सत्ता है, उसका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है। कर्तव्य परायणता एवं परोपकार जीवन का धर्म है। सत्यवादिता एवं सहिष्णुता जीवन का प्राण है। त्याग ही जीवन का व्यसन है एवं कर्मठता मानवीय गुण है। इस समस्त बातों के लिए महाकवि ने इस काव्य में वर्णन करके असहिष्णु मानव के लिए शिक्षा दी है। इस काव्य में ८३८ पद हैं।

इस काव्य को आचार्य ज्ञानसागर जी ने दीक्षा के पूर्व लिखा। ब्रह्मचारी अवस्था में आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था।

11. ऋषभ चरित

जैन दर्शन के अनुसार इस युग में आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव के जीवनवृत्त के आधार पर यह काव्य लिखा है । भगवान आदिनाथ के अतीत एवं वर्तमान भवों का वर्णन इस काव्य में समाविष्ट है । जिनसेनाचार्य द्वारा रचित महापुराण के सारभूत विषयों को पद्य रूप में इस काव्य में 814 पद है । यह काव्य भी महाकवि ज्ञानसागर महाराज ने दीक्षा के पूर्व लिखा था, उस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था ।

12. गुण सुन्दर वृत्तान्त

इस काव्य में शिक्षाप्रद अनेक लघु कथाएँ काव्य रूप में समाविष्ट की गई हैं, जैसे प्रद्युम्न कुमार का जीवन चरित्र, यशोधर की रोमांटिक कथा, सनत कुमार चक्रवर्ती के रूप में अहंकार का दुष्परिणाम तथा द्वारिका के भस्म होने का हृदय-विदारक वर्णन इस काव्य में किया है । कथाओं के प्रस्तुतीकरण के मध्य वर्तमान की ज्वलन्त समस्याओं के निराकरण के लिए शिक्षाप्रद पद्य भी प्रस्तुत किये गये हैं । इस काव्य को 595 पदों में लिखा गया है । यह काव्य भी महाकवि आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने दीक्षा के पूर्व लिखा था, उस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था ।

13. पवित्र मानव जीवन

इस काव्य में गृहस्थ को आजीविका किस प्रकार करना चाहिए इसका वर्णन किया गया है जैसे कृषि करना, पशुपालन, पारिवारिक व्यवस्था, समाज सुधार स्त्री का पारिवारिक दायित्व आदि प्रमुख पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं का निदान इस काव्य में किया गया है । यदि गृहस्थ इस काव्य के अनुसार अपने को व्यवस्थित कर ले तो कीचड़ में भी कमल खिल सकता है । गृहस्थी रूपी कीचड़ में भी व्यक्ति काव्य कथित सिद्धान्तों को अपनाकर अपने जीवन को स्वर्णमय बना सकता है । इस काव्य में 193 पद हैं । यह काव्य आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज ने क्षुल्लक अवस्था में लिखा था । उस समय आपका नाम क्षु. ज्ञान भूषण जी महाराज था ।

14. कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन

इस ग्रन्थ में सम्प्रदाय निरपेक्ष जीवन को शिक्षा देने वाली तर्कयुक्त कथायें दी गई है । शिक्षाप्रद विषय वस्तु को प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने छोटी छोटी

कहानियों का आलम्बन लिया है । प्रारम्भिक नैतिक जीवन बनाने के लिए यह पुस्तक पठनीय है । प्रवचन कर्ताओं को यह पुस्तक प्रवचन करने की कला सिखाती है । इस ग्रन्थ को 82 शीर्षकों में विभाजित किया है । एक-एक शीर्षक वर्तमान की ज्वलन्त समस्याओं का निराकरण करता है एवं भगवान महावीर के सिद्धान्तों की स्थापना करता है । इस पुस्तक का अंग्रेजी, कन्नड़, मराठी भाषा में भी अनुवाद किया जा रहा है । यह पुस्तक आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने मुनि अवस्था में लिखी है ।

15. सचित्त विवेचन

जिह्वा इन्द्रिय की चाटुकारिता के वशीभूत होकर, सचित्त वनस्पति खाने वालों को यह पुस्तक सावधान करती है कि थोड़े से रसना इन्द्रिय के स्वाद के कारण वनस्पति एवं जल आदि का सचित्त भक्षण नहीं करना चाहिए अर्थात अचित्त करके ही ग्रहण करना चाहिये । इस पुस्तक में वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी दृष्टिगोचर होता है क्योंकि आज विज्ञान कह रहा है कि जल एवं वनस्पति आदि को उबाल कर काम में लेना चाहिये । बिना गर्म की हुई वस्तुओं को खाने से बैक्टीरिया अथवा वायरस जैसी बीमारियाँ हो सकती हैं । अर्थात् यह पुस्तक जहाँ दया धर्म की रक्षा का उपदेश देती है तो दूसरी तरफ अपने स्वास्थ्य लाभ का भी संकेत करती है । यह पुस्तक लगभग 54 पृष्ठीय गद्य रूप में प्रकाशित है । यह पुस्तक महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने क्षुल्लक अवस्था में लिखी थी, उस समय आपका नाम क्षुल्लक ज्ञान भूषण था ।

16. सचित्त विचार

इस पुस्तक में सचित्त विवेचन का ही विषय है । लेखक ने सचित्त विवेचन की प्रस्तावना में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है कि मैंने सबसे पहले सचित्त नामक निबन्ध लिखा था । लोगों ने इस निबन्ध को विस्तार से लिखने को कहा। अत: सचित्त विचार की विषय वस्तु को विस्तार करके सचित्त विवेचन लिखा अर्थात् सचित्त विवेचन के पूर्व सचित्त विचार नामक पुस्तक लिखी गई है । सचित्त विचार बाईस पृष्ठीय पुस्तिका के रूप में प्रकाशित है । यह पुस्तक आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने दीक्षा के पूर्व लिखी थी, उस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था ।

17. स्वामी कुन्द-कुन्द और सनातन जैन धर्म

जैन दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी के जीवन वृत्त को लेकर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है। आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी के जीवन सम्बन्धित ऐतिहासिक गवाक्ष एवं उनके मूल सिद्धान्तों के भावों को युक्ति युक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति, वस्त्र एवं स्त्री मुक्ति का निषेध भी इस पुस्तक में किया गया है। आचार्य कुन्द-कुन्द के काल का अवधारण करने वाले शिलालेखों का भी उल्लेख इसमें किया गया है। आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी को शिलालेखों के प्रमाणों के साथ षट्खण्डागमकार, पुष्पदंत, भूतबलि से पूर्व इस पुस्तक में सिद्ध करके विद्वानों की बुद्धि का श्रम करने के लिए प्रेरित किया है। दिगम्बर धर्म में समय समय पर आये संघ भेदों के वर्णन भी इस पुस्तक में हैं। अस्सी पृष्ठीय यह पुस्तक इतिहास के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। यह पुस्तक महाकवि आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने दीक्षा के पूर्व लिखी थी, उस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था।

18. सरल जैन विवाह विधि

विवाह एक सामाजिक रीति रिवाज है, लेकिन लोगों ने इसे धार्मिक रीति रिवाज मान लिया है अर्थात वैवाहिक क्रियाओं का सम्बन्ध धर्म से जोड़ने लगे हैं। अनेक मिथ्या आडम्बरों का निषेध करते हुए गृहीत मिथ्यात्व से बचाने वाली यह पुस्तक जैन दर्शनानुसार विवाह विधि को सम्पन्न कर एक आदर्श गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए मांगलिक विषय प्रस्तुत करती है। विवाह के समय जो मिथ्या कुदेवों को पूजते हैं एवं उनको आह्वान करते हैं तथा बलि आदि मिथ्या क्रियायें करते हैं उनका इस पुस्तक में निषेध किया गया है एवं सच्चे देव, शास्त्र गुरु की साक्षीपूर्वक दाम्पत्य जीवन स्वीकार करने के लिए प्रेरणा दी है गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने वाले वर-वधू के लिए इस पुस्तक के अनुसार विवाह विधि स्वीकार करना चाहिए। पचपन पृष्ठीय गद्य-पद्य हिन्दी, संस्कृत, मंत्रोच्चार आदि से समन्वित यह पुस्तक है। यह पुस्तक भी महाकवि ज्ञानसागर महाराज ने दीक्षा के पूर्व लिखी थी, उस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था।

19. इतिहास के पन्ने

समस्त ऐतिहासिक अवधारणाओं को पलटने यह ऐतिहासिक लघु निबन्ध इतिहास में नया अध्याय जोड़ता है। शिलालेखों की प्रमाणता सहित इस लेख

में जैन दर्शन के प्रसिद्ध आचार्यों का ऐतिहासिक दृष्टिकोण समाविष्ट किया गया है। इस निबन्ध को लघु पुस्तिका का रूप देकर प्रकाशित किया गया है। यह पुस्तक भी महाकवि ज्ञान सागर जी महाराज ने दीक्षा से पूर्व लिखी थी।

20. ऋषि कैसा होता है

यह एक स्वतन्त्र अप्रकाशित काव्य है। वैसे इसमें साधुचर्या का वर्णन है। मुझे लगता है कि लेखक ने पहले ऋषि कैसे होता है इस पर लेखनी चलाने का प्रयत्न किया होगा फिर बाद में यही विचार मुनिमनोरञ्जनाशीति के रूप में परिवर्तित हो गए होंगे। इसलिए इसे गौण करके मुनिमनोरञ्जनाशीति के रूप में लिख दिया हो, अतः इस काव्य के समस्त श्लोक, मुनिमनोरञ्जनाशीति काव्य में संयुक्त रूप से प्रकाशित कर दिये गये हैं।

टीका-ग्रन्थ

21. प्रवचनसार

आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी द्वारा अध्यात्म त्रिवेणी में यह दूसरे नम्बर का ग्रन्थ माना जाता है। यह ग्रन्थ सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान एवं सम्यग् चारित्र रूप तीन अधिकारों में विभक्त है, श्रमणों के लिए तो यह मूल प्राण है। इस ग्रन्थ पर आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी, आचार्य जयसेन स्वामी की संस्कृत टीकायें उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ पर कई विद्वानों की हिन्दी टीकायें भी हैं, लेकिन वह टीकायें निष्पक्ष नहीं कही जा सकती हैं। आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने कुछ मुख्य मुख्य गाथाओं को लेकर आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी के वास्तविक हृदय को उजागर करने का प्रयास किया है। अध्यात्म प्रेमी बन्धुओं के लिए यह ग्रन्थ विशेष रूप से पठनीय है। यह ग्रन्थ संस्कृत छाया एवं हिन्दी टीका सहित सजिल्द उपलब्ध है। यह टीका ग्रन्थ महाकवि ज्ञानसागर महाराज ने दीक्षा के पूर्व लिखा था, उस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था।

22. समयसार

आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी दिगम्बर परम्परा के आध्यात्मिक रसिक मुख्य आचार्य माने जाते हैं। भगवान महावीर के गणधर गौतम के बाद कुन्द कुन्द स्वामी का नाम मंगलाचरण के रूप में लिया जाता है। आपके द्वारा बनायी गयी आम्नाय जिनेन्द्र देव द्वारा कथित आम्नाय मानी जाती है। इसीलिये दिगम्बर आम्नाय में

वर्तमान में कोई भी कार्य किया जाता है तो कुन्द-कुन्द आम्नाय द्वारा किया जाता है, ऐसा कहा जाता है ।

कुन्द-कुन्द स्वामी ने इतिहासकारों के अनुसार चौरासी पाहुड़ लिखे हैं, लेकिन सम्पूर्ण पाहुड़ वर्तमान में उपलब्ध नहीं होते हैं । जितने भी पाहुड़ उपलब्ध होते हैं, उनमें से तीन ग्रन्थ (पाहुड़) मुख्य माने जाते हैं । इन तीन में से भी समय-सार ग्रन्थ, ग्रन्थराज माना जाता है । इस ग्रन्थ पर आचार्य अमृतचन्द्र-सूरि ने आत्मख्याति नाम की दण्डान्वय टीका लिखी है एवं जयसेन स्वामी ने तात्पर्य वृत्ति नाम की खण्डान्वय टीका लिखी है । इन टीकाओं को लेकर कुन्द-कुन्द स्वामी की गाथाओं पर अनेक विद्वानों ने हिन्दी की टीका भी लिखी है लेकिन विद्वान् आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी के हृदय को प्रकट नहीं कर सके । टीकाओं में विशेषार्थों के माध्यम से अपनी भावनाओं को हिन्दी टीकाकारों ने समाविष्ट किया है । इन हिन्दी टीकाकारों ने आचार्य अमृतचन्द्र सूरि एवं जयसेन स्वामी की भावनाओं की भी उपेक्षा की है ।

आचार्य ज्ञानसागर महाराज एक क्रान्तिकारी निष्पक्ष लेखक थे । एक दार्शनिक व्यक्ति स्वभावानुसार मूल आचार्यों की भावनाओं की उपेक्षा कैसे बर्दाश्त कर सकता है । परिणामस्वरूप जयसेन स्वामी, जो कि वस्तुतः आगम एवम् कुन्द कुन्द स्वामी की भावनाओं को पूर्णतः प्रदर्शित करते हैं । यदि आचार्य जयसेन न होते तो कुन्द कुन्द स्वामी का समयसार है, यह भी ज्ञात नहीं होते अर्थात् आचार्य कुन्द कुन्द के नाम को उजागर करने वाले जयसेन स्वामी द्वारा लिखित तात्पर्य वृत्ति नाम की टीका को आधार बनाकर समयसार की हिन्दी टीका आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने लिखी है । इस टीका में भी विशेषार्थ दिए गए हैं जो कि तार्किक आगमिक एवम् कुन्द-कुन्द स्वामी के हृदय को प्रकट करने वाले हैं ।

स्वाध्याय बन्धुओं को जिन्हें संस्कृत नहीं आती है, उन्हें यह हिन्दी टीका का स्वाध्याय करके अपनी मिथ्या धारणाओं का विमोचन कर वास्तविक तत्त्व निर्णय कर लेना चाहिए । विद्वानों को निष्पक्ष रूप से एवम् पूर्वाग्रहों का त्याग करके इस टीका का आलोडन करना चाहिए । यह लगभग तीन सौ नब्बे पृष्ठों में सजिल्द प्रकाशित है । इस ग्रन्थ में चार सौ उन्तालिस गाथायें है । जिन पर जयसेन स्वामी द्वारा रचित संस्कृत टीका हैं । मूल गाथाओं का पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर जी एवम् गद्य की हिन्दी टीका आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा लिखित है । इस ग्रन्थ के कई प्रकाशन पूर्व में भी भिन्न-भिन्न स्थानों से प्रकाशित किये जा चुके हैं । यह

टीका ग्रन्थ महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने मुनि अवस्था में लिखा था ।

23. तत्त्वार्थ सूत्र

जैन दर्शन में संस्कृत सूत्र रूप यह ग्रन्थ प्रथम माना जाता है । सारे भारतवर्ष में दशलक्षण पर्व में इसका वाचन होता है । स्वाध्याय प्रेमियों पर इस ग्रन्थ ने बहुत बड़ा उपकार किया है । तत्त्वार्थ सूत्र में कथित विषय वस्तु को अन्य जैनागम, षट्खण्डागम् श्लोक वार्तिक, राजवार्तिक, गोम्मटसार आदि अनेक ग्रन्थों को अपनी टीका में उद्धृत किया है । इनकी हिन्दी टीका पढ़ने से अनेक ग्रन्थों की विषय सामग्री सहज ही उपलब्ध हो जाती है । यह टीका ग्रन्थ महाकवि आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने क्षुल्लक अवस्था में लिखी थी । उस समय आपका नाम क्षु. ज्ञान भूषण था ।

24. मानव धर्म

जैन दर्शन के प्रसिद्ध उद्भट तार्किक आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोकों पर मानव धर्म नाम से हिन्दी टीका लिखी गई है । आचार्य समन्तभद्र स्वामी के श्लोकों का अर्थ तो प्रकट किया ही है, साथ ही उस अर्थ के साथ वर्तमान की सामाजिक समस्याओं के निराकरण हेतु छोटे छोटे उदाहरण देकर समन्तभद्र आचार्य के हृदय को उजागर किया है । इस पुस्तक को पढ़ते समय ऐसा लगता है जैसे लेखक समन्तभद्र स्वामी के श्लोकों का प्रवचन कर रहा हो अर्थात् प्रवचन शैली में यह पुस्तक लिखी गई है । यह पुस्तक प्रत्येक मानव के लिए पठनीय है । इसके कई संस्करण विभिन्न स्थानों से निकल चुके हैं । इसका कन्नड़, मराठी एवं अंग्रेजी अनुवाद भी किया जा रहा है । रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 150 श्लोकों पर हिन्दी व्याख्या के रूप में प्रकाशित है । यह टीका ग्रन्थ महाकवि ज्ञानसागर महाराज ने दीक्षा के पूर्व लिखा था, उस समय आपका नाम ब्रह्मचारी पंडित भूरामल शास्त्री था ।

25. विवेकोदय

आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी रचित प्रसिद्ध समयसार की गाथाओं पर हिन्दी गद्य-पद्यात्मक व्याख्या लेखक द्वारा इस ग्रन्थ में की गई है । संक्षिप्त रूप में समयसार के हृदय को समझाने वाला यह विवेकोदय नाम का ग्रन्थ लगभग एक सौ साठ

पृष्ठों में प्रकाशित है। यह ग्रन्थ महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने क्षुल्लक अवस्था में लिखा था, उस समय आपका नाम क्षु. ज्ञान भूषण था।

26. देवागम स्तोत्र

आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित यह देवागमस्तोत्र में जिसे इतिहासवेत्ताओं द्वारा गन्धहस्ती महाकाव्य का मंगलाचरण कहा जाता है, समन्तभद्र स्वामी ने भगवान की भी परीक्षा करके उनके गुणों की महिमा का गुणानुवाद किया है। इस देवागम् स्तोत्र का ब्रह्मचारी पं. भूरामल शास्त्री ने पद्यानुवाद किया था। दुर्भाग्य से यह ना तो अभी तक कहीं प्रकाशित हुआ है और ना ही इसकी मूल पाण्डुलिपि अभी तक उपलब्ध हो पाई है, अन्य साक्ष्यों से पद्यानुवादों की सूचना मिलती है।

27. नियमसार

आचार्य कुन्द कुन्द द्वारा रचित समयसार प्रवचन सार पंचास्तिकाय ग्रन्थों को कठिन ग्रन्थियों को सुलझाने वाला कुन्द कुन्द स्वामी द्वारा ही रचित यह नियमसार ग्रन्थ है। इसका पद्यानुवाद भी ब्रह्मचारी पं. भूरामल शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागर जी) द्वारा पद्यानुवाद किया गया। यह भी दुर्भाग्य से अभी तक अप्राप्त है।

28. अष्ट पाहुड़

आचार्य कुन्द कुन्द द्वारा रचित सम्यक् सन्मार्ग की उद्घोषणा करने वाला यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर भी ब्रह्मचारी पं. भूरामल शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागर जी) द्वारा पद्यानुवाद किया गया। यह भी दुर्भाग्य से अभी तक अप्राप्त है।

29. शान्तिनाथ पूजन विधान

पूर्व आचार्यो द्वारा रचित विधान का पं. भूरामल शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागर जी) ने सम्पादन किया है। जैन दर्शनानुसार प्रत्येक अच्छे कार्य एवम् विघ्न निवारण हेतु शान्ति विधान करने की परम्परा है महाकवि द्वारा सम्पादित इस विधान में अनेक मिथ्या कुदेवों की आराधना का कोई स्थान नहीं दिया है। प्रतिष्ठाचार्य एवं शांति विधान करने वालों के लिए इस पुस्तक से शान्ति विधान करना चाहिए। यह पुस्तक शास्त्राकार रूप में प्रकाशित है।

उपरोक्त 29 ग्रन्थ आचार्य ज्ञानसागर जी की साहित्य साधना है। इस साहित्य साधना को देखकर तथा समकालीन लोगों से जो जनश्रुति सुनने में आती हैं कि महाकवि ने इन 29 ग्रन्थों के अलावा और भी ग्रंथ लिखे हैं, जो यत्र तत्र मन्दिरों

के शास्त्र भण्डारों में पाण्डुलिपि के रूप में पड़े रह सकते हैं, क्योंकि ऐसा सुनने में आता है कि महाकवि जिस प्रान्त में जिस नगर में ग्रन्थ लिखते थे उस ग्रन्थ को पूर्ण करके उसी नगर के जैन मन्दिर के भण्डार में अथवा वहाँ के प्रतिष्ठित व्यक्ति को दे देते थे। जहाँ-जहाँ इनका विहार हुआ है, वहाँ-वहाँ खोज की जा रही है। सम्भव है, इन ग्रन्थों के अलावा कोई नये ग्रन्थ इतिहास जगत को प्राप्त हो जायें। इन ग्रन्थों के ऊपर अभी तक कई लोग पी. एच. डी. कर चुके हैं, जैसे :

(1) डॉ. हरिनारायण दीक्षित के निर्देशन में डॉ. किरण टण्डन, प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल (उत्तर प्रदेश) से "महाकवि ज्ञान सागर के काव्यों का एक अध्ययन" नाम से पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की है। जिनका प्रकाशन ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 5825 चन्द्रावल रोड़, जवाहर गंज, दिल्ली 7 से प्रकाशित हुआ है।

(2) डॉ. कैलाशपति पाण्डेय, गोरखपुर विश्वविद्यालय से "जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन" शीर्षक से डॉ. दशरथ के निर्देशन में पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की है। प्रकाशन आचार्य ज्ञान सागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, सरस्वती भवन, सेठजी की नसियाँ, ब्यावर (राज.) में किया गया है।

(3) डॉ. रतनचन्द जी जैन, भोपाल के निर्देशन में डॉ. आराधना जैन, बरकतुल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल से "जयोदय महाकाव्य का शैली वैज्ञानिक अनुशीलन", इसका प्रकाशन मुनि संघ वैय्यावृत्ति समिति, स्टेशन रोड़, गंजबासोदा (विदिशा, मध्यप्रदेश) में हुआ है।

(4) डॉ. शिवा श्रीवास ने डॉ. सर हरि सिंह गौड़ विश्वविद्यालय, सागर से श्रीमति कुसुम भुरिया के निर्देशन में चम्पू काव्य पर शोध ग्रन्थ लिखा है, जिसमें दयोदय चम्पू पर विशद प्रकाश डाला है।

(5) वर्तमान में श्रीमती अलका जैन, डॉ. रतनचन्द जी के निर्देशन में आचार्य ज्ञानसागर जी के शान्तरस परक तत्त्वज्ञान के विषय पर पी. एच. डी. कर रही हैं।

(6) दयानन्द ओझा "जयोदय महाकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन" विषय ग्रहण कर डॉ. सागरमल जैन एवं डॉ. जे. एस. एल. त्रिपाठी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के निर्देशन में पी. एच. डी. कर रहे हैं।

(7) डॉ. नरेन्द्र सिंह राजपूत ने "संस्कृत वाङ्मय के विकास में बीसवीं सदी के जैन मनीषियों के योगदन" पर पी. एच. डी. की है, जिसमें ज्ञानसागर के संस्कृत साहित्य को विवेचित किया गया है। प्रकाशन आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, सरस्वती भवन, सेठजी की नसियाँ ब्यावर (राज.) में किया गया है।

इस प्रकार और भी अनेक शोध प्रबन्ध किये जा सकते हैं, ऐसा विद्वानों का मत है। महाकवि के एक-एक संस्कृत काव्य को लेकर विगत एक साल से अखिल भारतवर्षीय विद्वत् संगोष्ठी की जा रही हैं, जिनमें सैकड़ों विद्वान एक ही काव्य पर भिन्न भिन्न विषयों पर वाचन कर ज्ञानसागर के साहित्य सागर से रत्नों को निकाल रहे हैं।

प्रथम गोष्ठी अतिशय क्षेत्र साँगानेर, जयपुर में 9 जून से 11 जून, 1994 में हुई।

द्वितीय संगोष्ठी अजमेर नगर में वीरोदय महाकाव्य पर 13 से 15 अक्टूबर 1994 में हुई।

तृतीय संगोष्ठी ब्यावर (राजस्थान) में 22 से 24 जनवरी, 1995 में हुई।

चतुर्थ संगोष्ठी, 1995 चातुर्मास में किशनगढ़ में हुई, जिसमें लगभग 80 जैन अजैन अन्तराष्ट्रीय विद्वानों ने भाग लिया। यह गोष्ठी जयोदय महाकाव्य पर थी, सभी विद्वानों ने एकमत से इस महाकाव्य को इस युग का सर्वोच्च महाकाव्य मानकर साहित्य जगत के उच्च सिंहासन पर विराजमान किया है। सभी विद्वानों ने इसे बृहत् त्रयी (नैषधीय चरित्र, शिशुपाल वध एवं किरातार्जुनीयम्) के समकक्ष मानकर बृहत्रयी के नाम को बृहच्चतुष्टयी के रूप में संज्ञित करके साहित्य जगत को गौरान्वित किया है। मैंने अपने कानों से विद्वानों के लेख इन संगोष्ठियों में सुने हैं। बहुत ही प्रशंसनीय एवं श्रमसाध्य लेख विद्वानों ने लिखे हैं। गोष्ठियों के दौरान विद्वानों का मत था कि ज्ञान सागर का समग्र साहित्य एक स्थान से प्रकाशित होना चाहिए। सो वह 1994 के चातुर्मास में अजमेर के दिगम्बर जैन समाज के द्वारा प्रकाशित किये जा चुके है। दूसरा निर्णय लिया गया था कि ज्ञानसागर के साहित्य पर पाठ्यक्रम तैयार किया जाये, यह कार्य विद्वानों को सौंप दिया गया है। तीसरा निर्णय लिया गया था कि आचार्य ज्ञानसागर संस्कृत शब्द कोष तैयार किया जाये, सो यह कार्य भी विद्वानों को सौंप दिया गया है। चौथा निर्णय लिया

गया था कि आचार्य ज्ञानसागर के साहित्य पर पृथक्-पृथक् विद्वानों से पृथक-पृथक विषयों पर लगभग तीन-तीन सौ पेज के महा-निबन्ध लिखाये जायें, जिससे शोध प्रबन्ध करने वालों को सुविधा पड़ सके। यह कार्य लगभग 50 विद्वानों को सौंपा गया था, जिसमें से 40 विद्वानों ने महा-निबन्ध लिखने की स्वीकृति प्रदान कर दी है।

पाँचवा निर्णय लिया गया है कि इन समस्त कार्यों को कराने हेतु एक निश्चित स्थान पर किसी योग्य विद्वान के निर्देशन में एक संस्था की स्थापना होनी चाहिए। ब्यावर संगोष्ठी के समय पर ब्यावर में डॉ. रमेशचन्द बिजनौर एवं डॉ. अरुण कुमार शास्त्री के संयोजकत्व में आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र की स्थापना की गई। संस्था का मुख्य कार्य आचार्य ज्ञानसागर से सम्बन्धित निबंध एवं शोध ग्रन्थों का प्रकाशन करना है। साथ ही आचार्य ज्ञान सागर महाराज के साहित्य पर शोध करने वाले छात्रों को निर्देशकों की स्वीकृति पर पाँच सौ रुपये प्रतिमाह शोध छात्रवृत्ति प्रदान करना। इस प्रकार और भी अनेक निर्णय गोष्ठियों में लिए गए हैं, जो पृथक् पृथक् स्मारिकाओं में प्रकाशित किये जा चुके हैं। सम्पूर्ण गोष्ठियों में वांचे गये सभी लेख प्रकाशित किये जा चुके हैं, शोधार्थी केन्द्र से सम्पर्क कर प्राप्त कर सकते हैं।

बीसवीं सदी के इस महान् साहित्य साधक की साहित्य साधना का हमें रसास्वादन करना है यही इस साधक के प्रति सच्ची व अनूठी श्रद्धांजलि होगी। साहित्य जगत् के इस उपकारी साहित्य साधक का साहित्य प्रेमी बुद्धि में उच्चासन प्रदान करें, यही कृतज्ञता होगी।

"कृतमुपकारम् न विस्मरन्ति साधवा"

अर्थात वर्तमान विद्वान् महाकवि आचार्य ज्ञानसागर द्वारा साहित्य जगत् पर किये गये उपकार को न भूलें, यही मेरी भावना है।

॥ इति शुभम् ॥

प्रकाशकीय

चिरंतन काल से भारत मानव समाज के लिये मूल्यवान विचारों की खान बना हुआ है। इस भूमि से प्रकट आत्मविद्या एवं तत्व ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व का नव उदात्त दृष्टि प्रदान कर उसे पतनोमुखी होने से बचाया है । इस देश से एक के बाद एक प्राणवान प्रवाह प्रकट होते रहे । इस प्रणावान बहुलमून्य प्रवाहों की गति की अविरलता में जैनाचार्यो का महान योगदान रहा है । उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विश्व की आदिम सभ्यता और संस्कृति के जानने के उपक्रम में प्राचीन भारतीय साहित्य की व्यापक खोजबीन एवं गहन अध्ययनादि कार्य सम्पादिक किये गये । बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राच्यवाङ्मय की शोध, खोज व अध्ययन अनुशीलनादि में अनेक जैन-अजैन विद्वान भी अग्रणी हुए । फलत: इस शताब्दी के मध्य तक जैनाचार्य विरचित अनेक अंधकारगर्त्तादिक मूल्यवान ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये । इन महनीय ग्रन्थों में मानव जीवन की युगीन समस्याओं को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य है । विद्वानों के शोध-अनुसंधान अनुशीलन कार्यों को प्रकाश में लाने हेतु अनेक साहित्यिक संस्थाए उदित भी हुई, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में साहित्य सागर अवगाहनरत अनेक विद्ववानों द्वारा नवसाहित्य भी सृजित हुआ है, किन्तु जैनाचार्य विरचित विपुल साहित्य के सकल ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ/अनुशीलनार्थ उक्त प्रयास पर्याप्त नहीं हैं । सकल जैन वाङ्मय के अधिकांश ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित हैं, जो प्रकाशित भी हो तो शोधार्थियों को बहुपरिश्रमोपरान्त भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं । और भी अनेक बाधायें/समस्याऐं जैन ग्रन्थों के शोध अनुसन्धान-प्रकाशन के मार्ग में है, अत: समस्याओं के समाधान के साथ-साथ विविध संस्थाओं उपक्रमों के माध्यम से समेकित प्रयासों की आवश्यकता एक लम्बे समय से विद्वानों द्वारा महसूस की जा रही थी ।

राजस्थान प्रान्त के महाकवि ब्र भूरामल शास्त्री (आ ज्ञानसागर महाराज) की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली रही है । महाकवि ने चार-चार महाकाव्यों के प्रणयन के साथ हिन्दी संस्कृत में जैन दर्शन सिद्धान्त एवं अध्यात्म के लगभग 24 ग्रन्थों की रचना करके अवरुद्ध जैन साहित्य-भागीरथी के प्रवाह को प्रवर्तित किया । यह एक विचित्र संयोग कहा जाना चाहिये कि रससिद्ध कवि की काव्यरस धारा का प्रवाह राजस्थान की मरुधरा से हुआ । इसी राजस्थान के भाग्य से श्रमण परम्परोन्नायक सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य जिनवाणी के यर्थाथ उद्घोषक, अनेक ऐतिहासिक उपक्रमों के समर्थ सूत्रधार, अध्यात्मयोगी युवामनीषी पू. मुनिपुंगव सुधासागर जी महाराज का यहाँ पदार्पण हुआ । राजस्थान की धरा पर राजस्थान के अमर साहित्यकार के समग्रकृतित्व पर एक अखिल भारतीय विद्वत/संगोष्ठी सागानेर में दिनांक 9 जून से 11 जून, 1994 तथा अजमेर नगर में महाकवि की महनीय कृति "वीरोदय" महाकाव्य पर अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13 से 15 अक्टूबर 1994 तक आयौजित हुई व इसी सुअवसर पर दि. जैन समाज, अजमेर ने आचार्य ज्ञानसागर के सम्पूर्ण 24 ग्रन्थ मुनिश्री के 1994 के चातुर्मास के दौरान प्रकाशित कर/लोकार्पण कर अभूतपूर्व

ऐतिहासिक काम करके श्रुत की महत् प्रभावना की। पू. मुनि श्री सान्निध्य में आयोजित इन संगोष्ठियों में महाकवि के कृतित्व पर अनुशीलनात्मक-आलोचनात्मक, शोधपत्रों के वाचन सहित विद्वानों द्वारा जैन साहित्य के शोध क्षेत्र में आगत अनेक समस्याओं पर चिन्ता व्यक्त की गई तथा शोध छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने, शोधार्थियों को शोध विषय सामग्री उपलब्ध कराने, ज्ञानसागर वाड्मय सहित सकल जैन विद्या पर प्रख्यात अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लेखन प्रकाशनादि के विद्वानों द्वारा प्रस्ताव आये। इसके अनन्तर मास 22 से 24 जनवरी तक 1995 में ब्यावर (राज.) में मुनिश्री के संघ सान्निध्य में आयोजित "आचार्य ज्ञानसागर राष्ट्रीय संगोष्ठी" में पूर्व प्रस्तावों के क्रियान्वन की जोरदार मांग की गई तथा राजस्थान के अमर साहित्यकार, सिद्धसारस्वत महाकवि ब्र. भूरामल जी की स्टेच्यू स्थापना पर भी बल दिया गया, विद्वत् गोष्ठी में उक्त कार्यों के संयोजनार्थ डॉ. रमेशचन्द जैन बिजनौर और मुझे संयोजक चुना गया। मुनिश्री के आशीष से ब्यावर नगर के अनेक उदार दातारों ने उक्त कार्यों हेतु मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान करने के भाव व्यक्त किये।

पू. मुनिश्री के मंगल आशिष से दिनांक 18.3.95 को त्रैलोक्य महामण्डल विधान के शुभप्रसंग पर सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में जयोदय महाकाव्य (2 खण्डों में) के प्रकाशन सौजन्य प्रदाता आर. के. मार्बल्स किशनगढ़ के रतनलाल कंवरीलाल पाटनी श्री अशोक कुमार जी एवं जिला प्रमुख श्रीमान् पुखराज पहाड़िया, पीसांगन के करकमलों द्वारा इस संस्था का श्रीगणेश आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के नाम से किया गया।

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के माध्यम से जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के साथ जैन संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जावेगा एवं आचार्य ज्ञानसागर वाड्मय का व्यापक मूल्यांकन समीक्षा अनुशीलनादि कार्य कराये जायेंगे। केन्द्र द्वारा जैन विद्या पर शोध करने वाले शोधार्थी छात्र हेतु 10 छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की जा रही है।

केन्द्र का अर्थ प्रबन्ध समाज के उदार दातारों के सहयोग से किया जा रहा है। केन्द्र का कार्यालय सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में प्रारम्भ किया जा चुका है। सम्प्रति 10 विद्वानों की विविध विषयों पर शोध निबन्ध लिखने हेतु प्रस्ताव भेजे गये, प्रसन्नता का विषय है 25 विद्वान अपनी स्वीकृति प्रदान कर चुके हैं तथा केन्द्र ने स्थापना के प्रथम मास में ही निम्न पुस्तकें प्रकाशित की -

प्रथम पुष्प - इतिहास के पन्ने - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
द्वितीय पुष्प - हित सम्पादक - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
तृतीय पुष्प - तीर्थ प्रवर्तक - मुनिश्री सुधासागरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन
चतुर्थ पुष्प - लघुत्रयी मन्थन - ब्यावर स्मारिका
पंचम पुष्प - अञ्जना पवनंजयनाटकम् - डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर

षष्टम पुष्प - जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप - डॉ. नरेन्द्रकुमार द्वारा लिखित
सप्तम पुष्प - बौद्ध दर्शन पर शास्त्रीय समिक्षा - डॉ रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर
अष्टम पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा - डॉ श्रीमति विजयलक्ष्मी जैन
नवम पुष्प - आदि ब्रह्मा ऋषभदेव - बैरिस्टर चम्पतराय जैन
दशम पुष्प - मानव धर्म - पं भूरामलजी शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागरजी)
एकादशं पुष्प - नीतिवाक्यामृत - श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित
द्वादशम् पुष्प - जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन - डॉ कैलाशपति पाण्डेय
त्रयोदशम् पुष्प - अनेकान्त एवं स्याद्वाद विमर्श - डॉ रमेशचन्द जैन, बिजनौर
चर्तुदशम् पुष्प - Humanity A Religion - मानव धर्म का अंग्रेजी अनुवाद
पञ्चदशं पुष्प - जयोदय महाकाव्य का शैली वैज्ञानिक अध्ययन - यह पुस्तक महाकवि आचार्य ज्ञानसागर द्वारा रचित प्रसिद्ध महाकाव्य जयोदय पर शोध ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें जयोदय महाकाव्य की शैली का बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुतीकरण करके जयोदय महाकाव्य के हृदय को उद्घाटित कर साहित्य जगत के लिए एक महत्वपूर्ण शोध विषय उपस्थित किया गया है। डॉ आराधना जैन का परिश्रम एवं बुद्धि कौशल प्रशंसनीय है तथा इस शोध के निर्देशक डॉ रतनचन्द जी भोपाल, भी अनुशंसा के पात्र हैं जिन्होंने अपने निर्देशन में विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न छात्रा को जयोदय महाकाव्य के गूढ़ रहस्यों को निर्देशित करके इस शोध कृति को साहित्य जगत के लिये समर्पित कराया है।

इसका प्रथम प्रकाशन मुनि संघ सेवा समिति, गंज बासौदा (विदिशा) मध्यप्रदेश द्वारा प्रकाशित किया गया था। वर्तमान में इसकी प्रतिया अनुपलब्ध होने के कारण हमारा केन्द्र इसको पुन: प्रकाशित करके साहित्य पिपासुओं के कर कमलों में समर्पित करने का विचार कर प्रकाशित कर रहा है। पाठक इसे पढ़कर ज्ञानसागर महाराज को साहित्य के रहस्यों को हस्तगत कर सकेंगे, ऐसी मेरी भावना हैं।

पं. अरूणकुमार शास्त्री
ब्यावर (राज.)

बृहद्-चतुष्टयी

जयोदय महाकाव्य राष्ट्रिय विद्वत्संगोष्ठी (दिनांक 29.9.95 से 3.10.95) मदनगंज-किशनगढ़ में देश के विविध भागों से समागत हम सब साहित्याध्येता महाकाव्य के अनुशीलन निष्कर्षों पर सामूहित काव्यशास्त्रीय विचारोपरान्त वाणीभूषण महाकवि भूरामल शास्त्री द्वारा प्रणीत जयोदय महाकाव्य को संस्कृत साहित्येतिहास में बृहत्त्रयी संज्ञित शिशुपालवध, किरातार्जुनीय एवं नैषधीयचरित महाकाव्य के समकक्ष पाते हैं। अत: हम सब बृहत्त्रयी संज्ञित तीनों महाकाव्यों के साथ जयोदय महाकाव्य को सम्मिलित कर बृहच्चतुष्टयी के अभिधान से संज्ञित करते हैं।

हम विद्वज्जगत् मे यह अनुरोध करते हैं कि उक्त चारों महाकाव्यों को बृहच्चतुष्टयी संज्ञा से अभिहित करेंगे ।

1 डॉ प्रेमसुमन जैन, उदयपुर
2 डॉ नलिन के शास्त्री बोधगया
3 डॉ अजितकुमार जैन आगरा
4 डॉ अशोक कुमार जैन लाडनूं
5 डॉ फूलचन्द जैन, वाराणसी
6 डॉ सुरेशचन्द जैन, वाराणसी
7 डॉ दयाचन्द साहित्याचार्य, सागर
8 पं अमृतलाल शास्त्री दमोह
9 श्रीमती चमेली देवी भोपाल
10 डॉ (कु) आराधना जैन, बासौदा
11 डॉ (कु) सुषमा, मुजफ्फरनगर
12 डॉ मुन्नीदेवी जैन, वाराणसी
13 डॉ मनोरमा जैन, वाराणसी
14 डॉ. ज्योति जैन, खतौली
15 डॉ उर्मिला जैन, बड़ौत
16. डॉ सुधा जैन, लाडनूं
17. डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, सनावद
18 डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन, बुरहानपुर
19. डॉ ओम प्रकाश जैन, किशनगढ़
20. डॉ. सरोज जैन, बीना
21 डॉ. प्रेमचन्द जैन नाजीबाबाद
22 प्रो. कमलकुमार जैन, बीना
23 प्रो. अभयकुमार जैन, बीना
24. डॉ. सनतकुमार जैन, जयपुर

1 श्रीमती मालती जैन, ब्यावर 2 डॉ फय्याज अली खाँ किशनगढ़ 3 डॉ कस्तूरचन्द सुमन श्रीमहावीरजी 4 पं ज्ञानचन्द बिल्टीवाला, जयपुर 5 डा नन्दलाल जैन, रीवा 6 डॉ कपूरचन्द जैन खतौली 7 डॉ उदयचन्द जैन उदयपुर 8 डॉ कमलेश जैन, वाराणसी 9 पं विजयकुमार शास्त्री श्रीमहावीरजी 10 डॉ सुपार्श्वकुमार जैन, बड़ौत 11 डॉ श्रीकान्त पाण्डेय बड़ौत 12 डा जयन्तकुमार लाडनूं 13 डॉ नेमिचन्द जैन खुरई 14 डॉ अभयप्रकाश जैन, ग्वालियर

1 डॉ जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर 2 डॉ गौतम पटेल, अमहदाबाद 3 डॉ रमेशचन्द जैन, बिजनौर 4 डॉ शीतलचन्द शास्त्री, जयपुर 5. डॉ श्रीरंजन सूरिदेव, पटना 6 डॉ वशिष्ठ नारायण सिन्हा, वाराणसी 7 पं शिवचरणलाल मैनपुरी 8 डॉ रतनचन्दजैन, भोपाल 9 श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ग्वालियर 10 डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर 11 पं. अरुणकुमार जैन, ब्यावर
12. डॉ. कमलेशकुमार जैन, वाराणसी 13 पं मूलचन्द लुहाड़िया, किशनगढ़ 14. डॉ. सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी
15. डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ, उदयपुर
16. डॉ. प्रकाशचन्द जैन, दिल्ली
17. डा. प्रेमचन्द रांवका, बीकानेर
18 प्रो. विमलकुमार जैन, जयपुर
19. प्रो. विमलकुमार जैन, जयपुर
20. प्राचार्य निहालचन्द जैन, बीना
21. श्रीमती क्रान्ति जैन, लाडनूं

जयोदय महाकाव्य
का
शैलीवैज्ञानिक अध्ययन

: लेखिका :-

डॉ. (कु.) आराधना जैन "स्वतन्त्र"

प्राक्कथन

डॉ. (कु.) आराधना जैन द्वारा मुनिश्री ज्ञानसागर विरचित "जयोदय महाकाव्य के अनुशीलन" का परिचय विद्वत्समाज को प्रस्तुत करते हुये मुझे असीम आनन्द का अनुभव हो रहा है। मुनि श्री जी वास्तव में ज्ञान-सागर है। उन्होंने साहित्य को अनेक दिशाओं से समृद्ध किया है। संस्कृत में भी लिखा है और हिन्दी में भी। गद्य में भी लिखा है और पद्य में भी, एवञ्च चम्पू के रूप में गद्य और पद्य दोनो के सम्मिश्रण मे भी। मौलिक भी लिखा है और अनुवाद भी। इस तरह उन्होंने एक विशाल वाङ्मय की सृष्टि की है। ऐसे महामनीषी के समस्त कृतित्व पर शोध अपेक्षित है, पर जब तक वह नही हो पाता, तब तक एक-एक करके उनकी कृतियों – विशेषकर मौलिक कृतियों—के सौन्दर्य और महत्त्व को उजागर कर विद्वत्समाज का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया जा सकता है। इसी तरह का ही एक कार्य किया है डॉ. (कु.) आराधना जैन ने। उन्होंने उनकी जयोदय नाम की कृति पर शोध किया है, जिस पर उन्हें बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.) ने पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की है। उनके शोधप्रबन्ध मे जयोदय का सर्वाङ्गीण विवेचन है। सर्वप्रथम उन्होंने उसकी कथा का सार प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् जिन-जिन स्रोतों मे वह ली गई है, उसका उल्लेख कर मूलकथा मे परिवर्तन के औचित्य को सिद्ध किया है। तत्पश्चात् काव्य मे उक्तिवक्रता, व्यञ्जना और ध्वनि पर प्रकाश डालते हुए उसके मुहावरों एवञ्च उसकी लोकोक्तियो तथा सूक्तियों का व्याख्या सहित सङ्कलन कर काव्यगत अलङ्कारो और बिम्बों का विवेचन किया है।

मुनिश्री ज्ञानसागर जी ने अपने काव्य मे कथानक की प्रस्तुति इस ढंग से की है कि वह अत्यन्त रोचक एवं हृदयग्राही बन गया है। एक ही पात्र के अनेक पूर्वजन्मों एवञ्च तद्‌गत कार्यकलापों के वर्णन की दुरुहता को उन्होंने सरस काव्यशैली द्वारा दूर करने का सफल प्रयास किया है। जिसमें उन्हे पूर्ण सफलता मिली है।

मुनिश्री का शब्दकोश अत्यन्त समृद्ध है। उस कोश में से कभी-कभी वे ऐसे शब्द भी निकाल लाते हैं जो कदाचित् आज के पाठक के लिये सुपरिचित नही है। यथा तरस् = गुण, रोक = प्रभा, संहिताय = हितमार्ग, ऊषरटक = रेतीला, रसक = चर्मपात्र आदि। उनकी वाणी स्थान-स्थान पर अनुप्रास से सुसज्जित है। कही-कही तो पदशय्या इस प्रकार की है, कि लगता है एक साथ कई घण्टियाँ बजने लगती हों-'अनुभवन्ति भवन्ति भवान्तकाः; नाथवंशिन इवेन्दुवंशिनः, ये कुतोऽपि परपक्षशंसिनः ।' अन्त्यानुप्रास तो मानों उनके लिए काव्यक्रीड़ा है। काव्य के लगभग हर श्लोक को उसने आलोकित किया है।

डॉ. आराधना जैन ने इस श्रेष्ठ कृति को अपने शोध का विषय बनाकर अत्यन्त महनीय कार्य किया है। उन्होंने इस पर भूरि-भूरि परिश्रम किया है। काव्य में प्रयुक्त अर्थान्तर न्यास, लोकोक्तियों ३ ' सूक्तियों के रूप में सुग्राह्य हैं और संस्कृत के विशाल लोकोक्ति और सूक्ति संग्रह को समृद्ध करने में सक्षम हैं।

जहाँ काव्य के अन्य पक्षों पर गहनता से विचार किया गया है वहाँ उस की भाषा पर और अधिक सूक्ष्मता से विवेचन अपेक्षित है। 'न याचितं मानि उपैति जातु' (१/७२) में मानि में ह्रस्व इकार का प्रयोग चिन्त्य है। 'निलिम्पितम्' (१/१०४) में 'शे मुचादीनाम्' (७/१/५९) से श परे रहने पर नुम् विधान के कारण नुम् प्रयोग विचारणीय है। इसी प्रकार 'कुलङ्करः' (२/८) में 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६/६/६७) से खिदन्त के परे रहने पर ही मुम् विधान होने के कारण मुम्प्रयोग समीचीन नहीं लगता। काव्य में इस प्रकार के अनेक स्थल हैं जहाँ वैयाकरणों को सन्देह हो सकता है। हो सकता है यह उनकी अल्पज्ञता के कारण ही हो, पर उनका सन्देह निवारण अपेक्षित है। आशा है डॉ. आराधना जैन अपने शोध ग्रन्थ के आगामी संस्करण में काव्य के इस पक्ष पर भी विचार करेंगी।

फिर भी जितना कार्य उन्होंने किया है, वह श्लाघनीय है। कथानक के स्रोतों का पता लगाकर उससे समीक्ष्य काव्य के कथानक की तुलना, काव्य में प्रयुक्त मुहावरों, लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का अध्ययन, काव्य में उपात्त बिम्बों की समीक्षा, एवञ्च भाषा वक्रता जिसे अलङ्कार शास्त्रियों ने भङ्गीभणिति कहा है, का नाना परिप्रेक्ष्यों में विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता है, जिसके लिये उसकी विदुषी लेखिका साधुवाद की पात्र है।

दीपावली पर्व
१३/११/१९९३

डॉ. सत्यव्रत शास्त्री
आचार्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
पूर्व कुलपति, श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी (उड़ीसा)

पुरोवाक्

'जयोदय' महाकाव्य सुविख्यात दिगम्बर जैनाचार्य पूज्य ज्ञानसागर जी महाराज की अमरकृति है। इसी का अनुशीलन डॉ. कुमारी आराधना जैन ने प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में किया है। इस पर उन्हें भोपाल विश्वविद्यलय से पीएच.डी. की उपाधि भी प्राप्त हो चुकी है। मेरे निर्देशन में लिखा जाने वाला यह पहला शोधप्रबन्ध था। इसलिए यह मेरी योग्यता की भी कसौटी बननेवाला था। इसके अतिरिक्त यह कृति एक ऐसे यशस्वी, श्रद्धेय आचार्य की श्रीलेखनी से प्रसूत हुई थी जो मेरे परम आराध्य आचार्य परमेष्ठी पूज्य विद्यासागर जी के परमपूज्य गुरु थे। इस कारण इस पर अनुसन्धान कराने की मेरी रुचि उत्कर्ष पर पहुँच गयी थी। मैं इस कार्य की सफलता के लिए बड़े उत्साह से प्रयत्नरत था। किन्तु जब मुझे पता चला कि प्रस्तुत महाकाव्य पर माननीय डॉ. के.पी. पाण्डेय पूर्व में ही शोधकार्य कर चुके हैं, तब मैं निराश हो गया। क्योंकि जिस पारम्परिक काव्यशास्त्रीय दृष्टि से जयोदय के अनुशीलन की परिकल्पना मैंने की थी, डॉ. पाण्डेय ने भी उसी दृष्टि से उक्त महाकाव्य का विवेचनात्मक अध्ययन किया था। फलस्वरूप मेरे द्वारा कराया जानेवाला कार्य पिष्टपेषण मात्र था।

संयोगवश मेरी नियुक्ति भोपाल विश्वविद्यालय में रीडर के पद पर हो गयी। वहाँ मैं प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ. हीरालाल जी शुक्ल के सम्पर्क में आया। उनके सान्निध्य में शैलीविज्ञान के अध्ययन और एम०फिल० की कक्षा में उसके अध्यापन का अवसर प्राप्त हुआ। शैलीवैज्ञानिक दृष्टि से साहित्यिक कृतियों पर अनेक लघु शोधप्रबन्ध भी लिखवाये। शैलीविज्ञान साहित्यसमीक्षा का भाषाविज्ञानपरक शास्त्र है। समीक्षा के क्षेत्र में इसका प्रवेश नया-नया ही है। इसके आधार पर की गई साहित्यसमीक्षाएँ मुझे काफी वैज्ञानिक एवं रोचक प्रतीत हुईं। इसलिए मेरे मन में विचार आया कि क्यों न जयोदय महाकाव्य के अनुशीलन को शैलीवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य दिया जाय। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार का शोधकार्य नवीन होगा। मन ने इस विचार का पूरी शक्ति से समर्थन किया और मैंने शोध प्रबन्ध के कलेवर को शैलीवैज्ञानिक आकार दे दिया। यह बहुत सफल और उपयोगी रहा।

'जयोदय' महाकाव्य काव्यकला का उत्कृष्ट निदर्शन है। यह कृति महाकवि ज्ञानसागर जी को भारवि, माघ और श्रीहर्ष की श्रेणी में प्रतिष्ठित करती है। इसमें काव्यभाषा के सभी उपादान अर्थात् अभिव्यक्ति की लाक्षणिक, व्यंजक और बिम्बात्मक पद्धतियों के सभी प्रकार उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ लक्षणात्मक एवं व्यंजनात्मक शब्दनिवेश, शब्दालंकार, अर्थालंकार, विभावादियोजना, मुहावरे, प्रतीक एवं बिम्बविधान इन समस्त शैलीय उपकरणों का जयोदय में सटीक प्रयोग हुआ है, जिससे अभिव्यक्ति हृदयस्पर्शी, भावोद्वेलक, रसात्मक एवं रोचक बन गयी है।

वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुन्तक ने वक्रोक्ति के जितने भेद बतलाये हैं उन सबसे जयोदय की काव्यभाषा बुनी गयी है । वह रूढ़िवैचित्र्यवक्रता, पर्यायवक्रता, विशेषणवक्रता, संवृतिवक्रता, वृत्तिवैचित्र्यवक्रता, लिंगवैचित्र्यवक्रता, क्रियावैचित्र्यवक्रता, कारकवक्रता, संख्यावक्रता, पुरुषवक्रता, उपसर्गवक्रता, निपातवक्रता, उपचारवक्रता और वर्णविन्यासवक्रता के तानों-बानों से अनुस्यूत है । पर्यायवक्रता का एक सुन्दर निदर्शन द्रष्टव्य है :-

भूपालबाल किन्नो ते मृदुपल्लवशालिनः ।
कान्तालसन्निधानस्य फलतात् सुमनस्कता ॥ १/११२

- हे राजकुमार ! तुम मृदुभाषी हो और तुम्हारा गृह कान्ता से सुशोभित है । तुम्हारा सौमनस्य क्या सफल नहीं होगा ?

यहाँ स्त्री, नारी, अबला अथवा गृहिणी, पत्नी आदि पर्यायवाचियों को छोड़कर 'कान्ता' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो अत्यन्त प्रासंगिक है । क्योंकि 'कान्ता' शब्द सौन्दर्य का द्योतक है, इसलिए उसके प्रयोग द्वारा स्त्री से गृह के सुशोभित होने का औचित्य सिद्ध हो जाता है ।

कारकवक्रता के अभिव्यंजनात्मक चारुत्व का उदाहरण अधोलिखित पद्य में देखा जा सकता है :-

भूयो विरराम करः प्रियोन्मुखः सन्स्रगन्वितस्तस्याः ।
प्रत्याययौ दृगन्तोऽप्यर्धपथाच्चपलताऽऽलस्यात् ॥ ६/११९

- सुलोचना जयकुमार के गले में वरमाला डालना चाहती थी, किन्तु उसका हाथ जयकुमार के सम्मुख जाकर भी बार-बार बीच में ही रुक जाता था । इसी तरह उसकी दृष्टि भी चपलता तथा आलस्यवश बीच रास्ते से लौट आती थी ।

यहाँ अचेतन हाथ और दृष्टि कर्मकारक हैं (वह हाथ को रोक लेती थी और दृष्टि को लौटा लेती थी) । किन्तु चेतन की क्रिया का आरोप कर उनका चेतन के समान कर्ताकारक के रूप में प्रयोग किया गया है । इससे उक्तिवैचित्र्यजन्य चारुत्व के साथ इस भाव की अभिव्यक्ति होती है कि सुलोचना का अंग-अंग लज्जाभाव से अनुशासित था, इसलिए वे अपने-आप लज्जाशीलता का आचरण कर रहे थे अर्थात् सुलोचना अत्यधिक लज्जालु थी और इन्द्रियों पर उसका पूर्ण नियंत्रण था ।

मुहावरे अभिव्यक्ति के लोकप्रसिद्ध लाक्षणिक एवं व्यंजक माध्यम हैं । इनसे अभिव्यंजना पैनी एवं रमणीय हो जाती है । 'जयोदय' में मुहावरों के प्रयोग से भावद्योतन में जो तीक्ष्णता एवं रोचकता आयी है उसका अनुभव निम्नलिखित उदाहरण से किया जा सकता है :-

वेशवानुपजगाम जयोऽपि येन सोऽथ शुशुभेऽभिनयोऽपि ।
लोकलोपितवपापरिणामः स स्म नीरमीरयति च कामः ॥ ५/२६

- जिनका सौन्दर्य अनुपम था ऐसे राजा जयकुमार भी सज-धज कर आये। उनके आने से सभा जगमगा उठी। उनके आगे कामदेव भी पानी भरता था।

जयकुमार के अनुपम सौन्दर्य की व्यंजना के लिए 'कामः नीरमीरयति" (उनके सामने कामदेव भी पानी भरता था) इस मुहावरे से अधिक सशक्त उक्ति और कोई नहीं हो सकती थी।

बिम्बविधान में महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी सिद्धहस्त हैं। इसका नमूना निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है :-

लवणिमाब्जदलस्थजलस्थितिस्तरुणिमायमुषोऽरुणिमाचितिः।

लसति जीवनमञ्जलिजीवनमिह दधात्ववधिं न सुधीजनः॥ २५/५

- युवतियों का सौन्दर्य कमलपत्र पर स्थित पानी की बूंद के समान है, युवावस्था सन्ध्या समय की लालिमावत् है। जीवन अंजलि में स्थित जल के सदृश है। अतः ज्ञानीजन समय को व्यर्थ नहीं खोते।

इन उपमाओं के द्वारा जो दृश्य (दृष्टिपरक बिम्ब) उपस्थित किये गये हैं उनमें पदार्थो की क्षणभंगुरता साकार हो उठी है। कवि ने अमूर्त नश्वरता को मूर्त रूप दे दिया है। नश्वरता आँखों से दिखाई देती हुई प्रतीत होती है।

मानवीय आचरण की मनोवैज्ञानिकता का बोध कराने के लिए कवि ने लोकोक्तियों की शैली का कितना सफल प्रयोग किया है, यह निम्न उक्ति में दर्शनीय है -

आस्तदा सुललितं चलितव्यं तन्मयाऽवसरणं बहुभव्यम्।

श्रीचतुष्पथक उत्कलिताय कस्यचिद् व्रजति चिन्न हिताय॥ ४/७

भाव यह है कि अर्ककीर्ति आमंत्रण न मिलने पर भी राजकुमारी सुलोचना के स्वयंवर में जाने के लिए तैयार हो जाता है, क्योंकि चौराहे पर पड़े रत्न को कौन नही उठाना चाहता ?

विस्तारभय से यहाँ जयोदय में प्रयुक्त शैली के अन्य प्रकारों जैसे अलंकारविधान, विभावादियोजना, लक्षणात्मक एवं व्यंजनात्मक शब्दनिवेश आदि के निदर्शन प्रस्तुत नही किये जा रहे हैं।

कु० आराधना जैन ने 'जयोदय' की काव्यभाषा के इन समस्त उपादानों का सम्यक् उन्मीलन किया है। काव्यात्मभूत रस और भावों के सौन्दर्य तथा पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य को भी दृष्टि का विषय बनाया गया है। प्रबन्ध की भाषा परिष्कृत एवं सुबोध है। प्रकाशित होने पर यह विद्वज्जगत् में सम्मान प्राप्त करेगा तथा शोधार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

डॉ० रतनचन्द्र जैन

रीडर, संस्कृत एवं प्राकृत

भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

प्रस्तावना

वर्तमान युग के सुविख्यात दिगम्बर जैन मुनि आचार्य श्री विद्यासागरजी के दर्शनार्थ जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो वहाँ उनके गुरु स्व० **आचार्य ज्ञानसागरजी** (पूर्व नाम पं. **भूरामलजी**) द्वारा प्रणीत विपुल संस्कृत साहित्य का अवलोकन कर विस्मित रह गई। इस युग में जब संस्कृत में साहित्य सर्जन दुर्लभ हो गया है, तब इस भाषा में चार महाकाव्य, एक चम्पू एवं तीन अन्य ग्रन्थों की रचना चकित कर देनेवाला कार्य है। विस्मय तब और भी गहरा हो जाता है जब हम देखते हैं कि सभी रचनाएँ काव्य-शास्त्र की उत्कृष्ट नमूना हैं। महाकाव्य तो बृहत्त्रयी की कोटि के हैं। इनमें **जयोदय महाकाव्य** शैली में 'नैषधीय चरित' का, अर्थगौरव में 'किरातार्जुनीय' का, प्रकृतिवर्णन में 'शिशुपाल वध' का, दार्शनिक विवेचन में 'सौन्दरनन्द' का तथा वैराग्य प्रसंग में 'धर्मशर्माभ्युदय' का स्मरण करा देता है।

शोध की दृष्टि से ये सभी कृतियाँ अनेक संभावनाएँ गर्भ में छिपाये हुए हैं, इसीलिये शोधार्थियों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ है। **कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल** (उ.प्र.) से **डॉ. किरण टण्डन** ने **"मुनि श्री ज्ञानसागर का व्यक्तित्व और उनके संस्कृत काव्यग्रन्थों का साहित्यिक मूल्यांकन"** शीर्षक से शोधकार्य कर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। **डॉ. के.पी. पाण्डेय** ने स्वतन्त्ररूप से 'जयोदय' पर कार्य किया है। उनका शोध शीर्षक है **"जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन"**। इस विषय पर उन्हें गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ.प्र.) द्वारा १९८२ में पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की गई है।

डॉ. पाण्डेय के शोध प्रबन्ध का अध्ययन करने के बाद प्रतीत हुआ कि जयोदय में अभी भी शोध की विशाल संभावनाएँ हैं। डॉ. पाण्डेय के अध्ययन का पक्ष परम्परागत या शास्त्रीय है। उन्होंने जयोदय को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्यत्व और काव्यत्व की कसौटी पर कसा है इसमें महाकाव्य और काव्य सिद्ध करनेवाले कौन-कौन से लक्षण विद्यमान हैं, वे शास्त्रीय दृष्टि से निर्दोष हैं या नहीं, निर्दोष हैं तो किस प्रकार, दोषयुक्त हैं तो क्यों; यह पक्ष ही उनकी समीक्षा का विषय रहा है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस, भाव, ध्वनि, अलंकार, गुण, रीति एवं दोषाभाव ही किसी काव्य की समीक्षा के आवश्यक तत्त्व माने गये हैं। इसीलिए डॉ० पाण्डेय ने जयोदय महाकाव्य में इन्हीं के विभिन्न रूपों का सर्वेक्षण एवं उनकी शास्त्रीयता का परीक्षण किया है। उदाहरणार्थ अलंकारों के विषय में शोधकर्त्ता ने यह छानबीन की है कि कवि ने किन-किन अलंकारों का प्रयोग किया है और वे अलंकार अमुक अलंकार किस प्रकार हैं ? इसी प्रकार जयोदय में किन-किन रसों की व्यंजना की गई है और वे इस अमुक रस की परिभाषा में कैसे आते हैं ? यह अन्वेषण रस के विषय में किया गया है। भाव, गुण, रीति एवं ध्वनि के विषय में भी ऐसा ही सर्वेक्षण एवं विश्लेषण किया गया है। डॉ. पाण्डेय के शोध प्रबन्ध की रूपरेखा इस प्रकार है -

जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन

प्रथम अध्याय - जयोदय महाकाव्य का कवि, उसका जन्मस्थान, समय, कृतित्व एवं व्यक्तित्व।

द्वितीय अ : - जयोदय महाकाव्य की कथावस्तु, कथाविभाग. स्रोत एवं ऐतिहासिकता।

तृतीय अध्याय - संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों की परम्परा, जयोदय का महाकाव्यत्व, महाकाव्यों की परम्परा में जयोदय का स्थान तथा जयोदय एवं पूर्ववर्ती महाकाव्य।

चतुर्थ अध्याय - जयोदय महाकाव्य में रस एवं भाव-विमर्श।

पंचम अध्याय - जयोदय महाकाव्य में अलङ्कार-निवेश।

षष्ठ अध्याय - जयोदय महाकाव्य में गुण, रीति एव ध्वनि-विवेचन।

सप्तम अध्याय - जयोदय महाकाव्य में छन्दोयोजना।

नवम अध्याय - उपसंहार

परिशिष्ट - १. जयोदय महाकाव्य में प्रस्तुत स्थान, पात्र, दार्शनिक-शब्दसमूह एवं ललित सूक्तियाँ।

२. सहायक ग्रन्थों की सूची।

इस रूपरेखा से स्पष्ट हो जाता है कि डॉ. पाण्डेय का जयोदय विषयक अध्ययन परम्परागत काव्यशास्त्रीय चौखट के भीतर ही है। इसमें आधुनिक शैलीवैज्ञानिक दृष्टि से काव्यभाषा का विश्लेषण शोध का बिन्दु नही है। ध्वनि, गुण, रीति के अतिरिक्त भाषा को काव्यात्मक बनानेवाले अनेक तत्त्व हैं; जैसे प्रतीक, बिम्ब, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ आदि। इनका विश्लेषण उपर्युक्त शोध रूपरेखा में स्थान नहीं पा सका है। अतः डॉ० पाण्डेय के शोध क्षेत्र की सीमा के बाहर शोध का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र जयोदय में विधमान दिखाई दिया। वह था शैलीवैज्ञानिक या काव्य-भाषीय विश्लेषण का क्षेत्र। जिसमें यह अध्ययन किया जाता है कि कवि ने भाषा को काव्यात्मक बनाने के लिए अभिव्यक्ति के किन-किन वक्र प्रकारों का अर्थात् लाक्षणिक एवं व्यंजक वचनभंगियों का प्रयोग किया है ? उनका अभिव्यंजनात्मक वैशिष्ट्य क्या है ? यह काव्यसमीक्षा का आधुनिक भाषा शास्त्रीय पक्ष है। भारतीय समीक्षाशास्त्र में आचार्य कुन्तक ने अपने समीक्षा ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित के द्वारा इसका बहुत पहले ही निर्देश कर दिया था। उन्होंने विभिन्न वक्रताओं के रूप में चयन और विचलन पर आधारित अभिव्यक्ति के अनेक प्रकारों का प्रकाशन किया है, तथापि संस्कृत में समीक्षा की पद्धति अभी तक ध्वनिकार आनन्दवर्धन एवं काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रणीत सिद्धान्तों की परिधि में ही चली आ रही है। पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के प्रभाव मे अभिव्यक्त के अनेक नये प्रकारों की भी पहचान हुई है; जैसे प्रतीक, बिम्ब, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ आदि। इन सबका अध्ययन शैलीवैज्ञानिक अध्ययन के अन्तर्गत होता है।

जयोदय महाकाव्य में शोध के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष को अछूता पाकर इस पर शोधकार्य करने की तृष्णा मन में जागी और मैंने बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.) में संस्कृत और प्राकृत के रीडर आदरणीय डॉ० रतनचन्द्रजी जैन के समक्ष अपना विचार निवेदित किया और उनसे परामर्श देने का अनुरोध किया। शोधकार्य के लिए मार्गदर्शन करने की भी साग्रह प्रार्थना की। डॉक्टर साहब को भी शोध का विषय उपयुक्त प्रतीत हुआ। उन्होंने बड़ी कृपाकर मार्गदर्शन करना भी स्वीकार कर लिया। इस प्रकार मेरे मनोरथ का मार्ग प्रशस्त हो गया।

मैंने अपने शोध प्रबन्ध को **'जयोदय महाकाव्य का अनुशीलन'** शीर्षक दिया है और बारह अध्यायों में विभाजित किया है।

प्रथम अध्याय में 'जयोदय के प्रणेता महाकवि भूरामलजी (आचार्य ज्ञानसागरजी) का जीवन वृत्तान्त, चरित्र एवं उनके द्वारा संस्कृत एवं हिन्दी में रचित विपुल साहित्य का परिचय दिया गया है। इसमें दो नवीन जानकारियाँ दी गई हैं। एक, यह कि महाकवि का राशि का नाम 'शान्तिकुमार' था दूसरी यह कि उन्होंने क्षुल्लकदीक्षा आचार्य वीरसागर जी से ग्रहण नहीं की थी अपितु भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा के समक्ष स्वयं ही ग्रहण कर ली थी। महाकवि की दो और कृतियों का भी इसमें परिचय दिया गया है। 'मुनिमनोरंजनशतक' (मुनि मनोरंजनाशीनि) तथा 'ऋषि कैसा होता है ?'

द्वितीय अध्याय में जयोदय के कथानक के साथ उसके मूल स्रोत पर प्रकाश डाला गया है। कवि ने रसात्मकता के अनुरोध से मूलकथा में आवश्यक परिवर्तन किये हैं। उनके औचित्य का विवेचन भी इसमें किया गया है। जयोदय के महाकाव्यत्व और काव्यत्व को भी इस अध्याय में लक्षण की कसौटी पर कसा गया है।

जयोदय की भाषा को काव्यात्मक अर्थात् लाक्षणिक एवं व्यंजक बनाने के लिए कवि ने जिन उक्ति वक्रताओं का प्रयोग किया है, उनका विश्लेषण तृतीय अध्याय का विषय है।

मुहावरे, प्रतीक, अलंकार, बिम्ब, लोकोक्तियाँ एवं सूक्तियाँ भी काव्यभाषा के उपादान हैं। अतः जयोदय में प्रयुक्त मुहावरों एवं प्रतीकों का अभिव्यंजनात्मक वैशिष्ट्य चतुर्थ अध्याय में, अलंकारों का पंचम में, बिम्बों का षष्ठ में, तथा लोकोक्तियों और सूक्तियों का काव्यात्मक चारुत्व सप्तम अध्याय में विश्लेषित किया गया है।

अष्टम अध्याय जयोदय में प्रवाहित विभिन्न रसों की मनोवैज्ञानिक व्यंजना का प्रकाशन करता है।

नवम अध्याय में वर्णो के विन्यास की वक्रता का उन्मीलन किया गया है जिसके अन्तर्गत माधुर्य एवं ओज के व्यंजक वर्णो की योजना तथा अनुप्रासादि शब्दालंकारों के विन्यास से उत्पन्न काव्य-सौन्दर्य के उद्घाटन का प्रयास है।

दशम अध्याय में जयोदय के पात्रो का चरित्रविश्लेषण प्रस्तुत है तथा एकादश में जयोदयगत जीवन दर्शन एवं जीवनपद्धति पर दृष्टिपात किया गया है। द्वादश अध्याय में उपसंहार है जिसके अन्तर्गत शोध के निष्कर्षो का आकलन किया गया है। अन्त में परिशिष्ट एक में महाकवि की संस्कृत में विरचित दो अप्रकाशित कृतियो 'वीरशर्माभ्युदय' तथा 'भक्तियों' का परिचय जोड़ा गया है। परिशिष्ट दो में 'जयोदय में राष्ट्रीय चेतना' शीर्षक लेख तथा परिशिष्टि तीन में सन्दर्भग्रन्थ सूची है।

अपने प्रतिपादनो के समर्थन मे मैने यथास्थान आचार्यो एवं मान्य विद्वानो के कथन उद्धृत किये हैं। विभिन्न उद्धरणो के प्रमाणीकरण हेतु पादटिप्पणियो मे सम्बन्धित ग्रन्थ, उसके लेखक एवं पृष्ठादि का सन्दर्भ भी दे दिया है।

काव्यभाषा का विश्लेषण सरल कार्य नही है। इसके लिए सर्वप्रथम तो सहृदयत्व आवश्यक है। काव्य मर्मज्ञता के बिना काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रकारो की अर्थात् वैदग्ध्यभङ्गीभणितियो की थाह पा सकना कैसे सम्भव है? सहृदयता यद्यपि स्वाभाविक होती है, तथापि जब काव्यरचना के लिए भी काव्य शास्त्रादि का अवेक्षण आवश्यक है (काव्य प्रकाश १/३) तब उसके मर्म को समझने के लिए तो और भी अधिक आवश्यक है। इसीलिए मैंने दीर्घकाल तक वक्रोक्तिजीवित, औचित्य विचारचर्चा, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश आदि प्राचीन काव्यशास्त्रों का तथा शैलीविज्ञान या रीतिविज्ञान तथा काव्यभाषा का विवेचन करने वाले विभिन्न आधुनिक ग्रन्थो का गहन अध्ययन किया एवं विशेषज्ञों से सम्पर्क कर गुत्थियाँ सुलझाने की चेष्टा की, साथ ही अहर्निश घोर चिन्तन किया। इस प्रकार कुछ सामर्थ्य संचित कर अपने संकल्प को पूर्ण करने का उद्यम किया है।

शोधकार्य को विशेषज्ञों की अपेक्षा के अनुरूप बनाने में यथाशक्ति कोई प्रयत्न शेष नहीं रखा किन्तु अनुभव के प्रारम्भिक सोपान पर स्थित होने के कारण त्रुटियाँ स्वाभाविक है। यदि यह प्रबन्ध विज्ञजनो को किंचित् भी परितोष दे सका तो अपने श्रम को सार्थक मानूंगी।

परम आदरणीय डॉ० रतनचन्द्रजी जैन, रीडर, संस्कृत एवं प्राकृत, बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन हेतु उपयुक्त शब्दावली का अभाव अनुभव कर रही हूँ, जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी मेरा सतत मार्गदर्शन किया, साथ ही शोधविषय से

सम्बन्धित अनेक पुस्तकें निजी पुस्तकालय से अध्ययन हेतु प्रदान कीं । इतना ही नहीं, उन्होंने मेरे भोपाल प्रवास में अपने घर में आवास, भोजन आदि की सुविधायें उपलब्ध कराके मेरे मार्ग की बाधायें दूर की हैं । मुझे उनसे निरन्तर पितृवत् स्नेह प्राप्त हुआ है । माननीय डॉ. साहब के योग्य निर्देशन के बिना यह कार्य असम्भव था । मैं उनके उपकार को कभी नही भूल सकती ।

परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी एवं उनके संघ के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनकी कृपा से जयोदय महाकाव्य के उत्तरार्ध की स्वोपज्ञ टीका सहित पाण्डुलिपि तथा 'मुनिमनोरञ्जनाशीति' और 'ऋषि कैसा होता है' इन दो मुक्तक काव्यों की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हो सकीं । आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के जीवन से सम्बन्धित अनेक जानकारियाँ तथा विविध पत्र-पत्रिकाएँ एवं सुझाव भी उनसे प्राप्त हुए हैं जिससे मेरा कार्य सुकर हुआ है । मैं आचार्य श्री विद्यासागरजी एवं उनके संघस्थ साधुओं से शुभाशीर्वाद प्राप्त कर धन्य हुई हूँ ।

शा० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दमोह में संस्कृत के विभागाध्यक्ष तथा सम्प्रति सचिव म०प्र० संस्कृत अकादमी, भोपाल पितृकल्प डॉ० भागचन्दजी 'भागेन्दु' मेरे प्रेरणास्रोत रहे हैं । उन्होंने ही मेरे मन में शोधकार्य की भूख जगाई और जयोदय महाकाव्य पर शोध करने का सुझाव दिया । उनके प्रोत्साहन और परामर्श ने मेरा मार्ग प्रशस्त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है । म उनकी चिर ऋणी हूँ ।

ब्रह्मचारी सुमनकुमारजी, वर्तमान में १०५ ऐलक श्री सिद्धान्तसागरजी से विश्वलोचनकोश एवं उनके उपयोगी सुझाव प्राप्त कर मैं लाभान्वित हुई हूँ । ब्रह्मचारिणी लक्ष्मी बहन, विदिशा एवं सागर निवासी भाई श्री जिनेन्द्रजी ने महाकवि ज्ञानसागरजी रचित साहित्य उपलब्ध कराकर मेरी बड़ी सहायता की है । इन महानुभावों के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

प्रस्तुत शोधकार्य के समय पिता श्री स्व: पं. ज्ञानचन्द्रजी जैन 'स्वतंत्र' से हर सम्भव सहायता मिली है । उनके प्रति मैं क्या आभार व्यक्ति कर सकती हूँ । मेरे अनुज चि. राकेश जैन (इंजीनियर) ने तन-मन-धन से सहयोग दिया है । मैं उनके उत्तरोत्तर उत्कर्ष की कामना करती हूँ।

जैनविद्या शोध संस्थान, श्री महावीरजी (राज०) को मैं विस्मृत नहीं कर सकती, जहाँ मुझे अध्ययन, आवास, भोजन आदि की सभी सुविधाएं निःशुल्क प्राप्त हुई हैं । मैं वहाँ के निदेशक, पुस्तकालयाध्यक्ष एवं सभी कार्यकर्ताओं की अत्यन्त आभारी हूँ ।

डॉ. श्रीमती आशालता मलैया, अध्यक्षा - संस्कृत विभाग, शासकीय कन्या महाविद्यालय सागर का भी मुझे मार्गदर्शन एवं सहयोग प्राप्त हुआ है । उनके प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ ।

'मुनि श्री ज्ञानसागर जैन ग्रन्थमाला की पुस्तकों के विक्रय सुविधाप्रदायक श्री गणेशीलाल रतनलाल कटांरिया, कपड़ा बाजार, ब्यावर (राज.) तथा श्री देवकुमारजी जैन, मंत्री, दि.जैन समाज हिसार (हरियाणा) से कविवर ज्ञानसागरजी का साहित्य उपलब्ध हुआ है। मैं उनकी आभारी हूँ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध प्रकाशन के मूल प्रेरणा स्रोत हैं परमपूज्य १०५ ऐलक श्री अभय सागरजी महाराज एव चातुर्मास अवधि में यहाँ गंज बासौदा में विराजमान आचार्य श्री विद्यासागरजी की परम शिष्या आर्यिका दृढ़मति माताजी एवं आर्यिका संघ। इनकी प्रेरणा से ही यह गुरुतर कार्य सहज ही संभव बन पड़ा है। ग्रन्थ के प्रकाशन का आर्थिक उत्तरदायित्व को वहन कर दिगम्बर जैन समाज गंज बासौदा ने अपनी उदारता एवं सदाशयता का परिचय दिया है। इस हेतु मैं समाज की ऋणी हूँ।

मेरे निदेशक डॉ. श्री रतनचन्द्रजी जैन (भोपाल) एवं डॉ. श्री सत्यव्रतजी शास्त्री ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर ग्रन्थ के गौरव को बढ़ाया है। भाई श्री कमलेशजी जबलपुर तथा सिघई आफसेट जबलपुर के अधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं ने उत्साहपूर्वक कार्य पूर्ण किया है। शोध प्रबन्ध के लेखन एवं प्रकाशन आदि में जिन महानुभावों का प्रत्यक्ष/परोक्ष रूप से सहयोग मिला है, उन सभी के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ।

शोध प्रबन्ध को निर्दोष बनाने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है तथापि त्रुटियाँ अवश्यंभावी हैं। पाठक गुणग्राही दृष्टिकोण रखकर सारतत्त्व को अंङ्गीकार करेंगे, ऐसी अपेक्षा है।

दीप मालिका, १३ नवम्बर १९९३
भगवान् महावीर निर्वाण दिवस
वीर निर्वाण संवत् २५२०

कु. आराधना जैन
मील रोड, गंज बसौदा
(विदिशा) म.प्र., ४६४२२१

विषयानुक्रमणी

प्रथम अध्याय

महाकवि भूरामलजी का व्यक्ति.त्व एवं सर्जना

व्यक्तित्व

जयोदय महाकाव्य बाल ब्रह्मचारी महाकवि पंडित भूरामलजी की यशस्वी लेखनी से प्रसूत हुआ है, जो आगे चल कर जैन मुनि अवस्था में आचार्य ज्ञानसागर जी के नाम से प्रसिद्ध हुए । श्री भूरामलजी एक ऐसे महाकवि है जिन्होंने निरन्तर आत्मसाधना की ओर अग्रसर रहते हुए एक नहीं, अनेक महाकाव्यों का सृजन किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मसाधक योगी के लिए काव्य भी आत्मसाधना का अंग बन गया है और सम्पूर्ण जीवन काव्यमय हो गया है । कवि भूरामलजी के व्यक्तित्व का बहिरंग चित्र एक प्रत्यक्षदर्शी के निम्न शब्दों में दृश्यमान हो उठा है –

गौरवर्ण, क्षीण - शरीर, चौड़ा ललाट, भीतर तक झाँकती आँखें, हित-मित-प्रिय धीमा बोल, संयमित सधी चाल, सतत् शान्तमुद्रा, यही था उनका अंगन्यास ।[1]

आत्मा में वीतरागता का अवतरण होने के बाद उनके अंतरंग की छबि वक्ता ने निम्न विशेषणों में मूर्तित कर दी है –

विषयाशा-विरक्त, अपरिग्रही, ज्ञान-ध्यान-तप में लवलीन, करुणा-सागर, पर दु:खकातर, विद्यारसिक, कविहृदय, प्रवचनपटु, शान्तस्वभावी, निस्पृही, समता, विनय, धैर्य और सहिष्णुता की साकार मूर्ति, भद्रपरिणामी, साधना में कठोर, वात्सल्य में नवनीत से भी कोमल, एवं सरल प्रकृति तेजस्वी महात्मा - बस यही था उनका अन्तर का आभास।[2]

ऐसे व्यक्तित्व के धनी योगी का जन्म राजस्थान में जयपुर के समीप सीकर जिले के राणोली ग्राम में हुआ था । उनके पिता का नाम श्री चतुर्भुज एवं माता का नाम श्रीमती घृतवरी देवी था । कवि ने स्वयं जयोदय महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग की स्वोपज्ञ टीका के अनन्तर निम्न शब्दों में अपने तथा अपने माता - पिता के नाम का उल्लेख किया है –

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलोपाह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।

---

१. आचार्य ज्ञानसागर का बारहवाँ समाधि दिवस, पृष्ठ - ४

२. वही, पृष्ठ - ४

अपनी जन्मभूमि का निर्देश करने के लिए उन्होंने महाकाव्य के अन्तिम अट्ठाईसवें सर्ग में पाँच श्लोक लिखे हैं जिनमें पाँच कामनाएँ की गई हैं –

जयतात्सुनिबन्धोऽयं पुण्यन्सन्निगलं चिरम् ।
राष्ट्रं प्रवर्ततामिज्यां तन्वन्निर्बाधमुद्धुरम् ॥
गणसेवी नृपो जातं राष्ट्रस्नेहो वृषेषणाम् ।
वहन्निर्णयधीशाली ग्राम्यदोषातिगः क्षमः ॥
स्थिरत्वं मनुजाश्चेतः श्रीमतोऽवन्तु सूक्तिमत् ।
चमत्कुर्याज्जगन्ने तुर्भुवनेषु वृषो निजः ॥
नित्यमभ्येयं संसर्गं महतां शुभकर्मसु ।
तता धीस्स्याच्च चित्तश्री - र्भूयाच्छ्रीभुततत्परा ॥
मनागपि न सञ्चारः कृच्छ्रेषु मम धीमतः।
प्रसादादर्हतां शम्बधोरिणी स्यादिति स्वयम् ॥ २८/१०१-१०५

इन श्लोकों के प्रत्येक चरण के प्रथम एवं अन्तिम अक्षरों के योग से निम्न वाक्य बनता है जो कवि के जन्मस्थान एवं पिता के नाम की सूचना देता है –

"जयपुरराज्यान्तर्गतराणावलीग्रामस्थितश्रीमच्चतुर्भुजनिगमसुतश्रीभूरामरकृतप्रबन्धोऽयम्।

कवि का भूरामल नाम उनके गौरवर्ण एवं लुनाई को देखते हुए रखा गया था। उनका एक और नाम था "शान्तिकुमार" जो संभवतः राशि के आधार पर रखा गया था।[1]

श्री भूरामलजी पाँच भाई थे। बड़े भाई का नाम था छगनलाल। तीन भाई उनसे छोटे थे – गंगाप्रसाद, गौरीलाल और देवीदत्त।[2]

शिक्षा

शैशवकाल से ही भूरामल की अध्ययन में तीव्र रुचि थी। उन्होंने अपने जन्म स्थल में ही कुचामनवासी पं० जिनेश्वरदासजी से प्रारम्भिक, प्राथमिक, लौकिक एवं धार्मिक शिक्षा प्राप्त की, पर गाँव में उच्च शिक्षा प्राप्त न हो सकी। सन् १९०२ [विक्रम संवत्

---

१. जयोदय उत्तरार्ध, १५-१०१

२. जैनमित्र (साप्ताहिक), मुनि श्री ज्ञानसागर जी का संक्षिप्त परिचय, २८ - ४ - ६९, पृष्ठ-२५३

१९५९] में उनके पिता श्री चतुर्भुज जी की मृत्यु हो गयी। उस समय बड़े भाई की उम्र १२ वर्ष तथा भूरामलजी की १० वर्ष थी। पिता के आकस्मिक निधन से घर की अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। फलस्वरूप बड़े भाई छगनलाल को जीविकोपार्जन हेतु बाहर जाना पड़ा। वे गया (बिहार) पहुँचे और वहाँ एक जैन व्यवसायी के यहाँ कार्य करने लगे। आगे अध्ययन का साधन न होने से भूरामल जी भी अपने अग्रज के समीप गया चले गये और एक जैन व्यवसायी के प्रतिष्ठान में कार्य सीखने लगे।[1]

गया में जीवन-यापन करते हुए लगभग एक वर्ष ही व्यतीत हुआ था कि उनका साक्षात्कार किसी समारोह में भाग लेने आये स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी (उ. प्र.) के छात्रों से हुआ। उन्हें देखकर भूरामलजी के हृदय में वाराणसी जाकर विद्याध्ययन करने की तीव्र उत्कण्ठा जागृत हुई। उन्होंने अपनी इच्छा बड़े भाई से निवेदित की पर आर्थिक प्रतिकूलता के कारण बड़े भाई ने अनुमति नहीं दी। भूरामल जी अपनी ज्ञानपिपासा का दमन करने में समर्थ न हो सके और लगभग १५ वर्ष की आयु में अध्ययनार्थ वाराणसी चले गये।[2]

स्याद्वाद महाविद्यालय में पहुँच कर भूरामल जी ने मात्र अध्ययन को ही महत्व दिया। जहाँ आपके अन्य साथियों का लक्ष्य परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर उपाधियाँ अर्जित करना था, वहाँ आपका उद्देश्य ज्ञानार्जन करना ही था। उनका विचार था कि उपाधियाँ तो उत्तीर्णाक पाने योग्य ज्ञान से भी अर्जित की जा सकती हैं। यदि उपाधियों को ही लक्ष्य बनाया जाये तो ज्ञान गौण हो जायगा। वे ज्ञानगाम्भीर्य का प्रमाण कदापि नहीं हो सकतीं। इसी धारणा के फलस्वरूप उन्होने अनावश्यक परीक्षाएँ न देकर अहोरात्र ग्रन्थों का अध्ययन किया।[3] स्वल्पकाल में ही शास्त्री स्तर तक के सभी ग्रन्थो का अध्ययन पूर्ण कर लिया। क्वीन्स कालेज, काशी से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की।[4] स्याद्वाद महाविद्यालय से उन्होंने संस्कृत, संस्कृत-साहित्य और जैनदर्शन की उच्च शिक्षा प्राप्त की।[5]

---

१. जयोदय पूर्वार्ध, ग्रन्थकर्ता का परिचय, पृष्ठ-९

२. डॉ रतनचन्द जैन, आचार्य ज्ञानसागर जी का जीवन वृतान्त, कर्तव्य-पथ-प्रदर्शन, पृष्ठ-२

३,४(क) वही, पृष्ठ-२

(ख) संस्मरण-श्री ज्ञानसागर जी का संक्षिप्त जीवन परिचय, मुनिसंघ व्यवस्था समिति, नसीराबाद, पृष्ठ-२

५. (क) दयोदय चम्पू, प्रस्तावना, पृष्ठ-ड

(ख) डॉ. रतनचन्द जैन, आचार्य ज्ञानसागर जी का जीवन वृतान्त, कर्तव्यपथप्रदर्शन, पृष्ठ-२

नव प्रवर्तन

उस समय पाठ्यक्रम में व्याकरण, साहित्य आदि के जैनेतर ग्रन्थ ही निर्धारित थे, क्योंकि अधिकांश जैन ग्रन्थ अप्रकाशित थे, अतएव अनुपलब्ध थे। फलस्वरूप जैन छात्रों को जैनेतर ग्रन्थों का ही अध्ययन करना पड़ता था। इससे श्री भूरामल जी को अत्यन्त दुःख होता था। वे सोचते थे कि जैन आचार्यों ने व्याकरण, न्याय एवं साहित्य के अद्वितीय ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु हम उन्हें पढ़ने के सौभाग्य से वंचित हैं। यह पीड़ा उनके मन में उथल-पुथल मचाती रहती थी। तब तक जैन - न्याय और व्याकरण के कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे। इसका सुफल यह हुआ कि आपने अन्य लोगों के सहयोग के अथक प्रयत्न करके उन ग्रन्थों को काशी विश्वविद्यालय और कलकत्ता परीक्षालय के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित करवा दिया। इस समय आपकी दृष्टि इस तथ्य पर गयी कि जैन॰वाङ्मय में काव्य और साहित्य के ग्रन्थों की न्यूनता है। अतः आपने संकल्प किया कि अध्ययन समाप्ति के अनन्तर इस न्यूनता को दूर करेंगे। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि वाराणसी में आपने व्याकरण, न्याय और साहित्य के जैनाचार्य विरचित ग्रन्थों का ही अध्ययन किया। उस समय स्याद्वाद महाविद्यालय में जितने भी अध्यापक थे, वे सभी अधिकांशतः ब्राह्मण थे। वे जैन ग्रन्थों को पढ़ाने और प्रकाश में लाने की तीव्र इच्छा थी। अतएव जैसे भी, जिस अध्यापक से भी संभव हुआ आपने जैन ग्रन्थों का अध्ययन किया।[1]

इस समय महाविद्यालय में **पंडित उमरावसिंह जी** धर्मशास्त्र के अध्यापक थे, जो बाद में ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण कर **ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द** के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनसे भूरामल जी को जैन ग्रन्थों के पठन-पाठन के लिए प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिला। इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में उनका गुरु रूप में स्मरण किया है –

> **विनमामि तु सन्मतिकमकामं द्यामितकेर्महितं जगति तमाम् ।**
>
> **गुणिनं ज्ञानानन्दमुपासं रुचां सुपाठं पूर्तिकरं कौ ॥** जयोदय २८/१००

प्रस्तुत श्लोक के प्रत्येक चरण के प्रथम अक्षर के योग से "**विद्यागुरुं**" पद बनता है तथा उनका "**ज्ञानानन्द**" नाम उल्लेखित कर भूरामल जी ने अपने गुरु को नमन किया है।

भूरामल जी अध्ययनकाल से ही स्वावलम्बी थे। विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने कभी किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया। वे सायंकाल गंगा के घाटों पर गमछे बेच कर

---

१. डॉ. रतनचन्द जैन, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का जीवन वृत्तान्त, कर्त्तव्यपथ प्रदर्शन, पृष्ठ - २-३

स्वयं का खर्च चलता थे । पं० श्री कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के अनुसार इस महाविद्यालय के ७० वर्ष के इतिहास में ऐसी दूसरी मिसाल देखने या सुनने को नहीं मिली ।[१]

कार्य क्षेत्र

अध्ययन समाप्त कर पण्डित भूरामल जी शास्त्री अपने जन्मस्थल राणौली लौट आये । अब उनके समक्ष कार्य क्षेत्र के चुनाव की समस्या थी । उस समय घर की आर्थिक स्थित ठीक न थी और अन्य विद्वान् महाविद्यालय से निकलते ही सवेतनिक सेवा स्वीकार कर रहे थे । तथापि उनको सवेतनिक अध्यापन कार्य करना उचित प्रतीत नहीं हुआ । अतएव वे अपने ग्राम में रह कर ही व्यवसाय द्वारा आजीविका अर्जित करते हुए निस्वार्थ भाव से स्थानीय जैन बालकों को शिक्षा प्रदान करने लगे । इसी बीच उनके अग्रज श्री छगनलाल जी भी गया से वापिस आ गये थे । अतः दोनों भाईयों ने मिलकर व्यवसाय प्रारम्भ किया और अनुजो के लालन-पालन एवं शिक्षा-दीक्षा का उत्तरदायित्व निभाया ।

पण्डित भूरामल जी की व्यावसायिक योग्यता और विद्वत्ता देख कर अनेक लोग विवाह प्रस्ताव लेकर आये । उनके भाईयों तथा सम्बन्धियों ने विवाह करने हेतु बहुत आग्रह किया, किन्तु आपने विवाह करना अस्वीकार कर दिया । क्योंकि आपने अध्ययनकाल में ही आजीवन ब्रह्मचारी रहकर साहित्य सर्जन एवं प्रचार में ही जीवन व्यतीत करने का संकल्प कर लिया था ।[२]

साहित्य सृजन की प्रेरणा

श्री भूरामल जी को साहित्य सृजन हेतु प्रेरित करने वाले दो कारण हैं । इनमें प्रथम है जैन वाङ्मय में काव्य और साहित्य की न्यूनता एवं अप्रकाशित होना, और द्वितीय है अध्ययनकाल की एक घटना । घटना इस प्रकार है - बनारस में जब एक दिन भूरामल जी ने एक जैनेतर विद्वान् के समीप पहुँच कर जैन साहित्य का अध्ययन कराने हेतु निवेदन किया तो उन विद्वान् ने व्यंग करते हुए कहा कि "जैनियों के यहाँ है कहाँ ऐसा साहित्य, जो मैं तुम्हें पढ़ाऊँ?" यह सुनकर क्षण भर को भूरामल जी अचेत से हो गये जैसे काठ मार दिया हो किसी ने । शब्द बाण की भाँति पर्दे चीरते हुए हृदय तक पहुँच गये । उस दिन उन्हें मन में बड़ी टीस हुई । मन ही मन खेद करते हुए अपना सा मुँह लेकर वापिस आ गये। उसी समय उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि मैं अध्ययनकाल के उपरान्त ऐसे साहित्य का

---

१. जयोदय पूर्वार्ध, ग्रन्थकर्ता का परिचय, पृष्ठ - १०

२. डॉ. रतनचन्द जैन, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का जीवन वृत्तान्त, कर्तव्यपथ प्रदर्शन, पृष्ठ - ३

निर्माण करूँगा जिसे देखकर जैनेतर विद्वान् भी "दाँतों तले अँगुली दबा लें।"[1]

साहित्य सर्जना

अपने संकल्प को कार्य रूप देने हेतु भूरामल जी व्यवसाय मे उदासीन हो गये। व्यवसाय का कार्य छोटे भाईयों को सौंप कर वे पूर्ण रूपेण अध्ययन-अध्यापन और साहित्य-सृजन में जुट गये।[2] उन्होंने अध्ययन और लेखन को ही अपनी दिनचर्या बना लिया। वे दिन में एक बार ही शुद्ध सात्त्विक भोजन करने लगे।[3] इसी बीच उनको दाँता (रामगढ़) राजस्थान में संस्कृत अध्यापन के लिए बुलाया गया। वे वहाँ जाकर परमार्थ भाव से अध्यापन कार्य करने लगे।[4]

इस प्रकार अध्यापन एवं अध्ययन कार्य करते हुए संस्कृत एवं हिन्दी ग्रन्थों की रचना कर इन भाषाओं के साहित्य को विपुल समृद्धि प्रदान की।[5] उनके द्वारा रचित ग्रन्थ इस प्रकार हैं –

---
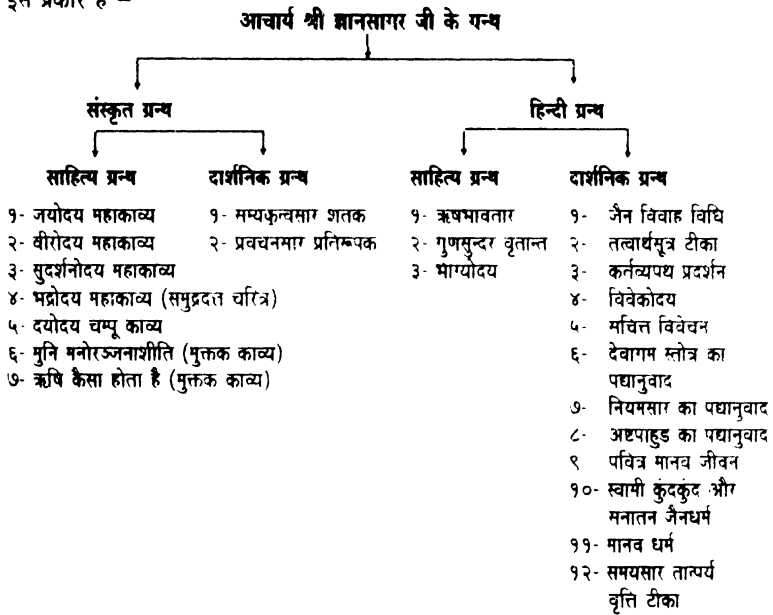
१. विद्याधर से विद्यासागर, पृष्ठ १५१-१५२
२. वीरशासन के प्रभावक आचार्य, पृष्ठ - २७०
३. बाहुबली सन्देश, अद्वितीय श्रमण, पृष्ठ-३६
४. वही, पृष्ठ ३७
५. कर्तव्यपथ प्रदर्शन, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का जीवन वृत्तान्त, पृष्ठ - ४

श्री भूरामल जी द्वारा रचित संस्कृत काव्य ग्रन्थों की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ एवं लक्षणा-व्यंजना, गुण, अलंकार आदि काव्य गुणों से विभूषित है। इनमें विभिन्न रसों के माध्यम से जैन धर्म के प्राणभूत अहिंसा, सत्य आदि मूल व्रतों एवं साम्यवाद, अनेकान्त, कर्मवाद आदि आगमिक एवं दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन हुआ है।[1] ये ग्रन्थ न केवल साहित्य एवं दर्शन की अपितु संस्कृत वाङ्मय की भी अमूल्य निधि हैं।

चारित्र की ओर कदम

इस प्रकार अध्ययन-अध्यापन और अभिनव ग्रन्थों की रचना करते हुए जब भूरामल जी की युवावस्था व्यतीत हुई, तब आपके मन में चारित्र धारण कर आत्म कल्याण करने की अन्तःस्थित भावना बलवती हो उठी! फलस्वरूप बालब्रह्मचारी होते हुए भी सन् १९४७ (विक्रम संवत् २००४) में अजमेर नगर में, आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज से व्रत रूप मे ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण कर ली।[2] सन् १९४९ (विक्रम संवत् २००६) में आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को पैतृक घर पूर्णतया त्याग दिया।[3] इस अवस्था में भी वे निरन्तर ज्ञानाराधन में संलग्न रहे। उन्होंने इसी समय प्रकाशित हुए सिद्धान्त ग्रन्थ धवल, जयधवल एवं महाबन्ध का विधिवत् स्वाध्याय किया।[4]

चारित्र पथ पर अग्रसर होते हुए २५ अप्रेल, अक्षय तृतीया तिथि को सन् १९५५ मे ब्रह्मचारी जी ने मन्सूरपुर (मुजफ्फरनगर) (उ.प्र.) में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। कुछ प्रत्यक्षदर्शियो का कथन है कि ब्रह्मचारी जी ने क्षुल्लक दीक्षा पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा के समक्ष स्वयमेव ग्रहण की।[5] प्राप्त आलेखों के आधार पर उन्होंने आचार्य श्रीवीरसागर जी के समीप क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की और उन्हें श्री ज्ञानभूषण नाम दिया गया।[6]

आत्म कल्याण के पथ पर अग्रसर होते हुए आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के द्वारा ऐलक के रूप में दीक्षित किये गये।[7]

जब श्री ज्ञानभूषण जी ने अन्तरंग निर्मलता में वृद्धि के फलस्वरूप स्वयं को उच्चतम

१. डॉ. रतनचन्द जैन आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का जीवन वृतान्त, कर्तव्यपथ प्रदर्शन, पृष्ठ - ५
२. जयोदय पूर्वार्ध, ग्रन्थकर्ता का परिचय, पृष्ठ - २१
३. बाहुबली सन्देश, पृष्ठ - ३३
४. दयोदय चम्पू, प्रस्तावना, पृष्ठ - २१
५. पुष्पांजलि, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की जीवन धारा, पृष्ठ - ४
६. वही, पृष्ठ - ४
७. वही, पृष्ठ - ४

संयम पालन में समर्थ पाया तब सन् १९५७ (विक्रम संवत् २०१४) में खानियाँ (जयपुर) में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से प्रथम मुनिशिष्य के रूप में दीक्षा ग्रहण की और मुनि श्री ज्ञानसागर जी के नाम से प्रसिद्ध हुए।[1] इस समय भी मुनि श्री की अध्ययन के प्रति रुचि चरमसीमा पर थी। अतएव वे संघस्थ ब्रह्मचारी, व्रतियों एवं क्षुल्लक आदि को ग्रन्थ पढ़ाते थे। अध्यापन के प्रति रुचि देखकर सहज ही उनको संघ का उपाध्याय बना दिया गया।[2] वयोवृद्ध होते हुए भी धर्मप्रभावना हेतु उन्होंने राजस्थान में विहार किया। वहाँ नगर-नगर भ्रमण कर धर्मोपदेश दिया। उनके प्रवचनों से प्रभावित होकर अनेक लोगों के जीवन में धर्म का प्रवेश हुआ।

सन् १९६५ में मुनि श्री ज्ञानसागर जी ने अजमेर नगर में चातुर्मास किया। यहीं पर जयोदय की स्वोपज्ञ टीका लिखी।[3] तत्पश्चात् विहार करते हुए वे ब्यावर पहुँचे। उनके आगमन से वहाँ की जनता में हर्ष की लहर दौड़ गई। समाज के आग्रह पर तीन मास तक ब्यावर रहे। यहीं पर पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री के प्रयत्नों से "मुनि श्री ज्ञानसागर ग्रन्थमाला" की स्थापना हुई और मुनि श्री द्वारा रचित दयोदय, वीरोदय, जयोदय आदि काव्य ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। आचार्य श्री ज्ञानसागर मुनि महाराज के द्वारा जयोदय महाकाव्य का टीका सहित संशोधन राजस्थान प्रान्त के मदनगंज किशनगढ़ नगर मे स्थित चन्द्रप्रभ जिनालय में कार्तिक शुक्ल तृतीया विं. सं. २०२८ शुक्रवार को किया था।

शिष्यवृन्द

मुनि श्री के अगाध ज्ञान एवं प्रखर तप से प्रभावित होकर अनेक आत्मार्थियों ने उनका शिष्यत्व प्राप्त किया और मनुष्य पर्याय को सफल बनाया। उनके प्रमुख शिष्यों के नाम हैं -- मुनि श्री विद्यासागर जी, मुनि श्री विवेकसागर जी, ऐलक श्री सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक श्री सुखसागर जी, क्षुल्लक श्री आदिसागर जी, क्षुल्लक श्री विजयसागर जी, क्षुल्लक सम्भवसागर जी तथा क्षुल्लक श्री स्वरूपानन्द जी।

इनमें आचार्य श्री विद्यासागर जी वर्तमान युग के सर्वाधिक लब्ध ख्यात मुनि हैं। आपने अपने गुरु के ही सदृश्य "मूक माटी" महाकाव्य, नर्मदा का नरम कंकर, तोता क्यों रोता ?, डूबो मत/लगाओ डुबकी, काव्य श्रमण शतक, भावना शतक, निरञ्जन शतक, परीषहजय शतक, सुनीति शतक आदि अनेक संस्कृत एवं हिन्दी शतकों तथा विभिन्न साहित्य का सृजन किया है एवं उसी में रत हैं।

---

१ (अ) डॉ. रतनचन्द्र जैन, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का जीवन वृत्तांत, कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन, पृ.५
(ब) जयोदय पूर्वार्ध, ग्रन्थकर्ता का परिचय, पृष्ठ - १३
(स) आचार्य ज्ञानसागर का १२वाँ समाधि दिवस, पृ.६

२. वीरोदय मासिक पृष्ठ - १

३. बाहुबली सन्देश, पृष्ठ - ३५

आचार्य पद

फाल्गुन कृष्ण पंचमी, वि. सं. २०२५, शुक्रवार, ७ फरवरी सन् १९६९ को नसीराबाद, जिला अजमेर (राजस्थान) की जैन समाज ने आपको आचार्य पद से अलंकृत किया, उसी दिन मुनि श्री विवेकसागर जी ने आपसे दीक्षा ग्रहण की ।

स्व - परकल्याण करते हुए आचार्य श्री ज्ञानसागर जी लगभग ८० वर्ष के हो गये, किन्तु उनके अध्ययन-अध्यापन पर अवस्था का कोई प्रभाव न पड़ा । उनके संघ में अध्ययन-अध्यापन का कार्यक्रम वर्तमान युग के अध्यापक एवं अध्येता के लिए आश्चर्यकारक है । आचार्य श्री के संघ में अध्ययन का कार्यक्रम उदाहरणतः ग्रीष्मकाल में इस प्रकार था-

१- प्रात. ५.३० से ६.३० तक अध्यात्म तरंगिणी और समयसार कलश

२- प्रातः ७ से ८ बजे तक प्रमेयरत्नमाला ।

३- प्रातः ८ से ९ तक समयसार ।

४- प्रातः १०. ३० से ११.३० तक अष्टसहस्री ।

५- मध्याह्न १ से २ तक कातन्त्ररूपमाला व्याकरण ।

६- मध्याह्न ३ से ४ तक पंचास्तिकाय ।

७- सायं ४ से ५ तक पंचतन्त्र ।

८- सायं ५ से ६ तक जैनेन्द्र व्याकरण ।[१]

महाकवि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी का हस्तलेख सुन्दर एवं स्पष्ट था । वे आचार्य पद पर आसीन होते हुए भी ख्याति, लाभ आदि से पूर्णरूपेण दूर रहते थे । यही कारण है कि उनके समाधिमरण के पश्चात् जयोदय महाकाव्य की स्वोपज्ञ टीका [पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्ध दो भागो में] तथा मुनि मनोरंजनाशीति [मुनि मनोरंजन शतक] प्रकाशित हो सके हैं ।

चारित्र चक्रवर्ती पद

सन् १९७२ में आचार्य श्री ज्ञानसागर जी का चातुर्मास नसीराबाद में हुआ । यहीं पर आचार्य श्री से २० अक्टूबर १९७२ को स्वरूपानन्दजी ने क्षुल्लक दीक्षा अंगीकार की। इस अवसर पर जैन समाज ने आपको चारित्र चक्रवर्ती पद से सम्बोधित कर अपना श्रद्धातिरेक एवं प्रगाढ़ भक्तिभाव अभिव्यक्ति किया ।[२]

१. जैन सिद्धान्त (मासिक) जुलाई १९७०, पृष्ठ - ३

२. डॉ. रतनचन्द जैन, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का जीवन वृत्तान्त, कर्त्तव्यपथ प्रदर्शन, पृष्ठ - ५

समाधिमरण

ज्ञान एवं तप में युवा आचार्य श्री ज्ञानसागर जी का शरीर वृद्धावस्था के कारण क्रमशः क्षीण होने लगा। गठिया के कारण सभी जोड़ों में अपार पीड़ा होने लगी। इस स्थिति में उन्होंने स्वयं को आचार्य पद का निर्वाह करने में असमर्थ पाया और जैनागम के नियमानुसार आचार्य पद का परित्याग कर सल्लेखना व्रत ग्रहण करने का दृढ़ निश्चय किया। अपने संकल्प को कार्यरूप में परिणति करने हेतु उन्होंने नसीराबाद में मगसिर कृष्ण दूज वि. सं. २०२९, बुधवार, २२ नवम्बर १९७२ को लगभग २५००० जनसमुदाय के समक्ष अपने योग्यतम शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी से निवेदन किया - "यह नश्वर शरीर धीरे-धीरे क्षीण होता जा रहा है, मैं अब आचार्य पद छोड़कर पूर्णरूपेण आत्मकल्याण में लगना चाहता हूँ। जैनागम के अनुसार ऐसा करना आवश्यक और उचित है, अतः मैं अपना आचार्य पद तुम्हें सौंपता हूँ।"

आचार्य श्री के इन शब्दों की सहजता एवं सरलता तथा उनके असीमित मार्दव गुण से मुनि श्री विद्यासागर जी द्रवित हो उठे। तब आचार्य श्री ने उन्हें अपने कर्त्तव्य, गुरु-सेवा, भक्ति और आगम की आज्ञा का स्मरण कराकर सुस्थिर किया। उच्चासन का त्याग कर उस पर मुनि श्री विद्यासागर जी को विराजित किया। शास्त्रोक्त विधि से आचार्य पद प्रदान करने की प्रक्रिया सम्पन्न की।

अनन्तर स्वयं नीचे के आसन पर बैठ गये। उनकी मोह एवं मानमर्दन की अद्भुत पराकाष्ठा चरम सीमा पर पहुँच गयी। अब मुनि श्री ज्ञानसागर जी ने अपने आचार्य श्री विद्यासागर जी से अत्यन्त विनयपूर्वक निवेदन किया -

"भो गुरुदेव ! कृपां कुरु।[1]

" हे गुरुदेव ! मैं आपकी सेवा में समाधि ग्रहण करना चाहता हूँ। मुझ पर अनुग्रह करें।" आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अत्यन्त श्रद्धाविह्वल अवस्था में उनको सल्लेखना व्रत ग्रहण कराया। मुनि श्री ज्ञानसागर जी सल्लेखना व्रत का पालन करने के लिए क्रमशः अन्न, फलों के रस एवं जल का परित्याग करने लगे। २८ मई १९७३ को आहार का पूर्ण रूपेण त्याग कर दिया। वे पूर्ण निराकुल होकर समता भाव से तत्त्व चिन्तन करते हुए आत्मरमण में लीन रहते। आचार्य श्री विद्यासागर जी, ऐलक सन्मतिसागर जी एवं क्षुल्लक स्वरूपानन्दजी

---

१. पुष्पांजलि पृष्ठ - ८

निरन्तर अपने पूर्व आचार्य के समीप रहकर तन्मयता व तत्परता से सेवा करते, सम्बोधित करते थे।

ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या, 1 जून 1973 का दिन, समाधिमरण का पाठ चल रहा था। चारों ओर परम शान्ति थी। "ॐ नमः सिद्धेभ्य" का उच्चारण हृदयतन्त्री को झंकृत कर रहा था। उसी समय आत्मलीन मुनि श्री ज्ञानसागर जी ने प्रातः 10 बजकर 50 मिनिट पर पार्थिव देह का परित्याग कर दिया।[1]

: सर्जना :

महाकवि ने संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में अनेक ग्रन्थों का सृजन कर इन भाषाओं के साहित्य भण्डार को समृद्ध किया है। उनकी यशस्वी लेखनी से प्रसूत साहित्य इस प्रकार है

संस्कृत साहित्य

(क) महाकाव्य (1) जयोदय, (2) वीरोदय (3) सुदर्शनोदय तथा (4) भद्रोदय [समुद्रदत्त चरित्र]।

(ख) चम्पू काव्य दयोदय चम्पू।

(ग) मुक्तक काव्य (1) मुनिमनोरञ्जनाशीति (2) ऋषि कैसा होता है, (3) सम्यक्त्वसार शतक।

(घ) छायानुवाद प्रवचनसार प्रतिरूपक।

हिन्दी साहित्य

(क) महाकाव्य (1) ऋषभावतार, (2) भाग्योदय, (3) गुणसुन्दर वृत्तान्त।

(ख) गद्य (1) कर्तव्यपथ प्रदर्शन, (2) मानव धर्म (3) सचित्त विवेचन, (4) स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म।

(ग) पद्य – (1) पवित्र मानव जीवन, (2) सरल जैन विवाह विधि

(घ) टीका ग्रन्थ - तत्त्वार्थदीपिका (तत्त्वार्थ सूत्र पर)

(ङ) अनुवाद - (1) विवेकोदय (समयसार का पद्यानुवाद), (2) देवागम स्तोत्र का पद्यानुवाद, (3) नियमसार का पद्यानुवाद, (4) अष्टपाहुड का पद्यानुवाद, (5) समयसार तात्पर्यवृत्ति का हिन्दी अनुवाद

---

1. बाहुबली सन्देश, पृष्ठ - 16

संस्कृत कृतियाँ

जयोदय महाकाव्य

अट्ठाइस सर्गों वाला यह विशाल महाकाव्य है ।[1] इस महाकाव्य का सारांश अग्रिम सर्ग में दिया जावेगा ।

वीरोदय महाकाव्य

महाकवि भूरामलजी ने वीरोदय महाकाव्य में तीर्थंकर महावीर का जीवनचरित्र प्रस्तुत किया है । इस काव्य में बाईस सर्ग हैं । प्रत्येक सर्ग का संक्षिप्त कथ्य इस प्रकार है-

काव्य के प्रथम सर्ग में महाकवि भूरामल जी ने महावीर के जन्म से पूर्व भारत की सामाजिक एवं धार्मिक दुर्दशा का मार्मिक चित्रण किया है ।

द्वितीय सर्ग में बतलाया गया है कि भारतवर्ष के छह खण्ड हैं । इनमें आर्यखण्ड सर्वोत्तम है । इसी आर्य खण्ड में स्वर्गोपम विदेह देश है । इस देश में कुण्डनपुर नामक नगर सर्वाधिक समृद्धशाली है।

तृतीय सर्ग में कुण्डनपुर के शासक सिद्धार्थ एवं रानी प्रियकारिणी के रूप-सौन्दर्य, गुणवैशिष्ट्य आदि का मनोहारी चित्रण हुआ है ।

चतुर्थ सर्ग में कवि ने आनन्ददायक पावस ऋतु का वर्णन किया है । इसी ऋतु के सुखद वातावरण में एक दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में रानी प्रियकारिणी सोलह स्वप्न देखती है । इन सोलह स्वप्नों में वे निम्नलिखित वस्तुयें देखती हैं -

ऐरावत हाथी, वृषभ, सिंह, गजों के द्वारा अभिषेक की जाती लक्ष्मी, दो मालाएं जिन पर भ्रमर गुंजन कर रहे हैं, चन्द्रमा, सूर्य, जल से परिपूर्ण दो कलश, जल में क्रीड़ा करती हुई दो मछलियाँ, एक हजार आठ कमलों से युक्त सरोवर, समुद्र, सिंहासन, देवविमान, मन्दिर, रत्नों की राशि एवं निर्धूम-अग्नि ।

प्रातःकाल वे अपने पति से स्वप्नों का अर्थ पूछतीं हैं । वे स्वप्न में दृश्यमान् प्रत्येक वस्तु का पृथक्-पृथक् अर्थ बतलाते हैं, जिसका सारांश यह है कि तुम्हारे गर्भ मे एक ऐसा पुत्र अवतरित होगा जो धीर, वीर, गम्भीर, गुणवान्, महादानी एवं जगत् का प्रिय होगा ।

---

१. (अ) इस ग्रन्थ का दूसरा नाम सुलोचना स्वयंवर भी है । जयोदय, २८/१०८

(ब) इस ग्रन्थ का सृजन श्रावण सुदी पूर्णिमा, विक्रम सवत् १९८३ (सन् १९२६) को हुआ था । जयोदय २८/१०९

वह तीर्थंकर बन कर स्व-पर का कल्याण करेगा। रानी यह सुनकर अति हर्षित होती है।

वर्धमान के गर्भ मे आने पर स्वर्ग मे आयी छप्पनकुमारी देवियाँ माता की निरन्तर सेवा करती है। वे उनका मनोरंजन करने के साथ ही अनेक प्रश्नों को पूँछकर अपने ज्ञान का संवर्धन करती है। इसे सरल सुबोध भाषा मे पचम सर्ग मे कवि ने स्पष्ट किया है।

षष्ठ सर्ग मे त्रिशलादेवी की गर्भकालिक दशा का चित्रण है एवं बसन्त ऋतु के सौन्दर्य का आलंकारिक वर्णन पाठको को रस विभोर कर देता है।

सप्तम सर्ग मे बालक वर्धमान के जन्म एवं जन्मोत्सव का वर्णन है। जन्म के समय स्वर्ग मे इन्द्रादि देवगणो के आगमन का, इन्द्राणी द्वारा किये गये कार्यो का, सुमेरुपर्वत पर क्षीरसागर के जल मे कुमार वर्धमान के अभिषेक आदि का सजीव वर्णन किया गया है।

अष्टम सर्ग मे कवि ने वर्धमान की बाललीलाओं और कुमार क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। इसी सर्ग मे बतलाया गया है कि बालक वर्धमान कुमार अवस्था पार कर युवा हो जाते है। राजा सिद्धार्थ अपने पुत्र वर्धमान के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखते है। पर वे उसे अस्वीकार कर देते है। यह घटना उनकी जन्मजात लोकोद्धारक मनोवृत्ति की द्योतक है।

नवम सर्ग मे वर्धमान संसार की दुर्दशा विषयक चिन्तन करते है। उनके हृदय में संसारी प्राणियो की तात्कालिक स्थिति को देखकर जो विचार उत्पन्न होते है, वे अत्यन्त मार्मिक एव हृदयद्रावक है। युवा वर्धमान स्वार्थलिप्सा, हिंसा, अधर्म, व्यभिचार आदि समाज मे पल रही सभी प्रकार की बुराइयो को दूर करने का दृढ़ निश्चय करते है। इसी समय शरद ऋतु का आगमन होता है।

दशम सर्ग मे वर्धमान के वैराग्य एव तपकल्याण का मनोहारी वर्णन हुआ है। ऋतु परिवर्तन से वर्धमान को संसार की क्षणभंगुरता का ज्ञान होता है जिससे उनमे वैराग्य-भाव उदित हो जाता है। स्वर्ग से लौकान्तिक देव आकर उनके वैराग्यभाव का अनुमोदन करते है। वैराग्यरस मे पगे हुए वर्धमान गृह संसार का परित्याग कर वन मे जाते है। वहाँ वस्त्राभूषण त्याग कर पञ्चमुष्टि केशलुञ्च करते है और दिगम्बर दीक्षा अंगीकार कर लेते है।

एकादश सर्ग में बतलाया गया है कि तपस्या करते हुए उन्हें अपने पूर्व-जन्मों का ज्ञान हो जाता है। इस घटना से उन्हें संसार परिभ्रमण का कारण समझ में आता है और उससे बचने के लिए बाह्य परिग्रहादि एवं आन्तरिक मद-मत्सरादि दुर्भावों का परित्याग करना आवश्यक मानते हैं।

द्वादश सर्ग में ग्रीष्म ऋतु का आलंकारिक भाषा में मनोरम चित्रण किया गया है। इसी ऋतु में वैशाख शुक्ला दशमी के दिन मुनि महावीर को कैवल्यज्ञान प्राप्त होता है। इसके प्रभाव से दस अतिशय प्रकट होते हैं। इन्द्रादि देवगण स्वर्ग से आते हैं और समवशरण सभामण्डप का निर्माण करते हैं।

त्रयोदश सर्ग में समवशरण सभा की रचना का विशद चित्रण है। तीर्थंकर भगवान् समवशरण के मध्य गन्धकुटी में कमलासन से चार अंगुल ऊपर अन्तरिक्ष में विराजते हैं। वहाँ आठ प्रातिहार्य और चौदह देवकृत अतिशय प्रकट होते हैं। वेद वेदांग का ज्ञाता इन्द्रभूति गौतम ब्राह्मण नगरनिवासियों एवं स्वर्ग के देवगणों को समवशरण सभा में जाते देखता है। वह भी वहाँ पहुँचता है और सभा देखकर आश्चर्यचकित हो जाता है। तीर्थंकर के समीप आते ही गौतम का अहंकार नष्ट होता है। वह उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेता है। इसी समय उसके निमित्त से भगवान् की दिव्यदेशना प्रारम्भ होती है। भगवान् सत्य अहिंसा, त्याग आदि का उपदेश देते हैं।

चतुर्दश सर्ग में बतलाया गया है कि इन्द्रभूति गौतम के सभी शिष्य तीर्थंकर महावीर का शिष्यत्व अंगीकार करते हैं। इस सर्ग में प्रधानतया तीर्थंकर के ग्यारह गणधर, उनके जन्मस्थान, माता-पिता, परिवार का वर्णन किया गया है। भगवान् महावीर के धर्मोपदेश से सभी जीव अपना वैर विरोध भूलकर हित चिन्तन में रत होते हैं।

इन्द्रभूति गौतम गणधर तीर्थंकर की वाणी को पूर्णरूपेण ग्रहणकर द्वादशांग रूप में विभाजित करते हैं। मागध जाति के देव उस वाणी को प्रसारित करते हैं। भगवान् महावीर के उपदेशों को समझ कर प्रायः सभी जैनधर्म स्वीकार कर लेते हैं। यह पचदश सर्ग का विवेच्य है।

षोडश सर्ग में महावीर के लोक कल्याणकारी उपदेशों अहिंसा, सत्य, साम्यवाद, स्याद्वाद आदि का हृदयस्पर्शी वर्णन हुआ है।

सप्तदश सर्ग में मानवता की व्याख्या की गई है। "मानव आत्मोन्नति किस प्रकार कर सकता है," इस विषय का सुन्दर विवेचन किया गया है।

अष्टादश सर्ग में कवि ने सतयुग का वैशिष्ट्य निरूपित किया है। अनन्तर समय की शक्ति की बलवत्ता प्रतिपादित की गयी है। समय के प्रभाव से सतयुग त्रेतायुग में परिणत होता है। इस समय भरत क्षेत्र में चौदह कुलकर जन्म लेते हैं। इनमें अन्तिम कुलकर

नाभिराय हुए । जिनकी रानी मरुदेवी से पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है । इस पुत्र का नाम वे ऋषभदेव रखते है । कर्मभूमि का आरम्भ होने पर यही राजा ऋषभदेव प्रजा को असि, मसि, कृषि आदि षट्कर्मो की शिक्षा देते है । इस सर्ग मे गृहस्थ धर्म एव मुनिधर्म का विवेचन भी हुआ है ।

एकोनविंश सर्ग मे कवि ने स्याद्वाद, सप्तभग अनेकान्त, षड्द्रव्यो के स्वरूप, जीवो के भेद प्रभेद आदि गूढ दार्शनिक तत्वो का सरल भाषा मे विवेचन कर उसे हृदयगम बना दिया है ।

विंशतितम सर्ग मे अनेक युक्तियो द्वारा अतीन्द्रिय ज्ञान का अस्तित्व एव उसके धारक सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है ।

शरदऋतु का वर्णन एव कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी को रात्रि के अन्तिम प्रहर मे भगवान् महावीर को मोक्ष प्राप्त होना एकविंश सर्ग का प्रतिपाद्य है ।

अन्तिम द्वाविंश सर्ग मे बतलाया गया है कि महावीर के निर्वाण के अनन्तर जैनधर्म की स्थिति पूर्ववत् नही रहती । उसमे अनेक भेद प्रभेद बनने लगते है । जैन धर्म का ह्रास होने लगता है जिससे कवि को हार्दिक दु:ख पहुँचता है । अन्त मे कवि अपनी लघुता निवेदित करते हुए मगलकामना करते है -

नीतिर्वीरोदयस्येयं स्फुरद्रीतिश्च देहिने ।
वर्धतां क्षेममारोग्यं वात्सल्यं श्रद्धया जिने ॥ २२/४३ ॥

प्रस्तुत महाकाव्य भगवान् महावीर के ब्रह्मचर्य एव तपस्या पर आधारित है । कवि ने काव्य के माध्यम से ब्रह्मचर्य एव चारित्रिक दृढता की शिक्षा दी है । काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यह उच्चकोटि का महाकाव्य है । इस काव्य का नायक वीर, अतिवीर ही नही, महावीर है । काव्य का महदुद्देश्य नि:श्रेयस् की प्राप्ति है । कवि ने विभिन्न रसो एव प्रकृति आदि का मनोहारी चित्रण किया है । जीवन के विविध पक्षो का उद्घाटन कर सच्चरित्र की प्रतिष्ठा की है ।

इस प्रकार यह महाकाव्य तो है ही, इसमें जैन इतिहास और पुरातत्व के दर्शन भी होते है । धर्म के स्वरूप का वर्णन होने से यह धर्मशास्त्र भी है । स्याद्वाद और अनेकान्त का विवेचन होने से न्यायशास्त्र है । अनेक शब्दो का संग्रह होने से यह शब्दकोश भी है ।

संक्षेप मे इस काव्य का अध्ययन करने पर महावीर चरित्र के साथ जैनधर्म और दर्शन का परिचय भी प्राप्त होता है । काव्यसुधा का आस्वादन तो सहज होना ही है ।

इसलिए कवि ने स्वयं इस काव्य को "त्रिविष्टपं काव्यमुपैम्यहन्तुं" कह कर साक्षात् स्वर्ग माना है।

सुदर्शनोदय महाकाव्य

कवि भूरामलजी द्वारा रचित इस काव्य में ब्रह्मचर्य के लिए प्रसिद्ध सेठ सुदर्शन के चरित्र का वर्णन है। इस काव्य में नौ सर्ग हैं। काव्य की कथावस्तु इस प्रकार है -

अंगदेश की चम्पापुरी नगरी में धात्रीवाहन नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम अभयमती था। वह अत्यन्त रूपवती किन्तु कुटिल स्वभाव की थी। इसी नगर में श्रेष्ठिवर्य वृषभदास निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम जिनमति था। वह सुशील एवं रूपवती थी। एक बार रात्रि के अन्तिम प्रहर में वह पाँच स्वप्न देखती है - जिनमें उसे क्रमशः सुमेरु पर्वत, कल्पवृक्ष, मोतियों से परिपूर्ण समुद्र, निर्धूम अग्नि एवं आकाश में विहार करता हुआ विमान दिखाई देता है। प्रातःकाल वह अपने पति के साथ जिनमन्दिर जाती है। वहाँ विराजमान मुनि से अपने स्वप्नों का अभिप्राय पूछती है। मुनिराज वृषभदास को बतलाते हैं कि तुम्हारी भार्या होनहार पुत्र को जन्म देगी। ये स्वप्न उस पुत्र के गुणधर्मों का संकेत करते हैं। तुम्हारा पुत्र सुमेरु के समान अति धीर होगा, कल्पवृक्ष के तुल्य दानवीर, समुद्र जैसा गुणरत्नों का भण्डार तथा विमान के समान स्वर्गवासी देवों का वल्लभ (प्रिय) होगा। अन्त में निर्धूम अग्नि की तरह कर्मरूप ईंधन को भस्मसात् कर मोक्ष प्राप्त करेगा।

मुनिराज की उत्तम वाणी सुनकर वे अति प्रसन्न होते हैं। नव मास व्यतीत होने पर जिनमति के उत्तम लक्षणों से युक्त पुत्र उत्पन्न होता है। माता-पिता पुत्र का नाम सुदर्शन रखते हैं। उसे सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती है।

इसी नगर में "सागरदत्त" नामक वैश्यपति रहता था। उसके अति सुन्दर मनोरमा नाम की पुत्री थी। सुदर्शन और मनोरमा एक दूसरे को देखते हैं और अनुरक्त हो जाते है। उनके माता -पिता दोनों का विवाह कर देते हैं। इसके बाद वृषभदास जिनदीक्षा धारण कर तप करने लगते हैं।

एक बार राजपुरोहित ब्राह्मण की पत्नी कपिला राजमार्ग से जाते हुए सुदर्शन को देखकर उस पर मोहित हो जाती है। वह दूती के द्वारा पति के अस्वस्थ होने के बहाने सुदर्शन को घर बुलाती है। उससे अपनी कामवासना पूर्ण करने के लिए कहती है। तब चतुर सुदर्शन स्वयं को नपुंसक बता कर उससे छुटकारा प्राप्त करता है।

एक बार बसन्त ऋतु में सभी नगर निवासी वनक्रीड़ा के लिये जाते हैं। रानी अभयमती भी अपनी धाय और राजपुरोहित की पत्नी कपिला के साथ वनक्रीड़ा के लिए जाती है। व ' में एक सुन्दर बालक के साथ सुदर्शन की पत्नी मनोरमा को देखती है। रानी, कपिला से उसके विषय में पूछती है तब कपिला तिरस्कार के साथ कहती है - "कहीं नपुंसक के भी पुत्र होते हैं ?" रानी के पूछने पर कपिला आप बीती कहानी रानी को सुना देती है। हँसते हुए रानी कहती है अरी कपिले, सुदर्शन ने तुझे मूर्ख बनाया है। तब अपनी झेंप मिटाती हुई कपिला बोली यदि ऐसी बात है तो आप सुदर्शन को अपने वश में कर चतुराई का परिचय दीजिये। रानी उसकी बात स्वीकार कर लेती है।

वनक्रीड़ा से वापिस आकर रानी अपना अभिप्राय पंडिता धाय से कहती है। धाय रानी को बहुत समझाती है पर वह अपनी जिद पर अड़ जाती है। अन्त में धाय मनुष्य के आकार के मिट्टी के पुतले बनवाती है। रात्रि में एक पुतले को वस्त्र से ढककर राजभवन में ले जाती है। वह द्वारपाल के रोकने पर भी नहीं रुकती। द्वारपाल का धक्का खाकर पुतले को जमीन पर पटक कर रोने लगती है और कहती है - अब महारानी पुतले के दर्शन किये बिना पारणा कैसे करेंगी ? उसकी बात सुनकर भयभीत द्वारपाल अपनी भूल की क्षमा माँगता है। अपना मार्ग निर्विघ्न समझकर वह धाय प्रतिदिन रात्रि में एक पुतला राजभवन में लाती है। आठवें दिन वह साक्षात् सुदर्शन सेठ को श्मशान में ध्यान करते समय अपनी पीठ पर लाद कर और वस्त्र से ढककर रानी के महल में ले आती है। रानी सुदर्शन को देखकर प्रसन्न होती है। वह रात भर सुदर्शन को चरित्र से विचलित करने के अनेक प्रयत्न करती है। पर वह पाषाण मूर्ति के समान अचल रहता है। सुबह होने पर अपने कलंकित होने के भय से रानी सुदर्शन पर अपने सतीत्व हरण के प्रयत्न का आरोप लगा कर बन्दी बनवा देती है। राजा सुदर्शन को प्राणदण्ड की आज्ञा देते हैं। चाण्डाल सुदर्शन को श्मसान में ले जाकर जैसे ही उन पर तलवार का प्रहार करता है वह उनके गले में पुष्पहार के रूप में परिणत हो जाती है। देवगण सुदर्शन के शीलव्रत की प्रशंसा करते हुए पुष्पवर्षा करते हैं। यह सुनकर राजा सुदर्शन के पास आकर अपनी भूल की क्षमा माँगता है और उसे अपना राज्य भेंट करता है। तब सुदर्शन कहता है - राजन् ! इसमें आपका दोष नहीं है। यह मेरे पूर्वकृत कर्म का फल है। मैंने पंडिता धाय के द्वारा राजमहल में लाये जाते समय प्रतिज्ञा कर ली थी कि यदि मैं इस विपत्ति से बच गया तो मुनिदीक्षा ग्रहण कर लूँगा। अतः राज्य स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। सुदर्शन मुनिदीक्षा ग्रहण कर लेता है। उसकी पत्नी मनोरमा भी आर्यिका बन जाती है।

इधर जब रानी को अपना रहस्य खुलने की बात ज्ञात होती है तो वह फाँसी लगाकर आत्महत्या कर लेती है । मृत्यु के बाद वह व्यन्तरी देवी बनती है । पंडिता धाय राजा के भय से भाग कर पाटलिपुत्र की प्रसिद्ध वैश्या देवदत्ता की शरण में जाती है । वहाँ वह अपनी सारी कहानी सुनाकर कहती है - इस संसार में सुदर्शन ही सर्वांग सुन्दर पुरुष है, जिसे कोई भी स्त्री डिगाने में समर्थ नहीं है । यह सुनकर देवदत्ता बोली - एक बार यदि वह मेरे जाल में फँस गया तो बचकर नही निकल सकता ।

सुदर्शन मुनिराज बिहार करते हुए एक दिन गोचरी के लिए पाटलिपुत्र नगर में पधारते हैं । उनको आते देखकर पंडिता धाय देवदत्ता को संकेत कर अपना चमत्कार दिखाने के लिए प्रेरित करती है । यह सुनकर देवदत्ता अपनी दासी को भेजकर उन्हें भोजन के लिए पड़गाहती है । मुनिराज को घर के अन्दर ला कर वह सब दरवाजे बन्द कर अपने हाव-भाव दिखाती है । किन्तु उसके वचनो और चेष्टाओं का काष्ठनिर्मित मानव पुतले के समान मुनि सुदर्शन पर कोई असर नही पड़ता । वैश्या की तीन दिन तक की गई सभी चेष्टाये निष्फल रहती हैं । तब वह अति आश्चर्य से उनकी प्रशंसा करती है । अपने अपराध की क्षमा माँगकर स्वयं के उद्धार के लिए निवेदन करती है । मुनिराज देवदत्ता के सद्‌भाव देखकर सदुपदेश द्वारा कल्याण का मार्ग समझाते हैं । तत्पश्चात् महामुनिराज सुदर्शन श्मसान में जाकर कायोत्सर्ग धारण कर आत्मध्यान में निमग्न हो जाते हैं ।

एक समय व्यन्तरी देवी (पूर्व जन्म की रानी अभयमती) आकाशमार्ग मे विहार करती हुई जाती है । मार्ग में ध्यानस्थ सुदर्शन को देखते ही उसे अपना पूर्वभव याद आ जाता है । वह बदला लेने की भावना से उन पर सात दिन तक घोर उपसर्ग करती है परन्तु उन्हें ध्यान से विचलित नहीं कर पाती । चार घातिया कर्मों के क्षय होने से मुनिराज को केवलज्ञान प्राप्त होता है । देव आठ प्रातिहार्यों की रचना करते है । सभी उनकी पूजा वन्दना करने आते हैं । देवदत्ता, पंडिता धाय तथा व्यंतरी देवी भी उनकी वन्दना हेतु आती है । मुनिराज के उपदेश सुनकर सभी अपने योग्य व्रत आदि धारण करते हैं । सुदर्शन केवली कर्मों का क्षय कर मोक्ष जाते है ।

इस प्रकार नौ सर्गों वाला यह महाकाव्य ब्रह्मचर्यनिष्ठा का जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है । इसका नायक सुदर्शन श्रेष्ठी धीरोदात्त है । वैदर्भी रीति से प्रवहमान इस काव्य प्रवाह में सहृदयों के मानस-मीन विलासपूर्वक उन्मज्जन-निमज्जन करने लगते हैं । अनुप्रास, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, विरोधाभास आदि अलंकार इसे विभूषित करते हैं । महाकाव्य

के अनुकूल नगरवर्णन, नायिका वर्णन, निसर्ग वर्णन, राज्यवर्णन आदि सहजरूप से इस काव्य में यथास्थान प्रसंगानुसार गूंथे गये है । इसमें जैन आचार और दर्शन के सिद्धान्त कान्तासम्मि शैली में पिरोये गये है । प्रस्तुत काव्य में शान्तरस की प्रधानता है । शृंगार, करुण आदि अन्य रस इसके सहायक है ।

साहित्य जब संगीत से सम्पृक्त होता है तब उसकी रमणीयता द्विगुणित हो जाती है । इस कृति में विभिन्न राग-रागनियों से निबद्ध पद्य भी है, जैसे - प्रभाती, रसिकनामराग, काफीहोलिकाराग, श्यामकल्याणराग, सारंगराग, सौराष्ट्रीयराग, कव्वाली आदि । ऐसी विशेषताये अन्य काव्यों म प्रायः दुर्लभ होती हैं ।

भद्रोदय

इसका अपरनाम "समुद्रदत्तचरित" है । यह ऐसा काव्य है जिसमें महाकाव्य और चरितकाव्य दोनो की विशेषतायें साथ साथ दृष्टिगोचर होती है । नौ सर्गों वाले इस काव्य में सत्य धर्म के पालन से भद्रदत्त के उदय अर्थात् उसके आत्मा से परमात्मा बन जाने का वर्णन है तथा इसके अध्ययन से आत्मपरिणाम भी भद्र होते है, अतः इसका "भद्रोदय" नाम सार्थक है ।

प्रस्तुत काव्य के प्रथम चार सर्गों मे महाकवि ने भद्रदत्त के वर्तमान जन्म तथा अन्तिम पाँच सर्गो में भावी जन्मो का वर्णन कर आत्मा से परमात्मा बनने की विधि का निरूपण किया है । कथानक इस प्रकार है -

भारतवर्ष मे श्रीपदमखण्ड नामक नगर है । वहाँ सुदत्त नामक वैश्य एवं उसकी सुमित्रा नामक पत्नी को पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है, जिसका नाम वे भद्रमित्र रखते हैं । वह अपने नाम के अनुरूप ही सरल परिणामी, रूपवान् एवं गुणवान् था । वह मित्रों की सलाह से उनके साथ धनार्जन हेतु रत्नद्वीप जाता है । वहाँ वह सात रत्न क्रयकर सिहपुर पहुँचता है ।

उस समय सिहपुर का शासक सिहसेन था । उसकी रानी का नाम रामदत्ता था । राजा के मन्त्री का नाम श्रीभूति था । उसने अपने गले में डले हुए यज्ञोपवीत में एक चाकू इसलिए बाँध रखा था कि यदि वह कभी भूल से झूठ बोल गया तो उसी चाकू से अपना प्राणान्त कर लेगा । इस कार्य के कारण वह "सत्यघोष" नाम से प्रसिद्ध हो जाता है ।

सिंहपुर नगर के सौन्दर्य से आकर्षित होकर एवं सत्यघोष की सत्यवादिता से प्रभावित होकर भद्रमित्र सपरिवार वहीं रहने का निश्चय करता है। वह सत्यघोष के समीप सात रत्न धरोहर के रूप में रख कर माता-पिता को लेने जाता है। वापिस आकर वह सत्यघोष से अपने रत्न माँगता है। पर सत्यघोष उसे पहचानने एवं रत्न दिये जाने की बात अस्वीकार करता है। भद्रमित्र अपनी बात को प्रमाणित करने का प्रयास करता है पर असफल होता है। राज दरबार में भी उसे न्याय नहीं मिल पाता।

न्याय न मिलने से निराश भद्रमित्र प्रतिदिन सवेरे एक वृक्ष पर चढ़कर सत्यघोष की झूठी कीर्ति की निन्दा करता एवं उसकी प्रतिष्ठा नष्ट होने का शाप देता है। भद्रमित्र के प्रतिदिन के विलाप को सुनकर एक दिन रानी रामदत्ता, राजा से कहती है - यह पुरुष प्रतिदिन सत्यघोष की निन्दा करता है, इसमें कुछ रहस्य अवश्य है, जिसे मै ज्ञात करूँगी। संयोग से तभी श्रीभूति मन्त्री वहाँ आता है। रानी उसके साथ शतरंज खेलती है तथा शीघ्र ही पराजित कर उसके गले का चाकू, यज्ञोपवीत एवं मुद्रिका जीत लेती है। अब रानी दासी को ये तीनों वस्तुयें देकर उसे सत्यघोष के घर से परदेशी के रत्न लाने का आदेश देती है। चतुर दासी इन वस्तुओं के प्रमाण द्वारा भद्रमित्र के रत्नों की पिटारी लाकर रानी को सौंप देती है।

रानी वे रत्न राजा को दे देती है। राजा उनमें अन्य रत्न मिला देता है और भद्रमित्र से कहता है कि तुम इनमें से अपने रत्न ले लो। भद्रमित्र उनमें से अपने रत्नों को उठा लेता है। राजा उसकी सत्य-निष्ठा से प्रभावित हो राजश्रेष्ठी पद से सम्मानित करता है। सत्यघोष को मन्त्री पद से हटा कर कठोर दण्ड देते है। अपमानित होने के कारण सत्यघोष आर्तध्यान से मर कर राजा के खजाने में सर्प बनता है।

भद्रमित्र के परिणामों से निर्मलता बढ़ती है। वह अपनी सम्पत्ति का अधिकाँश भाग दान कर देता है। उसकी लोभी माँ के रोकने पर भी उसमें कोई परिवर्तन नही आता। पुत्र की दानशीलता से रुष्ट माता की आर्तध्यान पूर्वक मृत्यु हो जाती है और वह व्याघ्री का जन्म धारण करती है। एक दिन वह अपने पूर्व जन्म के पुत्र भद्रमित्र का ही भक्षण कर लेती है। शान्तपरिणामी भद्रमित्र ही राजा सिंहसेन एवं रानी रामदत्ता के यहॉ सिंहचन्द्र पुत्र के रूप में जन्म लेता है। उसका पूर्णचन्द्र नामक अनुज था।

राजा सिंहसेन की मृत्यु के अनन्तर रानी आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर लेती है। कुछ समय बाद पूर्णविधु मुनिवर का सत्समागम मिलने पर सिंहचन्द्र मुनिव्रत धारण करते हैं। वे

आयु पूर्ण कर अन्तिम ग्रैवेयक स्वर्ग में अहमिन्द्र बनते हैं ।

स्वर्ग में अपनी आयु पूर्णकर चक्रपुर नगर के शासक अपराजित एवं रानी सुन्दरी के यहाँ चक्रायुध पुत्र के रूप में जन्म लेते हैं । धूमधाम से चक्रायुध का जन्मोत्सव मनाया जाता है । युवा होने पर पॉच हजार कन्याओं से इनका विवाह होता है । इनमें चित्रमाला प्रमुख रानी थी ।

पिता के दीक्षा लेने पर चक्रायुध राज्यकार्य संभालते हैं । एक समय दर्पण में मुख देखते समय चक्रायुध की दृष्टि मस्तक के श्वेत केश पर पड़ती है । जिससे उनमें वैराग्यभाव जागरित होता है । वे अपने पुत्र को राज्य भार सौंप कर अपराजित मुनिवर से जिनदीक्षा अंगीकार कर लेते है और तप द्वारा कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

प्रस्तुत काव्य महाकाव्योचित गरिमा से युक्त है । दार्शनिकों एवं काव्यशास्त्रियों को सन्तुष्ट करने वाला यह काव्य संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है ।

दयोदय चम्पू

गद्य-पद्य से रचित इस कृति मे सात लम्ब हैं । इसमें धीवर की कथा द्वारा अहिंसाव्रत का माहात्म्य दर्शाया गया है ।

उज्जयिनी नगर में वृषभदत्त राजा राज्य करता था । वृषभदत्त के राज्य में गुणपाल नामक राजश्रेष्ठी था । एक बार गुणपाल श्रेष्ठी के द्वार पर झूठे बर्तन रखे थे । एक सुन्दर बालक (सोमदत्त) उन बर्तनो में पड़ी जूठन से अपनी क्षुधा शान्त कर रहा था । उसी समय एक मुनिराज अपने शिष्य के साथ वहाँ से निकलते है । उस बालक को देखकर वे शिष्य से कहते हैं - यह बालक गुणपाल का जामाता होगा । मुनिराज उसे पूर्व जन्म का वृत्तान्त बतलाते हैं -

अवन्ती प्रदेश में शिप्रा नदी के किनारे शिशपा नगरी में मृगसेन धीवर रहता था। उसकी पत्नी का नाम घण्टा था । एक बार वह जाल लेकर मछलियाँ पकड़ने जा रहा था। मार्ग में अवन्ती पार्श्वमन्दिर में मुनिराज के दर्शन करता है और उनसे धर्म का उपदेश सुनता है । वह उनके उपदेश से प्रभावित हो आत्मोद्धार का मार्ग पूछता है और जाल में आयी पहली मछली को जीवित छोड़ने का नियम लेता है ।

मृगसेन नियम लेकर नदी तट पर जाता है और पानी में जाल डालता है । एक बड़ी मछली के जाल में आने पर उसे चिह्नित कर वापिस जल में छोड़ देता है । अब वह

अन्य स्थानों पर जाल डालता है, हर बार वही चिह्नित मछली जाल में आती है और अपनी प्रतिज्ञानुसार वह उसे जीवित छोड़ता रहता है। शाम होने पर निराश होकर वह खाली हाथ घर आ जाता है।

प्रतीक्षारत धीवरी अपने पति को खाली हाथ आया देखकर कारण पूँछती है। वह मुनिराज के समक्ष ली गयी प्रतिज्ञा से उसे अवगत कराता है। धीवरी प्रतिज्ञा को अनुचित बतलाती है। पर वह अपने नियम पर दृढ़ रहता है। तब क्रोधावेश में आकर घण्टा अपने पति को घर से बाहर निकाल देती है।

अपमानित मृगसेन निर्जन धर्मशाला में जाकर संसार की क्षणभंगुरता के विषय में विचारते हुए लेट जाता है। तभी वहाँ आये एक सर्प के डसने से उसकी मृत्यु हो जाती है। वह श्रीदत्त सार्थवाह का पुत्र सोमदत्त बनता है।

क्रोध शान्त होने पर धीवरी पति को खोजती हुई उसी धर्मशाला में पहुँचती है। वहाँ पति को मृत देख वह अहिंसा व्रत के पालन का निश्चय करती है। इसी समय वही सर्प पुनः आ कर उसे काट लेता है। धीवरी गुणपाल के यहाँ पुत्री विषा के रूप में जन्म लेती है।

सेठ मुनिद्वय की कथा वार्ता सुनकर आश्चर्यचकित हो जाता है और सोमदत्त को मारने का निश्चय करता है। वह चाण्डाल को प्रलोभन देकर सोमदत्त को मारने का आदेश देता है। निरपराध बालक को देखकर वह उसे मारता नहीं है वरन् गाँव के बाहर नदी के तट पर स्थित एक वृक्ष के नीचे रख कर वापिस आ जाता है।

दूसरे दिन गोविन्द ग्वाले को वृक्ष के नीचे वह बालक मिलता है। गोविन्द ग्वाला एवं उसकी पत्नी धनश्री उसका लालन पालन करते है। सोमदत्त क्रमशः युवा हो जाता है। एक दिन गुणपाल राजकार्य से ग्वालो की बस्ती में आता है। वहाँ सोमदत्त को देखकर पहचान जाता है। अब वह पुनः उसे मारने का षड्यन्त्र रचता है। षड्यन्त्र के अनुसार वह गोविन्द से कहता है - तुम सोमदत्त द्वारा यह पत्र मेरे घर भिजवा दो। गोविन्द की स्वीकृति पर सोमदत्त पत्र गले के हार से बाँध कर उज्जयिनी आता है। वह नगर के समीप उद्यान में कुछ समय ठहर कर विश्राम करता है। वहीं पुष्प चयन करने आयी वसन्तसेना वैश्या सोमदत्त के गले में बँधा पत्र देखती है और उत्सुकतावश वह पत्र खोलकर पढ़ती है। वह सोमदत्त के सौन्दर्य से प्रभावित हो विचारती है गुणपाल जैसा सज्जन ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता। अवश्य ही उसमे लिखने में भूल हुई है। उसने विष नहीं, अपनी पुत्री विषा

को देने के हेतु आदेश लिखा होगा। अतः वसन्तसेना "विषं सन्दातव्यम्" के स्थान पर "विषा सन्दातव्य" लिखकर पत्र पूर्ववत् रखकर गन्तव्य स्थान पर चली जाती है।

विश्राम के अनन्तर सोमदत्त श्रेष्ठी के यहाँ जाकर उनके पुत्र महाबल को पत्र देता है। पत्र के आदेशानुसार वह विषा का विवाह सोमदत्त से कर देता है।

विषा और सोमदत्त के विवाह का समाचार सुनकर गुणपाल शीघ्र ही घर आता है। लोकाचार के कारण वह पुत्री के विवाह से हर्ष व्यक्त करता है। पर मन ही मन वह पुत्री के विधवा होने की चिन्ता न करते हुए जामाता सोमदत्त को मारने का उपाय सोचता है। वह मन्दिर में एक चाण्डाल को सोमदत्त के वध हेतु नियुक्त करता है। उसे सोमदत्त की पहचान भी बतला देता है। अब वह सोमदत्त को पूजन सामग्री देकर मन्दिर में भेजता है। सोमदत्त श्वसुर के आदेश पालन हेतु प्रस्थान करता है। मार्ग में उसे अपना साला महाबल मिलता है। वह अपने बहनोई से पूजन सामग्री ले कर उन्हें घर के लिए रवाना कर देता है और स्वयं पूजन सामग्री ले कर मन्दिर पहुँचता है, जहाँ चाण्डाल के द्वारा मारा जाता है। पुत्र के निधन एवं सोमदत्त को मारने के प्रयासों में असफल रहने पर भी गुणपाल हताश एवं निराश नहीं होता। वह सोमदत्त की हत्या के लिए अपनी पत्नी गुणश्री से चार विषमिश्रित लड्डू बनवाता है। इस बात से अनभिज्ञ विषा पिता के शीघ्र भोजन माँगने पर उन्हें वे ही दो लड्डू दे देती है। फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो जाती है। पति को मृत देखकर सेठानी गुणश्री भी शेष दो विषमिश्रित लड्डू भक्षणकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेती है।

उक्त घटना जब राजा सुनते हैं तो सोमदत्त को अपने दरबार में आमंत्रित करते हैं। वे प्रभावित हो उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर देते हैं एवं उसे आधा राज्य सौंप देते हैं।

एक दिन नगर में गोचरी हेतु पधारे मुनिराज को सोमदत्त और उसकी दोनों स्त्रियाँ आहार देती हैं। अनन्तर उनसे धर्मोपदेश श्रवणकर सोमदत्त जिनदीक्षा धारण करता है। उसकी दोनों स्त्रियाँ एवं वसन्तसेना भी आर्यिका बन जाती हैं। सभी संन्यासपूर्वक देह त्यागकर स्वर्ग में जाते हैं।

प्रस्तुत काव्य में गद्य-पद्य में पूर्ण सन्तुलन है। सरल मुहावरेदार भाषा, लम्बे वाक्यों का अभाव, अवसरानुकूल रस, अलंकारादि का प्रयोग सहृदय को भावविभोर एवं रससिक्त कर देता है।

मुनिमनोरञ्जनाशीति (मुनिमनोरञ्जन-शतक)

यह एक मुक्तक काव्य है जिसमें अस्सी पद्य हैं। इसमें दिगम्बर मुनि एवं आर्यिका की चर्या एवं विशेषताओं का विशद वर्णन है। कवि ने मुनि एवं उसके पर्यायवाची साधु, यति, वर्णी, योगी एवं तपस्वी शब्दों की निरुक्ति इस प्रकार बतलायी है -

भूयान्मौनिमनो भवोक्तिविभवादस्मान्मुनिः स्यात्तदा-
त्मानं सम्प्रति साधयेत्स्वयमितः साधुः समर्थः सदा।
दुर्भावं प्रयतेत रोद्धुमिति यो रौद्रं तथार्त यतिः,
नाग्न्येनैव न शेमुषीश पुनरप्येषाऽस्ति मे सम्मतिः ॥ ७६॥

सांसारिक वैभव से हटकर जब मनुष्य का मन मौन होता है तब वह "मुनि" कहलाता है। आत्मा की साधना करने के कारण "साधु" कहा जाता है। आर्त और रौद्र भावों को रोकने का यत्न करता है इसलिए "यति" संज्ञा पाता है। अतः हे शेमुषीश! केवल नग्न रहने से कोई मुनि नहीं होता यह मेरी सम्मति है।

तथा-

वर्णी वर्णयते किलाक्षविषयान्स्वप्नोपमा नित्यतः,
योगं यः परमात्मनाऽभिलभते योगीत्यसौ संमतः।
सम्यक्त्वेन निरीहतार्चिषि तपत्येवं तपस्वी भवे-
न्मुण्डस्यैव न मुण्डनेन भगवन्नस्मिन्धरा संस्तवे ॥ ७७॥

- जो इन्द्रिय-विषयो का स्वप्न के समान वर्णन करते है वे "वर्णी" है। परमात्मा के साथ योग सम्बन्ध की अभिलाषा रखनेवाले "योगी" होते है। सम्यग्दर्शन के साथ निःस्पृहतारूपी अग्नि में तप करने पर "तपस्वी" कहलाते है। हे भगवान्! इस धरा पर मात्र सिर के मुण्डन से कोई साधु नही बन सकता।

कवि के अनुसार मुनि का प्रमुख कर्तव्य है ज्ञान और ध्यान में निरन्तर रत रहना। इसके द्वारा ही चित्त की चंचलता रोकी जा सकती है

साम्यं काम्यमपास्य यातु न बहिश्चित्तं निसर्गाचलं,
स्थाणौ ध्यानपदाभिधेयप्रभवतातु सम्बध्य यावद्बलम्।
नो चेत्तत्परिवेष्टयेदपि पुनः स्वाध्यायनाम्नाऽमुना,
स्वाध्यायेन यतो न विप्लवमियात्साधोऽत्र तत्तेऽधुना ॥ ६३॥

कवि ने अनुकूल और प्रतिकूल दोनो परिस्थितियो में साम्यभाव धारण करना मुनि का अनिवार्य लक्षण बतलाया है -

खड्गं दर्शयतेऽपि न धरेत्कोपं कदाचिन्मुनिः,
पुष्पै र्वा चरणार्चनं विदधते न स्यात्प्रसादावनिः ।
माध्यस्थ्यं विपदीव सम्पदि वहेत्तुल्यत्वपुक् चेतसा,
सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणवृषं प्राप्तस्य चैषा दशा ॥३८॥

प्रातः और सायंकाल अपने कार्य का संशोधन करना, मध्याह्न में शरीर की स्थिति हेतु नगर में जाकर आहार ग्रहण करना, मध्यरात्रि में दो मुहूर्त तक मौन रहना, अनन्तर रात्रि में क्षणिक विश्राम करना तथा इन्द्रियों को जीतने के लिए शेष समय में स्वाध्याय करना ही साधु की दिनचर्या है -

प्रातः सायमुपाकरोतु यतिराट् संशोधनं स्वीकृते-
मध्याह्ने पुनरभ्युपैतु वसतिं सम्पतयेऽग्रस्थितेः ।
रात्रेर्मध्यमुहूर्त्तयुग्मभवतान्मौनी मनाङ्निद्रया,
स्वाध्यायेन समस्तमन्यसमयं व्यत्येतु जेतुं रयान्॥४५॥

प्रस्तुत मुक्तक काव्य उपदेशात्मक है । अतः विषय के अनुसार इसकी भाषा प्रसादगुण सम्पन्न है । दीर्घ समासों का इसमें अभाव है और श्रवण मात्र से पद्यों का अर्थ हृदयगम हो जाता है ।

ऋषि कैसा होता है?

यह लघुकाय कृति अप्रकाशित है । इसमें ४० पद्य हैं । प्रस्तुत कृति में महाकवि ने ऋषि के स्वरूप एवं चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग का निरूपण किया है ।

कवि की दृष्टि में ऋषि वह होता है जो अपने कर्त्तव्य को स्वयं सम्पादित करता है। वह अपने कार्य के लिए अन्य का सहारा नहीं लेता । ऐसा ऋषि ही महर्षि होता है । ऋषि आरम्भ-परिग्रह का पूर्ण त्यागी होता है । त्यागी होने पर भी चलने-फिरने के लिए पृथ्वी का एवं ठहरने के लिए पर्वत की गुफा आदि का आश्रय लेता है । अनुकूल स्थान पर धर्मध्यान करते हुए काल बिताता है । शरीर की स्थिति हेतु गृहस्थ के घर आहार ग्रहण करने के लिए जाता है । वह प्रतिसमय समभाव रखता है ।

सम्यक्त्वसार शतक

महाकवि द्वारा प्रणीत "सम्यक्त्वसार शतक" एक उच्च कोटि का आध्यात्मिक काव्य है । इस काव्य में जैन दर्शन के सिद्धान्तों, रहस्यों का सहज भाषा में विवेचन हुआ है । "सम्यक्त्व" जैन दर्शन की आधार शिला है । इसके अभाव में श्रावक का श्रावकत्व

एवं महान् तपस्वी का त्याग निरर्थक माना जाता है। इस कृति में सम्यक्त्व का विवेचन काव्यमय माधुर्य से हुआ है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ सम्यक्त्व की आराधना से हुआ है। सम्यक्त्व रूपी सूर्य के उदय होने पर, अन्धकार फैलानेवाली मिथ्यात्वरूपी अज्ञानरात्रि स्वयमेव विलीन हो जाती है -

सम्यक्त्वसूर्योदयभूभृतेऽहमधिश्रितोऽस्मि प्रणतिं सदैव ।
यतः प्रलीयेत तमो विधात्री भयङ्करा सा जगतोऽथ रात्रिः ॥ १॥

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है पर सुखी बनने का उपाय नहीं जानता। क्योंकि उसे यह ज्ञान नहीं है कि सुख मेरी आत्मा का गुण है तथा वह मुझमें ही है। वह बाह्य विषयों में सुख मानकर उनमें झंपापात लेता है। यही इसकी भूल है। यही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण ही प्राणी दुःखी है। मिथ्यात्व का दूर होना ही सम्यक्त्व है -

आत्मीयं सुखमन्यजातमिति या वृत्तिः परत्रात्मन-
स्तन्मिथ्यात्वमकप्रदं निगदितं मुञ्चेदिदानीं जनः ।
आत्मन्येव सुखं ममेत्यनुवदन्बाह्यानिवृत्तो यदा-
त्मन्यात्मा विलगत्यहो विजयतां सम्यक्त्वमेतत्सदा ॥ १००॥

सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्वार्थ का श्रद्धानी होता है। वह संसार में उसी प्रकार रहता है जैसे जल में कमल। वह चर्म के लिए नहीं वरन् धर्म के लिए उत्कण्ठित रहता है। उसकी भावना निरन्तर दूसरों को सुखी बनाने की रहती है। उसकी दृष्टि आत्मद्रव्य पर होती है, पर्याय पर नहीं।

सम्यग्दृष्टि निरन्तर तत्त्व के अभ्यास में रत रहता है। जिससे प्रशम, संवेग, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य गुण उसमें विकसित हो जाते हैं। उसके यही भाव क्रमशः आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय नामक ध्यान में परिवर्तित हो जाते हैं।

ध्यानादहोधर्ममयोरुधाम्न उदेति वाऽऽज्ञाविचयादिनाम्नः ।
सम्यग्दृशो भावचतुष्कमेतत्पर्येत्यमीषु स्फुटमस्यचेतः ॥ ५२॥

जब सम्यग्दृष्टि व्यक्ति का चारित्र पूर्णरूपेण वीतरागता से युक्त होता है तब वह यथाख्यातचारित्र कहलाता है। उसका श्रुतज्ञान भी भावश्रुतज्ञान में परिणत हो जाता है

भावश्रुतज्ञानमतः परन्तु भवेद्यथाख्यातचरित्रतन्तु ।
श्रद्धानमेवं दृढमात्मनस्तु गुणत्रयेऽतः परमत्वमस्तु ॥८३॥

सम्यग्दृष्टि यथाख्यात चारित्र द्वारा कर्मों का क्षय कर सच्चिदानन्द बन जाता है।

इस प्रकार कवि ने दर्शन के गहन सिद्धान्तों को सरल भाषा द्वारा सर्व-साधारण के लिए बोधगम्य बना दिया है।

प्रवचनसार प्रतिरूपक

जैसा कि शीर्षक से सुविदित है, इसमें जिनप्रवचन का सार संगृहीत किया गया है। प्रवचनसार ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रणीत है। इसकी मूल गाथाओं के भाव को ग्रहण कर महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी ने संस्कृत के अनुष्टुप् श्लोको तथा हिन्दी पद्यों में निबद्ध किया है गद्य पद्य मे सारांश भी लिखा है। इसमें मूल ग्रन्थ की गाथाओं का केवल छायानुवाद नही है किन्तु उनके मार्मिक अभिप्राय को भी अनुष्टुप जैसे छोटे श्लोकों मे निबद्ध कर सागर मे सागर भरने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही श्लोक के भाव को स्पष्ट करने के लिए हिन्दी भाषा मे पद्य रचकर उसकी पूर्ति की गई है।

इस ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश है "सारांश"। संस्कृत मे साहित्यिक काव्य ग्रन्थो की रचना करने वाले इस ग्रन्थकर्ता की तत्सम पदावली को यहाँ ढूंढना श्रमसाध्य है। हिन्दी गद्य मे तद्भव शब्दावली का ही प्राधान्य है। "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" इस रूप मे भी इस ग्रन्थ का गद्य आदर्श, सरल, सर्वथा निर्दोष एवं सरस अर्थ का प्रस्फुटन करने वाला है। आचार्य श्री ने गद्य मे सूत्रशैली अपनाई है। विवेचन करने के अनन्तर अनुच्छेद के अन्त मे सम्पूर्ण विवेचन का सार सूत्रबद्ध कर दिया है।

आगम की बात को समझाने के लिए जो दृष्टान्त, उदाहरण और उत्प्रेक्षायें दी गई है, वे मानव के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित है, अतः पाठक को कही भी गरिष्ठता का बोझ वहन नही करना पड़ता। जैसे आत्मा और कर्मों का अनादिकाल से सम्बन्ध है। इनमें आत्मा चेतन और कर्म अचेतन है। दोनो का स्वरूप पृथक् है। अतः उनमें बंध नहीं हो सकता, फिर भी आत्मा बँधा हुआ क्यो है ? इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं

"जैसे एक बच्चा किसी खिलौने को देखकर उसे अपना मानकर हाथ मे पकड़े रहता है उसके टूट जाने पर वह रोने लगता है, दुःखी होता है, उसी प्रकार आत्मा पर पदार्थों को अपने भावो से अपनाये हुए है, अतः अपने भावो के द्वारा उनसे बंधा हुआ है।" इस उदाहरण को पढ़कर मन मे किसी भी प्रकार की शंका नही रहती।

ग्रन्थकार ने विषय वस्तु को स्पष्ट करने के लिए अनेक शंकाये उठाकर उत्तर के रूप मे समाधान किया है। प्रश्नोत्तर के रूप में लिखित इस गद्य को पढ़ने मे ऐसी अनुभूति होती है कि आचार्य श्री हमारे सम्मुख विराजमान है और अल्पज्ञों की शंका - समाधान कर रहे है।

प्रस्तुत कृति तीन अधिकारों में विभक्त है - ज्ञानप्ररूपक अधिकार ज्ञेयाधिकार, एवं चारित्राधिकार।

ज्ञानप्ररूपक अधिकार : इसमें द्रव्य, गुण, पर्याय, अशुभोपयोग, शुभोपयोग, शुद्धोपयोग, मोह, सुख, सद्दर्शन, अदर्शन, कुदर्शन आदि की सरल समीचीन परिभाषायें दी गई है।

ज्ञेयाधिकार : इसमें स्याद्वाद शैली द्वारा परवादियों के एकान्त मतों की समीक्षा की गई है। गाथा १ से ३४ तक द्रव्य का लक्षण, गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का स्वरूप, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय, सप्तभंग, चेतना और उसके भेदों का विशद विवेचन किया गया है। इसके अनन्तर गाथा ३५ से ५६ तक द्रव्य के भेद जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा अशुद्ध जीव का वर्णन है। तत्पश्चात् शुभोपयोग, अशुभोपयोग का स्पष्टीकरण किया गया है। जीव-पुद्गल का विस्तृत विवेचन, द्रव्यकर्म, भावकर्म जैसे गूढ़ विषयों को सरल शब्दों में स्पष्ट कर यह प्रतिपादित किया गया है कि सब पदार्थ ज्ञेय हैं और जीव इनका ज्ञाता है। आत्मा शाश्वत है और अन्य पदार्थ क्षणभंगुर है। सभी परपदार्थों से ममत्व त्यागकर अपनी आत्मा में विशुद्धता प्राप्त करने वाला जीव मिथ्यादर्शन का नाश कर सकता है। सम्यग्दृष्टि होने पर शुद्धात्मा के ध्यान के लिए मुनि अवस्था ग्रहण करना आवश्यक है।

चारित्राधिकार : ज्ञान आत्मा का गुण है परन्तु ज्ञान की सार्थकता पवित्र आचरण के द्वारा होती है। आचरण के अभाव में ज्ञान पंगु है, सफलता चारित्र के ही आधीन है। अतः हर एक मनुष्य को चारित्र धारण करना चाहिए। क्योंकि मनुष्य पर्याय में ही चारित्र धारण किया जा सकता है। सम्यग्दर्शन तो अन्य गतियों में भी हो जाता है। इस अधिकार में चारित्र धारण करने की रीति, साधु के कर्तव्य, आहार, विचार, मुनियों के भेद, परिग्रह, पंचपाप, स्त्रीमुक्ति निषेध, चारित्र की महत्ता, अटल समता, सच्चा मुनि, वैयावृत्य, सत्संगति आदि विषयों का वर्णन है। इनकी व्याख्या आचार्य श्री ने आर्ष ग्रन्थों, श्वेताम्बर एवं इतर दर्शनों के प्रामाणिक ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए सरल सुबोध भाषा में की है। इसके अध्ययन से शंकाओं का समाधान स्वयमेव हो जाता है।

उपर्युक्त चारित्र वर्णन के अनन्तर ग्रन्थकार ने उपसंहाररूप में संसारपरिभ्रमण,

संसार से मुक्ति, मुक्ति के उपाय और मुक्त जीव का विवेचन किया है। इसके साथ ग्रन्थ समाप्त हो गया है।

हिन्दी कृतियाँ

ऋषभावतार

ऋषभचरित हिन्दी भाषा में लिखा गया महाकाव्य है। इसमें १७ सर्ग तथा ८९१ पद्य है। ये पद्य रोला, हरिगीतिका, कुण्डली एवं दोहा छन्दो मे निबद्ध है।

प्रस्तुत महाकाव्य का कथानक आदिपुराण के पूर्वार्ध की कथा पर आश्रित है। इसके प्रथम सात सर्गो मे वर्तमान जन्म का वर्णन है। इसमे भगवान् ऋषभदेव के गर्भोत्सव, जन्मोत्सव, दो विवाह, वंशक्रम, पुत्र पुत्रियो की शिक्षा दीक्षा, कर्मभूमि आरम्भ होने पर षट्कर्मो का उपदेश, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीन वर्णो की सृष्टि, ऋषभदेव को वैराग्य की उत्पत्ति, मुनिदीक्षा अंगीकार कर तपस्या करना, अन्त मे तीर्थकर पद प्राप्तकर प्राणियो को धर्मोपदेश देना एवं निर्वाण प्राप्त करना आदि का विस्तृत निरूपण किया गया है।

ऋषभचरित मे महाकाव्य के सभी लक्षण उपलब्ध होते है। शृंगार, वीर, करुण आदि रसो एवं भक्तिभाव की अभिव्यंजना, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, विरोधाभास परिसंख्या और अपह्नुति आदि अलंकारो के सहज मञ्जुल प्रयोग प्रकृतिवर्णन, वस्तुवर्णन आदि से यह महाकाव्य अत्यन्त रमणीय बन गया है।

भाग्योदय

इसका अपरनाम "धन्यकुमारचरित" है। इस काव्य मे धन्यकुमार का जीवनचरित रोचक और सरस रीति से प्रस्तुत किया गया है। काव्य का प्रणयन तेरह शीर्षको मे हुआ है - कथारम्भ, भाग्यपरीक्षा, नगरश्रेष्ठी पद की प्राप्ति, गृहत्याग, गृहकलह, विवाहप्रक्रम, कुटुम्बसमागम, कोशाम्बी मे धन्ना का समन्वेषण, न्यायप्रियता, कोशाम्बी से प्रस्थान, प्रायश्चित्त एवं धन्यकुमार का वैराग्य। ८५८ पद्यों वाला यह काव्य हरिगीतिका, गीतिका, अडिल्ल कुण्डली, दोहा, कुसुमलता, छप्पय, गजल, रेखता आदि छन्दों में निबद्ध है।

काव्य का अंगीरस शान्त है तथा शृंगार, वीर, करुण आदि सहायक रस के रूप मे अभिव्यंजित हुए हैं। अलंकारों, मुहावरों, लोकोक्तियों एवं सूक्तियों के प्रयोग ने इसे चारुत्व से मण्डित कर दिया है।

गुणसुन्दर वृत्तान्त

यह रूपककाव्य है । इसमें राजा श्रेणिक के समय में दुर्व्यवस्था में दुर्लक्षण एक श्रेष्ठिपुत्र का वर्णन किया गया है ।

कर्तव्यपथ प्रदर्शन

इसमें आचार्य श्री ने ८२ शीर्षकों के अन्तर्गत मानव के दैनिक कर्तव्यों का निरूपण किया है । ये कर्तव्य उपदेशात्मक नहीं अपितु निर्देशात्मक हैं । इन्हें कवि ने अनेक उदाहरणों द्वारा सरल सुबोध भाषा में समझाया है । "यह कृति आत्मा की उस तह की भाँति है जिसमें ज्ञान और सुख का अक्षय भण्डार भरा हुआ है । जिसे बाटने से कभी बाटा नहीं जा सकता और पढ़ने से पूरा पढ़ा नहीं जा सकता, किया जा सकता है तो मात्र संवेदन और सुखद अनुभव । कृति के प्रत्येक सन्दर्भ में दया, वात्सल्य एवं प्रेम के स्वर सजाये गये हैं । बिखेरे गये हैं वे भावपुष्प, जिनकी सुगन्धि जनमानस में व्याप्त अज्ञान, अनाचार, एवं कुरीतियों की दुर्गन्ध समाप्त करने में समर्थ है ।"[1]

प्रस्तुत कृति में मानव के आचार विचार का विवेचन किया गया है । ये आचार विचार मानव को अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में उसके कर्तव्य के प्रति सजग करते हैं ।

कृति में कवि की भाषा मुहावरेदार एवं अलंकारों से मंडित है जिसमें अभिव्यक्ति पैनी एवं भाव को हृदय में उतारने वाली बन गई है । निम्न उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है-

"हम बांट कर खाना नहीं जानते, सिर्फ अपना ही मतलब गांठना चाहते हैं और इस खुदगर्जी के पीछे मगरूर होकर सन्तों महन्तों की वाणी भुला बैठते हैं । इसीलिए पद पद पर आपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है । (पृष्ठ २०)

"मकान का पाया बहुत गहरा हो, दीवारें चौड़ी और मजबूत हों, रंग-रोगन भी बहुत अच्छी तरह से किया हुआ हो और सभी बातें तथा रीति ठीक हो, परन्तु यदि ऊपर छत न हो तो सभी बेकार है । वैसे ही सदाचार के बिना मनुष्य में बल वीर्यादि सभी बातें होकर निकम्मी हो जाती हैं । देखो, रावण बहुत पराक्रमी था । उसके शारीरिक बल के आगे सभी कायल थे, फिर भी वह आज निन्दा का पात्र बना हुआ है, क्योंकि रावण के जीवन में दुराचार की बदबू ने घर कर लिया था ।" (पृष्ठ २४)

१. कर्तव्यपथ प्रदर्शन - प्रकाशकीय प्रस्तुति पृष्ठ - ५

वही सच्चा दान होता है जो दाता के सात्विक भावों से ओतप्रोत हो एवं जिसको दिया जावे उसकी आत्मा को भी उन्नत बनाने वाला हो तथा विश्व भर के लिए आदर्श मार्ग का सूचक हो। (पृष्ठ [illegible])

"मानव के आचार विचार इतने उन्नत हों कि वह समता के द्वारा ममता को मिटा दे, क्षमा से क्रोध का अभाव कर दे, विनीत वृत्ति द्वारा मान का मूलोच्छेद करे, माया और लोभ पर मन वचन काय एवं निरीहता के द्वारा विजय प्राप्त कर ले। इस प्रकार वह कर्मजयी होकर आत्मा से परमात्मा बन जाता है। आत्मा से परमात्मा बनना ही मानव का कर्त्तव्य है।"

इन उदाहरणों में कवि का गद्य काव्य कौशल टपक टपक पड़ता है।

मानव धर्म

"मानवधर्म" महाकवि द्वारा रचित एक ऐसी कृति है जो जन जन तक पहुँच कर उसके सामान्य जीवन को प्रभावित एवं प्रेरित करती है। यह समन्तभद्राचार्य द्वारा रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोकों का एक अनुशीलन है। यह न तो उक्त ग्रन्थ का अनुवाद है, न टीका, अपितु उसके श्लोकों पर छोटी छोटी टिप्पणियों का संकलन है। यह सामान्यजन के जीवनद्वार खटखटाने में पूर्ण समर्थ है।

इस कृति की प्रमुख विशेषताएं हैं सरल भाषा, छोटे छोटे सटीक वाक्य, हृदयस्पर्शी लघु दृष्टान्त एवं अनेक प्रेरक सूक्ति मणियाँ। कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं

"किसी बात को बताते समय पक्षपात का चश्मा दूर होना चाहिए, ताकि हमारी जानकारी अपना ठीक काम कर सके।" (पृष्ठ ८)

"जो संसार अर्थात् संक्लेश को दूर करके प्राणी मात्र को सुख शान्ति की देने वाली हो, ऐसी चेष्टा का नाम ही सद्धर्म है।" (पृष्ठ ३)

"उचित अनुचित का विचार किये बिना, नफा नुकसान सोचे बिना ही लोगों की देखा-देखी जो काम किया जाता है, उसे लोकमूढ़ता कहते हैं।" (पृष्ठ-३०)

"मनुष्य में पापवृत्ति, खुदगर्जी, अभिमान की मात्रा का अभाव होना चाहिए फिर भले ही और कोई प्रकार की साधन सामग्री इसके पास मत हो तो भी इसे सब प्रकार से आनन्द प्राप्त होता है। किन्तु अगर एक खुदगर्जी ने इसके दिल में घर कर रखा है तो और सभी तरह की सुख सामग्री होकर भी इसे सुख नहीं पहुँचा सकती, प्रत्युत बाधक बन जाया

करती है ।" (पृष्ठ-४०)

"जिसने अपने ज्ञान को निर्दोष बना लिया है, जिसका मन भी सच्चा है तथा जिसका आचरण भी पुनीत-पावन बन चुका हो तथा जिनके पास ऐसे तीन बहुमूल्य रत्नों का खजाना हो, उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में अनायास ही सफलता प्राप्त हो जाती है । वह तीनों पुरुषार्थों में सफल होकर अन्त में मोक्ष पुरुषार्थ के साधन में जुट कर के अपवर्ग यानि मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है ।" (पृष्ठ-९८)

सचित्त विवेचन

प्रस्तुत कृति में सचित्त और अचित्त वस्तुओं का प्रामाणिक विवेचन आगम के आधार पर किया गया है । सचित्त से तात्पर्य है - जो जीव सहित हो "सहचित्तेन जीवेन भावेन वर्तते तत्सचित्तम् ।"

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये सभी एक इन्द्रिय जीव है, अतः ये सचित्त कहे जाते है । मानव इनका दैनिक जीवन में प्रयोग करता है । परिणामस्वरूप हिंसा होती है । मानव हिंसा से बचे और इन्द्रिय संयम का पालन करे, इसके लिए आवश्यक है कि वह सचित्त पदार्थों को अचित्त रूप में परिवर्तितकर उनका प्रयोग करे ।

महाकवि ने सचित्तों की रक्षा के अनेक उपाय बतलाये है । यथा पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा से बचने के लिए पृथ्वी पर देखकर चले, प्रत्येक वस्तु सावधानीपूर्वक रखे-उठावे । जल के जीवों की रक्षा के लिए दोहरे वस्त्र से छानकर उसमें लवंग, इलायची डाल दे या गरम कर उसे अचित्त बनाये । इस अचित्त जल का प्रयोग करे ।

शाक-फल आदि वनस्पति के अन्तर्गत है, जिन्हे दो प्रकार से अचित्त बनाया जा सकता है - अग्नि पर पकाकर तथा सुखा कर काष्ठादि रूप में परिवर्तित करके । आचार्य श्री ने सचित्त पदार्थों को अचित्त बनाने के सरल उपाय बतलाये है, अनन्तर सचित्त और अभक्ष्य में अन्तर स्पष्ट किया है । सचित्त के त्याग का महत्त्व कवि के शब्दों में देखिये -

"सचित्ताहार त्यागने से जिह्वादि इन्द्रियाँ वश में हो जाती है । वात, पित्त, कफ का प्रकोप न होने से शरीर नीरोग रहता है । काम-वासना मन्द पड़ जाती है । चित्त की चपलता घटती है, अतः धर्मध्यान में प्रवृत्ति होकर सहज रूप से जीव दया पलती है ।"

स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैनधर्म

इस कृति में महाकवि ने जैनधर्म के प्रामाणिक आचार्य कुन्दकुन्द का आचार्य

परम्परा में मूर्धन्य स्थान निर्धारित किया है । अनन्तर अनेक प्रमाणों द्वारा स्वामी कुन्दकुन्द का समय निर्धारित कर उनका परिचय दिया है ।

स्वामी कुन्दकुन्द ऐसे आचार्य हैं जिनका दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही आम्नाय समान रूप से आदर करते हैं । इसीलिए महाकवि ने प्रस्तुत कृति मे कुन्दकुन्द प्रणीत जैन धर्म के स्वरूप एवं मोक्ष के मार्ग को निरूपित किया है । इसमें कवि ने जैनो में दिगम्बर और श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति के कारण एवं उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला है । "वस्त्रधारी की मुक्ति नहीं", "स्त्रीमुक्ति", "केवलज्ञान" आदि विषयो का भी विशद विवेचन हुआ है ।

पवित्र मानवजीवन

प्रस्तुत कृति मे १९३ पद्य हैं । इसमें कवि ने मानव जीवन को सफल बनाने वाले कर्त्तव्यों का निरूपण किया है । जैसे समाजसुधार, परोपकार, कृषि एवं पशुपालन, भोजन के नियम, नारी का उत्तरदायित्व, सन्तान के प्रति अभिभावको के कर्त्तव्य आदि । आधुनिक दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति उपवास, गृहस्थ और त्यागी में अन्तर आदि विषयों का रोचक प्रतिपादन हुआ है ।

सरल जैन विवाहविधि

इसमे जैनधर्म के अनुसार विवाह की विधि का वर्णन किया गया है ।

तत्त्वार्थ दीपिका

यह जैन सिद्धान्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ तत्वार्थ सूत्र की सरल भाषा में लिखी गई टीका है।

अनुवाद कृतियाँ

(१) विवेकोदय - यह आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा रचित समयसार की गाथाओं का गीतिका छन्द में हिन्दी रूपान्तर है ।

(२) नियमसार का पद्यानुवाद -

(३) देवागम स्तोत्र का पद्यानुवाद - यह दोनों पद्यानुवाद साप्ताहिक जैनगजट में वर्ष १९५६-५७ में क्रमशः छपे हैं ।

(४) अष्टपाहुड का पद्यानुवाद - यह पद्यानुवाद 'श्रेयोमार्ग' पत्रिका में प्रकाशित हुआ है ।

(५) समयसार टीका - **यह कुन्दकुन्दचार्य प्रणीत "समयसार" पर आचार्य जयसेन द्वारा लिखी तात्पर्यवृत्ति नामक टीका का हिन्दी अनुवाद है।**

इन कृतियों मे भूरामलजी अर्थात् आचार्य ज्ञानसागरजी की प्रखर मेधा, बहुश्रुतता एवं रचनाधर्मिता का निदर्शन मिल जाता है।

आचार्यश्री प्रदर्शन की प्रवृत्ति से कोसों दूर सहज प्रकृति के साधु थे। वे प्रचार प्रसार के फेरे में कभी नही पड़े। अपनी कृतियों के प्रकाशन और वितरण के मोह से भी मुक्त थे। पण्डित हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री व ब्यावर जैन समाज के प्रयत्नों से ही आपकी कृतियाँ "मुनि ज्ञानसागर ग्रन्थमाला" ब्यावर से प्रकाश में आईं। मदनगंज किशनगढ़ में जब महाराजश्री से उनके निकट एक भक्त ने यह पूछा कि -- "महाराज ! आज जिसकी साहित्य में जरा सी भी पहुँच है, वह भी अपने आपको बहुत बड़ा मान रहा है। आप साक्षात् सरस्वती के वरद पुत्र होकर भी समाज के क्षेत्र में ही अपरिचित से है"; तो आपका उत्तर था -- "भैया ! मै तो साधक हूँ, प्रचारक नहीं। आत्मकल्याण का मार्ग पकड़ा है, उससे मैं भटक जाता यदि प्रचार के लोभ में पड़ता तो। साधना का यह आदर्श निश्चय ही अनुकरणीय है। वे साधु के लिए अधिक जनसम्पर्क से बचने की बात भी अक्सर कहा करते थे।"[१]

महाकवि भूरामलजी (आचार्य ज्ञानसागरजी) के इस व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अवलोकन करने से हम पाते है कि महाकवि उन लोकोत्तर मानवों में से होते है, जो इन्द्रिय-व्यसनों के कीट बनकर जीवन को निरर्थक करने के लिए उत्पन्न नहीं होते, अपितु विषयभोग-गर्हित जीवन से ऊपर उठकर आत्मा की साधना हेतु अवतरित होते है ! ऐसे मानव के लक्षण होते हैं ज्ञान की तीव्र-पिपासा और कुछ नया अनोखा कर गुजरने की उत्कट आकांक्षा, वैषयिक जीवन के प्रति हेय-दृष्टि तथा विपरीत परिस्थितियों में अपराजेय भाव से संघर्ष की प्रवृत्ति, लक्ष्य के प्रति एकाग्रता एवं उसे पाने का अनवरत उद्यम। महाकवि भूरामलजी इन्हीं गुणों की प्रतिमा थे। साथ ही इस प्रतिमा में था कवित्व की नैसर्गिक प्रतिभा का कलात्मक लावण्य, जिसकी रमणीयता से मण्डित विपुल साहित्य कवि की लेखनी से प्रसूत हुआ। इतना ही नहीं, कवि का गुरुत्व एवं आचार्यत्व भी इतना लावण्यमय था कि जिनका स्पर्श पाकर विद्याधर जैसे शिष्य विद्यासागरत्व की रत्नमयी आभा से मण्डित हो गये।

❑❑❑

---

१. कुन्दकुन्द वाणी (मासिक), आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज स्मृति अंक, पृष्ठ -२५, मई १९९०

द्वितीय अध्याय

जयोदय का कथानक एवं महाकाव्यत्व

कथानक

महाकवि ज्ञानसागर द्वारा विरचित जयोदय महाकाव्य में राजा जयकुमार एवं सुलोचना की प्रणय कथा के माध्यम से अपरिग्रह अणुव्रत के माहात्म्य का वर्णन है[1] तथा धर्मसंगत अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि की गई है। इस महाकाव्य में अट्ठाईस सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग का सारांश इस प्रकार है --

प्रथम सर्ग

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के समय हस्तिनापुर में राजा जयकुमार राज्य करते थे। वे अत्यन्त सुन्दर, विद्वान्, बुद्धिमान्, भाग्यवान्, श्रीमान्, शूरवीर एवं प्रतापी थे! वे सदा सज्जनों का आदर एवं दुष्टों का निग्रह करते थे। वे अत्यन्त दानशील एवं परोपकारी थे। ऐसे सर्वगुण सम्पन्न भूपति जयकुमार की प्रशंसा जब राजा अकम्पन की पुत्री सुलोचना ने सुनी तो वह उनके प्रति अनुरक्त हो गई। परन्तु स्त्री-सुलभ लज्जा एवं लोकापवाद के भय से वह अपना प्रेम सन्देश उन्हें प्रेषित न कर सकी।

नृपति जयकुमार ने भी अपने सभासदों से राजकुमारी सुलोचना के रूप-सौन्दर्य एवं गुणों के विषय में सुना तो वह उसके प्रति आकृष्ट हो गया, किन्तु अत्यन्त स्वाभिमानी होने के कारण राजा अकम्पन से पाणिग्रहण का प्रस्ताव नहीं किया। इसी समय नगर के उपवन में एक मुनि का आगमन होता है। जयकुमार उनके दर्शनार्थ पहुँचता है। प्रगाढ़ श्रद्धाभाव से उनके दर्शन-स्तवन कर आनन्दातिरेक का अनुभव करता है और विनम्रता पूर्वक उनसे उपदेश की याचना करता है, ताकि जीवन सफल हो सके।

द्वितीय सर्ग

मुनिराज राजा जयकुमार को अनेक दृष्टान्तों द्वारा धर्मनीति एवं राजनीति का उपदेश देते हैं। मुनि द्वारा उक्त उपदेशामृत का पानकर जयकुमार रोमांचित हो जाता है। वह पुनः अत्यन्त श्रद्धा एवं विनय से मुनिराज को नमन करता है तथा उनकी आज्ञा लेकर निज प्रासाद की ओर प्रस्थान करता है। मार्ग में वह देखता है कि उसके साथ पूर्व में

---

१. जयोदय पूर्वार्ध, ग्रन्थकर्ता का परिचय, पृष्ठ - ११-१२

धर्मोपदेश श्रवण करने वाली सर्पिणी अन्य जाति के सर्प के साथ रतिक्रीड़ा कर रही है। इस दृश्यावलोकन में असमर्थ जयकुमार कमलनाल से सर्पिणी को पृथक् करने का प्रयास करता है। अन्य लोग भी अपने स्वामी का अनुकरण करते हुए कंकड़ पत्थरों से सर्पिणी को आहत कर देते हैं। अकामनिर्जरापूर्वक मरण होने से वह सर्पिणी अपने पति नागकुमार की देवी के रूप में जन्म लेती है। जयकुमार के प्रति ईर्ष्या भाव रखने वाली वह सर्पिणी उक्त वृत्तान्त अपने पति को सुनाती है। वह मूर्ख सर्प (नागकुमार देव) स्त्री के कथन पर विश्वास करता है और जयकुमार को मारने जब उसके महल में पहुँचता है तो वह देखता है कि जयकुमार अपनी रानियों को उपर्युक्त घटना सुना रहा है। यह सुनकर नागकुमार को वास्तविकता का ज्ञान होता है। वह स्त्रियों के कौटिल्य की निन्दा करता है। अनन्तर जयकुमार के समीप आकर सारा वृत्तान्त सत्य-सत्य कहता है। वह उनका परम भक्त बन कर उनसे आज्ञा प्राप्त कर स्वनिवेश वापिस चला जाता है।

तृतीय सर्ग

राजा जयकुमार एक समय अपनी राजसभा में विराजमान थे, तभी काशी नरेश अकम्पन का दूत उनकी सभा में प्रविष्ट होता है। हस्तिनापुर नरेश दूत का यथोचित स्वागत करते हुए आगमन का कारण ज्ञात करते हैं। दूत उन्हें अपने स्वामी का सन्देश सुनाता है - कि राजा अकम्पन एवं महारानी सुप्रभा की पुत्री सुलोचना अत्यन्त रूपवती एवं सर्वगुण सम्पन्न है। काशी नरेश उसका विवाह मन्त्रियों के निर्देशानुसार स्वयवर-विधि से करना चाहते है। स्वयंवर हेतु सर्वतोभद्र नामक स्वयंवर-मण्डप स्वर्ग के देव (पूर्व जन्म में राजा अकम्पन के भाई) द्वारा निर्मित किया गया है। काशी नगरी की अभूतपूर्व सज्जा की गई है। अतएव आप सुलोचना स्वयंवर में सम्मिलित होने हेतु काशी पधारने की कृपा करें। इस प्रकार दूत स्व-स्वामी का शुभ सन्देश सुनाकर मौन हो जाता है। मनोहारी वृत्तान्त सुनकर जयकुमार पुलकित हो जाते हैं। वे दूत को पारितोषिक देते हैं। तदनन्तर सुसज्जित सेना के साथ जयकुमार काशी प्रस्थान करते हैं। काशी पहुँचने पर राजा अकम्पन उनका स्वागत करते हुए ठहरने का उचित प्रबन्ध करते हैं।

चतुर्थ सर्ग

काशी नरेश देश देशान्तरों के सभी राजकुमारों को सुलोचना स्वयंवर हेतु आमंत्रित करते हैं। भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति को स्वयंवर का समाचार मिलता है। अर्ककीर्ति

अपने मन्त्री सुमति के बिना आमन्त्रण के स्वयंवर न जाने के सुझाव को ठुकरा कर अन्य सभासदों के साथ काशी पहुँचते हैं। काशी नरेश उनकी अगवानी करते हुए उन्हें अपने प्रासाद में ठहराते हैं। स्वयंवर सभा में आमन्त्रित सभी राजकुमार हास्य विनोद करते हुए रात्रि व्यतीत करते हैं।

पंचम सर्ग

स्वयंवर सभा में विभिन्न देशों के राजकुमार आते हैं। राजा अकम्पन सभी का भव्य स्वागत करते हैं। वस्त्राभूषणों से सुसज्जित एवं अद्भुत रूपसौन्दर्यशाली जयकुमार के स्वयंवर मण्डप में आने पर सभा जगमगा उठती है। यह देख अन्य राजकुमारों के मन में उसके प्रति प्रतिद्वन्द्विता का भाव जागरित हो जाता है।

स्वयंवर सभा की विशालता देखकर राजा अकम्पन जहाँ आश्चर्यचकित होते हैं, वहीं चिन्तित भी होते हैं। वे सोचते हैं इस सभा में एक से एक राजकुमार आये हैं। इन सभी का परिचय सुलोचना को कौन दे सकेगा ?

स्वयंवर मण्डप के निर्माता चित्रांगद देव अपने पूर्व जन्म के भाई राजा अकम्पन के चेहरे पर विषाद की रेखाएँ देखते हैं, तो वे राजपरिचय का कार्यभार बुद्धिदेवी को सौंपते हैं। राजा अकम्पन चिन्ता मुक्त हो जाते है और स्वयंवर समारोह प्रारम्भ करने के लिए दुन्दुभि बजवाते हैं। दुन्दुभि सुनकर राजकुमारी सुलोचना अपनी प्रमुख सखियों के साथ विमान में बैठकर प्रासाद से चल पड़ती है। वह पहले जिनेन्द्र देव की पूजन करती है। अनन्तर स्वयंवर मण्डप में पहुँचती है। सभी राजकुमारो की दृष्टि सुलोचना पर केन्द्रित हो जाती है।

षष्ठ सर्ग

राजकुमारी सुलोचना के स्वयंवर मण्डप में आने पर बुद्धिदेवी अपना कार्य प्रारम्भ करती है। वह सर्वप्रथम विद्याधर राजा सुनमि एवं विनमि से राजकुमारी को परिचित कराती है। इन राजाओं में सुलोचना की अरुचि जानकर उसे पृथ्वी के राजकुमारों के समीप ले जाती है। वह सम्राट् भरत के पुत्र अर्ककीर्ति, कलिंग, कांची, काबुल, अंग, बंग, सिन्धु, काश्मीर, कर्णाटक, कैरव, मालव आदि देशों से पधारे राजकुमारों के रूप सौन्दर्य, गुण एवं ऐश्वर्य का विस्तृत वर्णन करती है, पर राजकुमारी किसी की ओर आकर्षित न हो सकी। बुद्धिदेवी हस्तिनापुर नरेश जयकुमार का परिचय देती है। सुलोचना मेघेश्वर उपनामधारी

एवं चक्रवर्ती भरत के सेनापति जयकुमार के गुण-वैशिष्ट्य से प्रभावित होती है। लजाते हुए कांपते हाथों से उसे वरमाला पहना देती है। यह देख शेष राजाओं के मुख म्लान हो जाते हैं और जयकुमार के मुख की शोभा द्विगुणित हो जाती है।

सप्तम सर्ग

अर्ककीर्ति के सेवक को सुलोचना द्वारा जयकुमार का वरण अनुचित प्रतीत होता है। वह इसे काशी नरेश अकम्पन की पूर्व नियोजित योजना समझ लेता है और स्वामी अर्ककीर्ति को तीखे कटु वचनों द्वारा जयकुमार एवं अकम्पन के विरुद्ध उत्तेजित करता है। वह कहता है कि जयकुमार जैसे तो आपके कितने ही सेवक हैं। फिर अकम्पन ने कुल की एवं आपकी उपेक्षाकर सुलोचना द्वारा जयकुमार का वरण कराया है। इस प्रकार काशी भूपति ने हमारा युगान्तर स्थायी अपमान किया है, अतः उन्हें अपमान का प्रतिफल अवश्य ही चखाना चाहिए।

दुर्मर्षण के वचनों से अर्ककीर्ति उत्तेजित हो जाता है। क्रोधावेश में आकर जयकुमार एवं अकम्पन दोनों को मारना चाहता है। वह अपने विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिये युद्धोन्मुख होता है। अर्ककीर्ति को युद्धोन्मुख देख अनवद्यमति मन्त्री उसे समझाता है कि राजा अकम्पन और जयकुमार दोनों ही हमारे अधीनस्थ भूपति हैं। जयकुमार एक असाधारण व्यक्ति है। आपके पिता भरत को चक्रवर्ती पद की प्राप्ति में जयकुमार का ही प्रमुख योगदान रहा। राजा अकम्पन तो आपके पिता के भी पूज्य हैं, अतः उनसे युद्ध करना तो गुरुद्रोह होगा। प्रमुख बात तो यह है कि युद्ध में आपकी विजय निश्चित नहीं है। यदि आप युद्ध में विजयी हो भी गये तो सुलोचना सती है वह आपकी नहीं हो सकेगी, अतः जय होने पर भी पराजय ही आपके हाथ रहेगी। अनवद्यमति मन्त्री के हितकारी वचनों का अर्ककीर्ति पर कोई प्रभाव न पड़ा।

अर्ककीर्ति के युद्धोन्मुख होने की सूचना अकम्पन को भी मिलती है। वे मंत्रियों से विचार-विमर्श कर एक शांतिदूत अर्ककीर्ति के समीप भेजते हैं। दूत के शान्तिपूर्ण वचनो को सुनकर भी अर्ककीर्ति युद्ध से विरत नहीं होता। दूत निराश होकर वापिस आ जाता है। इससे अकम्पन अत्यधिक चिन्तित हो जाते हैं। जयकुमार चिन्तित अकम्पन को धैर्य बंधाते हैं। वे उनसे सुलोचना की रक्षा का निवेदन कर उत्साहपूर्वक युद्ध की तैयारी करते हैं। राजा अकम्पन अपने हेमांगद आदि एक सहस्र पुत्रों के साथ जयकुमार की सहायता के

लिये आ जाते हैं। श्रीधर, सुहृद, सुकेतु, देवकीर्ति, जयवर्मा आदि न्यायप्रिय राजागण जयकुमार के पक्ष में सम्मिलित होते है। जयकुमार अपनी सुसज्जित सेना से साथ युद्ध क्षेत्र मे पहुँचना है। अर्ककीर्ति युद्ध भूमि में आ जाता है। अर्ककीर्ति चक्रव्यूह की और जयकुमार मकरव्यूह की रचना करता है।

अष्टम सर्ग

सेनापति की आज्ञा से युद्धसूचक नगाड़ा बजा दिया जाता है। दोनों पक्षों की सेनाएँ परस्पर एक दूसरे को युद्ध के लिए ललकारती हैं। समरांगण की भयानक ध्वनि से सभी दिशाएँ गूंज उठती है। सेनाओं द्वारा उड़ी धूल से सूर्य छिप जाता है, सर्व दिशायें अन्धकाराच्छन्न हो जाती हैं। गजाधिप, रथारोही, अश्वारोही एवं पदाति परस्पर युद्ध प्रारम्भ करते है। जयकुमार तथा उसके पक्ष वाले अपने प्रतिपक्षियों का डटकर मुकाबला करते हैं। इसी बीच जयकुमार अपने पक्ष को कुछ कमजोर देख कर उदास हो जाता है। इस संकट के समय स्वर्ग से नागचरदेव आकर जयकुमार को नागपाश एवं अर्द्धचन्द्र बाण देता है। इनकी सहायता से जयकुमार अर्ककीर्ति को बन्दी बना लेते हैं। इस प्रकार युद्ध में भी जयकुमार को ही विजय प्राप्त होती है।

युद्ध से वापिस आकर अकम्पन अपनी पुत्री सुलोचना को, जो जिनालय में बैठी थी, जयकुमार के विजयी होने की शुभ सूचना देते हैं और स्नेहपूर्वक उसे घर ले आते हैं।

युद्ध में विजयी होने पर भी जयकुमार को हर्ष नहीं होता। वे युद्ध क्षेत्र के घायल व्यक्तियों को चिकित्सा हेतु भेजते हैं। वीरगति को प्राप्त योद्धाओं का अन्तिम संस्कार कराते है और अनाथों को सनाथ बना देते हैं। तदनन्तर सभी जिनेन्द्रदेव की पूजन करते हैं।

नवम सर्ग

अपने जामाता जयकुमार के विजयी होने पर भी अर्ककीर्ति की पराजय से अकम्पन दुःखी हो जाते है। वे अर्ककीर्ति की प्रसन्नता हेतु अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमाला का विवाह उससे करने का दृढ़ निश्चय करते हैं। वे बन्दी बने अर्ककीर्ति को दण्ड न देकर उसे समझाते हैं तथा अक्षमाला से विवाह करने हेतु निवेदन करते हैं। अर्ककीर्ति को अपने दोष की अनुभूति होती है। वह स्वयं के द्वारा किये गये अनुचित कार्य पर पश्चाताप करता है। तदनन्तर वह विचारता है कि जब मैं आज युवावस्था मे ही जयकुमार को जीत नहीं सका तो भविष्य में उसे जीतना असम्भव है। अतएव उनसे मित्रता करना ही उचित होगा।

अक्षमाला से विवाह करने पर जयकुमार से मेरी मित्रता जीवन पर्यन्त रहेगी। इस प्रकार अर्ककीर्ति स्वयं अनेक प्रकार से विचार करता है और अक्षमाला से विवाह करने के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेता है।

काशी नरेश के प्रयास से जयकुमार और अर्ककीर्ति में पुनः मित्रता होती है। जयकुमार के मधुर वचनों से अर्ककीर्ति का मनोमालिन्य पूर्णरूपेण धुल जाता है। अनन्तर सभी "यतिचरित्र" नामक जिनालय में जाते हैं और भगवान् का अभिषेक, पूजन करते हैं। पूजन-भक्ति का यह कार्यक्रम लगातार आठ दिन तक चलता है। भगवान् की आराधना के बाद अकम्पन अपने वचन के अनुसार अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमाला का विवाह अर्ककीर्ति के साथ कर देते हैं।

अक्षमाला के विवाह कार्य से निवृत्त होकर अकम्पन अपने सुमुख दूत को भरत चक्रवर्ती के समीप भेजते हैं। दूत चक्रवर्ती को नमन कर काशी नगरी का सारा वृत्तान्त विनयपूर्वक विनम्र शब्दों में कहता है। भरत चक्रवर्ती स्वयंवर विवाह परम्परा के प्रवर्तक राजा अकम्पन एवं जयकुमार की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। वे अपने पुत्र द्वारा जयकुमार के विरोध को अनुचित बतलाते हैं। दूत सम्राट् के वचनों से सन्तुष्ट होकर वापिस आ जाता है। वह चक्रवर्ती से हुई वार्ता द्वारा अपने स्वामी को प्रसन्न करता है।

दशम सर्ग

काशी नरेश ज्योतिषियों से शुभ मुहूर्त निकलवाकर पुत्री सुलोचना के विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ करते हैं। वे दूत द्वारा वर जयकुमार को राजभवन में आमन्त्रित करते हैं। काशी नगरी की अद्भुत सज्जा की जाती है। घन, सुषिर, आनद्ध, भेरी, वीणा, झांझ आदि विविध वाद्य की मधुर ध्वनियाँ ब्रह्माण्ड मे फैल जाती हैं। महिलाएँ मंगलगीत गाती हैं। सौभाग्यवती नारियाँ एवं सखियाँ सुलोचना को स्नान कराती हैं एवं वस्त्राभूषणों से अलंकृत करती हैं।

वधु के समान ही वर को भी वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया जाता है। वरयात्रा में जयकुमार साक्षात् इन्द्र ही प्रतीत होते हैं। प्रजाजन बारात की शोभा देखने के लिए अपने गृहों से निकलकर राजपथ पर आ जाते हैं। राज द्वार पर पहुँचते ही कन्या पक्ष के बान्धवजन वर को सम्मानपूर्वक विवाह मण्डप में ले जाते हैं। अनन्तर वधू सुलोचना भी सखियों के साथ विवाह मण्डप में आती है।

एकादश सर्ग

वर जयकुमार वधु सुलोचना के रूप सौन्दर्य का अवलोकन करता है। वह उसके रूप सौन्दर्य से अत्यधिक प्रभावित होता है।

द्वादश सर्ग

जिनेन्द्र देव, जिनवाणी एवं गुरु की अष्टमंगल द्रव्यों से पूजन होती है और विवाह कार्य प्रारम्भ होता है। पुरोहित के निर्देशानुसार यज्ञ-हवन क्रिया पूर्ण होने पर कन्यादान की रस्म सम्पन्न की जाती है। गठबन्धन एवं सप्तपदी के पूर्ण होने पर माता-पिता एवं गुरु वर्ग वर-वधू को शुभाशीर्वाद देते हैं। वे सभी उनके सफल जीवन की कामना करते हैं, महिलाएँ मंगल-गीत गाती हैं। विवाह के इस शुभ अवसर पर अकम्पन राज्य कर (Tax) छोड़ देते हैं। वे धन की वर्षा ही कर देते हैं, वर-वधू के दहेज में कोई कमी नहीं रहती। विवाह के अनन्तर दासियाँ एवं महिलायें बारातियों को हास-परिहास के साथ पंक्तिभोज कराती हैं। राजा अकम्पन वर एवं वरपक्ष को यथाशक्ति आदर-सत्कार द्वारा पूर्णरूपेण सन्तुष्ट करते हैं।

त्रयोदश सर्ग

विवाह के पश्चात् जयकुमार अपने श्वसुर अकम्पन से हस्तिनापुर जाने की आज्ञा लेते हैं। राजा अकम्पन एवं रानी सुप्रभा अपने जामाता व पुत्री के मस्तक पर अक्षत अर्पित करते हैं। वे उन्हें अश्रुपूर्ण नेत्रो से विदा करते हैं। माता-पिता तथा प्रजा-वर्ग वर-वधू को नगर सीमा तक पहुँचाकर वापिस आ जाते हैं। सुलोचना के भाई उनके साथ जाते हैं। सारथि मार्ग में आये वन सौन्दर्य, वन्य पशुओं के वर्णन द्वारा जयकुमार का मनोरंजन करता है। वन भूमि पार कर वे गंगा के तट पर पहुँचते हैं। निर्मल जल वाली यह नदी राजहंसों एवं कमलों से सुशोभित थी। इस नदी के तट पर जयकुमार ससैन्य पड़ाव डालकर विश्राम करते हैं।

चतुर्दश सर्ग

जयकुमार एवं सुलोचना अपने साथियों के साथ नदी के समीपवर्ती उद्यान में जाते हैं। वे सभी पुष्पापचय, मधुर आलाप एवं हास्य विनोद द्वारा मनोरंजन करते हैं। वन क्रीड़ा में हुई थकान को दूर करने के लिए सभी नदी के तट पर पहुँचते हैं। वहाँ सभी युगल जल उछालते, फेंकते तथा उसमें छिपते हुए जल-क्रीड़ा करते हैं। स्नान के अनन्तर नवीन वस्त्र पहनते हैं। इस समय सूर्य अस्त हो रहा था।

पंचदश सर्ग

सूर्य अस्त होने पर लाल वस्त्र पहने सन्ध्या रूपी नायिका का आगमन होता है। कुछ समय पश्चात् रात्रि का घोर अन्धकार सर्व दिशाओं में फैल जाता है। घर-घर में दीपक प्रज्वलित होते है। आकाश में चन्द्रमा का उदय होता है। तारे दिखाई देते हैं। स्त्रियाँ कामविह्वल हो पति की प्रतीक्षा करती हैं।

षोडश सर्ग

अर्धरात्रि के समय स्त्री-पुरुषों का धैर्य समाप्त होने लगता है। वे परस्पर हास-परिहास एवं मद्यपान करते हैं। मद्यपान के कारण उनके नेत्र लाल हो जाते हैं। उनकी चेष्टाएँ विकृत हो जाती हैं। उनकी लज्जा समाप्त होती है और हाव-भाव, विभ्रम, विलास आदि प्रकट होने लगते हैं। सभी युगल परस्पर मान-अभिमान और प्रेम का व्यवहार करते हैं।

सप्तदश सर्ग

सभी युगल एकान्त स्थल में चले जाते हैं। सुरत क्रीड़ा करते है। अनन्तर निद्रा-देवी की गोद में विश्राम करते हैं।

अष्टादश सर्ग

मंगलकारी शुभ प्रभात होता है। पूर्व दिशा में लालिमा छा जाती है। मन्द-मन्द वायु बहती है। कुमुदिनी निर्मीलित होती है और कमलिनी विकसित। चन्द्रमा निष्प्रभ हो जाता है। तारे विलीन हो जाते हैं। उलूक गुफाओं में चले जाते हैं। पूर्व दिशा में प्रतापी राजा के समान सूर्य उदित होता है। सभी जागृत होकर अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं।

एकोनविंश सर्ग

जयकुमार प्रातःकालीन क्रिया से निवृत्त होकर स्नान करते हैं। जिनालय में जाकर जिनेन्द्र देव, जिनवाणी (सरस्वती), गणधर देव की पूजन-स्तुति करते हैं। पंच नमस्कार मन्त्र का चिन्तन करते हुए जीवन को सफल बनाते हैं।

विंशतितम सर्ग

प्रभात वन्दना के अनन्तर जयकुमार भरत चक्रवर्ती से भेंट करने अयोध्या पहुँचते है। वहाँ सभा भवन में सिंहासन पर विराजमान भरत चक्रवर्ती को विनयपूर्वक नमन करते

हैं । भरत भी विनत जयकुमार को उठाकर आलिंगन करते हैं । जयकुमार क्षमा-याचना पूर्वक काशी नगरी का मार्ग वृत्तान्त बतलाता है । भरत वृत्तान्त सुनकर अपने पुत्र अर्ककीर्ति को ही दोषी ठहराते हैं । वे महाराजा अकम्पन, उनकी पुत्री सुलोचना एवं जयकुमार के कार्यों की सराहना करते हैं । वे जयकुमार का यथोचित सत्कार करते हैं । उसे तथा सुलोचना को वस्त्राभूषण देते हैं । सम्राट् द्वारा सत्कृत जयकुमार उनसे आज्ञा लेकर हाथी पर बैठकर गन्तव्य स्थल की ओर प्रस्थान करता है । मार्ग में आयी गंगा नदी के मध्य में जब वह पहुँचता है तो उसके हाथी के आगे बड़ी-बड़ी लहरें उठने लगती हैं । अचानक आये संकट के कारण वह नदी पार करने में असमर्थ हो जाता है । संकट से वह व्याकुल हो जाता है।

चकोरीवत् प्रतीक्षारत सुलोचना विनाशकारी जलप्रवाह से आक्रान्त अपने पति को देखती है । पति के संकट का प्रतिकार करने के लिये सुलोचना पञ्च-नमस्कार मन्त्र का स्तवन करते हुए जल में प्रविष्ट होती है । उसके सतीत्व के प्रभाव से गंगा का जल अत्यल्प रह जाता है । गंगा देवी सती सुलोचना के शील से प्रभावित होती है । वह नदी के तट पर सुलोचना की दिव्य वस्त्राभूषणों से पूजा करती है । यह देखकर जयकुमार आश्चर्य चकित होता है । गंगादेवी उसकी जिज्ञासा शान्त करते हुए कहती है - मैं पूर्व जन्म में सुलोचना की दासी थी । सर्पिणी के काटने पर सुलोचना ने मुझे पञ्च-नमस्कार मन्त्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से मैंने यहाँ देवी का जन्म प्राप्त किया है । जयकुमार से द्वेष रखने वाली सर्पिणी ने यहाँ चण्डिका देवी के रूप में जन्म लिया है । उसी ने पूर्व जन्म के द्वेष के कारण नदी में उपद्रव किया है । अवधिज्ञान से मैंने स्व-उपकारक सुलोचना को संकटग्रस्त जाना, अतः मैं यहाँ आयी हूँ । जयकुमार मधुर वचनों से गंगादेवी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं । अनन्तर सुलोचना अपने पति जयकुमार की पूजन करती है ।

एकविंशतितम सर्ग

जयकुमार की आज्ञा से सैनिक हस्तिनापुर जाने की तैयारी करते हैं । जयकुमार और सुलोचना रथारूढ़ होकर प्रस्थान करते हैं । मार्ग के मनोहर दृश्यों द्वारा जयकुमार सुलोचना का मनोरंजन करते हुए एक वन में पहुँचते हैं । वन की शीतल हवा से उनकी थकान दूर हो जाती है । वन-सौन्दर्य का अवलोकन कर वे हर्षित होते हैं । वन भूमि को पार कर वे आगे बढ़ते हैं, जहाँ शबरों (म्लेच्छों) के राजा उन्हें गजमुक्ता, पुष्पों एवं फलादि का उपहार देते हैं । अनन्तर वे गोपों की बस्ती में पहुँचते हैं । सुलोचना वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य एवं जीवन का अवलोकन कर आनन्दित होती है । गोप-गोपियाँ दूध, दही से उनका

स्वागत करते है एवं आदर-सम्मान से उन्हें सन्तुष्ट करते हैं। जयकुमार उनसे कुशलक्षेम पूछते हैं। तदनन्तर उनसे स्नेहमयी विदा लेकर पुनः यात्रा प्रारम्भ करते हैं।

हस्तिनापुर पहुँचने पर जयकुमार एवं नव-वधू सुलोचना का प्रजा वर्ग एवं मन्त्री वर्ग सुस्वागत करते हैं। महिला वर्ग राजमहल में पहुँचकर नववधु सुलोचना के मुख का अवलोकन करती हैं और आनन्दित होती हैं। नववधू के स्वागत में महिलाएँ मंगलगीत गाती हैं।

जयकुमार अपने साले हेमांगद आदि के समक्ष सुलोचना के मस्तक पर पट्टराज्ञी का पट्ट बांधकर "प्रधान महिषी" के पद से सम्मानित करते हैं। इससे सुलोचना के भाई प्रसन्न होते हैं और जयकुमार के इस कार्य की प्रशँसा करते हैं। जयकुमार हेमांगद आदि के साथ गूढ़ार्थ पूर्वार्ध और गूढ़ार्थ परार्ध से युक्त द्वयर्थक युक्तियों के द्वारा हास-परिहास, नगर भ्रमण, विनोद गोष्ठी करते हैं। बहुत समय बीतने पर हेमांगद आदि अपने बहनोई से काशी जाने की अनुमति लेते हैं। जयकुमार उन्हें रत्न, आभूषण इत्यादि उपहार देते हैं। वे जयकुमार को सविनय प्रणाम कर हस्तिनापुर से प्रस्थान करते हैं। काशी पहुँचकर अपने पिता श्री को बहिन की सुख-समृद्धि के समाचार से अवगत कराते हैं। राजा अकम्पन अपने गृहस्थ जीवन के कर्त्तव्यों से मुक्त होकर आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

द्वाविंशतितम सर्ग

जयकुमार और सुलोचना गृहस्थधर्म एवं राजधर्म का निर्वाह करते हुए सुखपूर्वक अपना समय बिताते हैं।

त्रयोविंशतितम सर्ग

जयकुमार राज्य भार अपने अनुज विजय को सौंपते हैं और स्वयं प्रजा के हितकार्य मे संलग्न हो जाते हैं। एक दिन राजा जयकुमार जब अपनी रानियों के साथ महल की छत पर बैठे थे, तभी उन्होंने आकाश मार्ग से जाते हुए विद्याधर के विमान को देखा, इससे उन्हें जातिस्मरण होता है और वे "प्रभावती" कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं। इसी अवसर पर सुलोचना भी आकाश मार्ग में कपोत युगल को देख "हा रतिवर" शब्द कहकर मूर्छित हो जाती हैं। शीतलोपचार से दोनों ही सचेत होते हैं परन्तु वहाँ उपस्थित सपत्नियाँ सुलोचना के चरित्र पर सन्देह करती हैं। चैतन्य अवस्था प्राप्त होने पर जयकुमार व सुलोचना दोनों को अवधिज्ञान होता है। जयकुमार अपने जन्मान्तर का वृत्तान्त कहने के लिए सुलोचना को प्रेरित करते हैं। सुलोचना द्वारा वर्णित पूर्व जन्म का कथानक इस प्रकार है -

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में पुण्डरीकिणी नगरी है। वहाँ कुबेरप्रिय सेठ सपत्नीक रहता था। उसके यहाँ रतिवर कबूतर और रतिषेणा नामक कबूतरी रहती थी। एक दिन सेठ ने दो मुनियों को आहारदान दिया। मुनिराज के दर्शन से कपोत युगल को जातिस्मरण हुआ। अब उस युगल ने ब्रह्मचर्य धारणकर अपना शेष जीवन व्यतीत किया। धर्म के प्रभाव से दोनों ने मनुष्य जन्म धारण किया। विजयार्ध पर्वत के एक शासक आदित्यगति एवं रानी शशिप्रभा के यहाँ रतिवर के जीव ने "हिरण्यवर्मा" पुत्र के रूप में जन्म लिया। इसी पर्वत पर अन्य राजा वायुरथ और रानी स्वयंप्रभा थी। रतिषेणा उनके यहाँ "प्रभावती" नामक पुत्री हुई। इस जन्म में भी हिरण्यवर्मा और प्रभावती का विवाह हुआ। संसार के विचित्र स्वरूप को जानकर दोनों ने जिनदीक्षा अंगीकार की।

एक दिन पूर्वभव के वैरी विद्युतचोर ने जब इन्हे तप करते हुए देखा तो क्रोधावेश में आकर इन मुनि तथा आर्यिका को जला दिया। समताभाव पूर्वक शरीर का त्यागकर उन्होंने स्वर्ग में जन्म लिया। स्वर्ग से एक बार ये दोनों स्वेच्छा से भ्रमण करते हुए सर्प-सरोवर के समीप पहुँचे। वहाँ आत्महित में संलग्न केवली के दर्शनकर देव दम्पत्ति हर्षित हुए। उनसे संसार की विचित्रता का सन्देश प्राप्त हुआ। उन्होंने बतलाया कि जब देव (कबूतर का जीव) कबूतर जन्म से पूर्व सुकान्त के रूप मे जन्मा था उस समय वह उसके भवदेव नामक शत्रु थे। फिर वह कबूतर के जन्म समय बिलाव एवं हिरण्यवर्मा की जन्मावधि में विद्युच्चोर के रूप में उनके शत्रु बने थे। वर्तमान मे वे भीम नामक केवली है। इस प्रकार सुलोचना ने स्पष्ट किया कि जयकुमार ने ही सुकान्त, रतिवर कबूतर, हिरण्यवर्मा और स्वर्ग के देव के रूप में जन्म लिया था और वे ही इस जन्म मे उसके पति बने।

सुलोचना ने अपने पति द्वारा किये प्रश्न के उत्तर में उक्त कथानक कहा, जिससे सपत्नियों का सन्देह सहज ही दूर हो गया। विद्याधर के जन्म में सिद्ध की गई विद्याओं ने भी यहाँ इनका दासत्व स्वीकार किया। पूर्व जन्म के इस वृत्तान्त से संसार की क्षणभंगुरता जानकर जयकुमार और सुलोचना वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करते हैं। धर्म के प्रति उनकी रुचि और भी दृढ़ हो जाती है।

चतुर्विंशतितम सर्ग

विद्याओं के प्राप्त होने पर जयकुमार और सुलोचना की तीर्थाटन करने की इच्छा होती है। विद्याओं की सहायता से गगन-विहार करते हुए वे सुमेरु पर्वत पर जाते हैं। वहाँ पर सोलह जिनालयों की वन्दना करते हैं। तदनन्तर वे गजदन्त पर्वतों, विशाल वक्षारगिरियों, इष्वाकार पर्वतों एवं अढ़ाई द्वीप मे विद्यमान अन्य जिन-चैत्यालयों की वन्दना करते हैं।

इस प्रकार वन्दना और भ्रमण करते हुए वे कैलाश पर्वत पर पहुँचते है। वहाँ स्थित जिनालय में पहुँचकर भगवान् के चरण कमलों में पुष्प अर्पित कर उन्हें तीन प्रदक्षिणा देते हैं। जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ रूप द्रव्यों से प्रभु की पूजन करते है। स्फटिक मणि की माला लेकर परमेष्ठि वाचक मन्त्र का जाप एवं उनका गुणानुवाद करते है। अन्त में जिनेन्द्र देव की चरणरज मस्तक में लगाकर वे जिनालय से बाहर आते है।

पर्वत पर विहार करते हुए वे दम्पत्ति एक दूसरे से कुछ दूर हो जाते है। उसी समय सौधर्म इन्द्र की सभा मे रविप्रभ देव जयकुमार व सुलोचना के शील की प्रशंसा सुनता है। वह अपनी काञ्चना नामक देवी को उनके शील की परीक्षा करने हेतु भेजता है। वह देवी काल्पनिक कथा कहते हुए जयकुमार के रूप सौन्दर्य की महती प्रशंसा करती है। वह अनेक काम चेष्टाओं से उसे विचलित करने का प्रयास करती है, परन्तु उसे सफलता नही मिलती। जयकुमार ही उसके कार्य की निन्दा करते हुए उसे सद् शिक्षा देता है। देवी जयकुमार के उदासीनता से परिपूर्ण वचनों को सुनती है। क्रोधित हो वह राक्षसी का रूप धारण कर जयकुमार को उठा कर भागने लगती है। यह देख कर जब सती सुलोचना उसकी भर्त्सना करती है तो वह देवी जयकुमार को छोड़ कर चली जाती है। तत्पश्चात् वह देवी शीघ्र ही रविप्रभ देव के साथ आती है। वे दोनों शील की परीक्षा में सफल जयकुमार व सुलोचना की पूजा करते है।

इस प्रकार तीर्थयात्रा कर वे स्वगृह वापिस आ जाते हैं और सन्तोष पूर्वक जीवन यापन करते है।

पञ्चविंशतितम सर्ग

जयकुमार तीर्थ यात्रा से वापिस आने पर वस्तु के स्वरूप पर विचार करते है। वे संसार की क्षणभंगुरता, निःसारता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। वस्तु स्वरूप के चिन्तन से उसका वैराग्य भाव जागरित होता है। वह संसार, शरीर और इन्द्रिय विषय भोगो से उदासी ; हो जाते हैं।

षड्विंशतितम सर्ग

जयकुमार राज्य भार संभालने में दक्ष अपने पुत्र अनन्तवीर्य का शास्त्रोक्त विधि से राज्याभिषेक करते हैं। अनन्तर उसे राजनीति का उपदेश देते है। वे मन्त्रियो व सैनिको

को अपना अन्तिम उद्बोधन देकर सभी से क्षमायाचना करते हैं। फिर वे सभी से गृह त्याग की अनुमति लेते हैं और आदिनाथ भगवान् के समवशरण में पहुँचते है। तीर्थंकर के दर्शन कर वे रोमांचित हो जाते है। जयकुमार श्रद्धा से भगवान् की पूजन स्तुति करते है और आत्म-कल्याण का मार्ग जानने हेतु निवेदन करते हैं।

सप्तविंशतितम सर्ग

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव गृहस्थ और मुनि की तुलना करते हुए जयकुमार को साधु का आचार एवं धर्म का स्वरूप समझाते है। वह उपदेशामृत पानकर जिन दीक्षा अंगीकार करने का दृढ़ निश्चय करता है।

अष्टाविंशतितम सर्ग

राजा जयकुमार समस्त परिग्रहों का त्याग कर निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन जाते हैं। वे मुनिचर्या का पालन करते हुए ज्ञान-ध्यान मे लीन रहते है। क्रमशः गुणस्थानों को पार कर वे केवलज्ञानी हो जाते है। अन्त मे शाश्वत सुख (मोक्ष) प्राप्त करते है।

भरत चक्रवर्ती की पट्टरानी सुभद्रा के समझाने पर रानी सुलोचना भी ब्राह्मी-आर्यिका से जिन-दीक्षा अंगीकार करती है। तप करते हुए शरीर का त्याग कर अच्युतेन्द्र नामक सोलहवें स्वर्ग मे इन्द्र का जन्म धारण करती है।

जयोदय का कथास्रोत

जयोदय महाकाव्य के उपजीव्य ग्रन्थ निम्नलिखित है - आचार्य जिनसेन तथा गुणभद्राचार्य कृत आदि पुराण भाग २, महाकवि पुष्पदन्त द्वारा विरचित महापुराण भाग २, पुण्यास्रव कथाकोश, हस्तिमल्ल कृत विक्रान्त कौरव नाटक, वादिचन्द्र भट्टारक कृत सुलोचना चरित, ब्रह्मचारी कामराज प्रणीत जयकुमार चरित तथा ब्रह्मचारी प्रभुराज विरचित जयकुमार चरित।

जयोदय की कथा का आदिपुराण से अधिक साम्य है। अतः आदिपुराण ही जयोदय का कथास्रोत है। आदिपुराण में वर्णित कथानक का सारांश इस प्रकार है --

हस्तिनापुर के शासक सोमप्रभ थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीवती था। उनके जय, विजय आदि पन्द्रह पुत्र थे। एक बार राजा सोमप्रभ संसार से विरक्त होकर अपने प्रथम पुत्र जयकुमार को राज्य सौंपते हैं और स्वयं वृषभदेव के समीप जाते हैं। एक बार जयकुमार शीलगुप्त मुनि से धर्मोपदेश सुनता है। यह उपदेश उसके साथ एक सर्प दम्पत्ति

भी सुनता है। एक समय पुनः जयकुमार वन में जाता है। वह उक्त सर्पिणी को अन्य सर्प के साथ रमण करते देखता है। वह उसे पृथक् करने का प्रयास करता है। सैनिक भी उन्हें कंकड़ पत्थर से आहत कर देते हैं। जिससे सर्पिणी अपने पूर्व पति नागकुमार की पत्नी बनती है और सर्प गंगा नदी में काली नामक जलदेव के रूप में जन्म लेता है। सर्पिणी उक्त वृत्तान्त द्वारा अपने पति को जयकुमार के विरुद्ध उत्तेजित करती है तो वह क्रोधित होकर उसे मारने के लिए उसके महल में जाता है। वहाँ जयकुमार के मुख से वन का वृत्तान्त सुनता है तो उसका अज्ञान दूर हो जाता है। जयकुमार की पूजा कर उसका सेवक बन जाता है।

भरत क्षेत्र की काशी नगरी के राजा अकम्पन एवं रानी सुप्रभा थी, जिनके एक हजार पुत्र और सुलोचना तथा अक्षमाला नामक दो पुत्रियाँ थीं। सर्वगुण सम्पन्न सुलोचना अष्टाह्निका पर्व की पूजन कर शेषाक्षत देने पिता के समीप जाती है। शेषाक्षत ले पिता पुत्री को पारणा करने के लिये कहते है। अपनी पुत्री को पूर्ण युवती देख वे उसके विवाह के विषय में चिन्तित होते हैं। मन्त्रियों की सलाह से वे स्वयंवर करने का निश्चय करते हैं। स्वयंवर आयोजित करने हेतु विभिन्न देशो के राजकुमारों को आमंत्रित करते है। सभी राजकुमारों के स्थान ग्रहण करने पर वस्त्राभूषणों से अलंकृत सुलोचना जिनेन्द्र पूजनकर स्वयंवर मण्डप में आती है। महेन्द्रदत्त कंचुकी सुलोचना को क्रमशः सभी आगन्तुक राजाओं से परिचित कराता है। सुलोचना हस्तिनापुर नरेश जयकुमार से प्रभावित होकर उसे वरमाला पहनाती है।

सुलोचना द्वारा जयकुमार के वरण को दुर्मर्षण अनुचित मानता है। वह अपने स्वामी अर्ककीर्ति और अन्य राजागण को अकम्पन के विरुद्ध उत्तेजित करता है। क्रोधित हो अर्ककीर्ति युद्धोन्मुख हो जाता है। अर्ककीर्ति को उसका अनवद्यमति मन्त्री एवं राजा अकम्पन का दूत अनेक प्रकार से समझाते हैं। वह उनकी बात न मानकर सेनापति द्वारा युद्ध का डंका बजवा देता है। युद्ध के डंके को सुनकर जयकुमार अकम्पन से सुलोचना की रक्षा हेतु निवेदन करता है और स्वयं अपने भाईयों एवं अन्य राजाओं के साथ युद्ध क्षेत्र में जाता है। वह नागकुमार देव द्वारा प्राप्त अर्धचन्द्र बाण से युद्ध में अर्ककीर्ति को पराजित कर नागपाश में बाँध लेता है और उसे अकम्पन को सौंपता है।

युद्ध से निवृत्त हो सभी जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते हैं। राजा अकम्पन अर्ककीर्ति को समझाते हैं। उनके प्रयास से जयकुमार तथा अर्ककीर्ति की सन्धि होती है।

तदनन्तर वे अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमाला का विवाह अर्ककीर्ति के साथ कर देते हैं। अकम्पन उक्त सभी समाचार दूत द्वारा भरत चक्रवर्ती के समीप भेजते हैं। सम्राट् भरत उनके कार्य से प्रसन्न होते हैं।

मन्त्री का पत्र प्राप्त कर जयकुमार अकम्पन से आज्ञा लेकर हस्तिनापुर प्रस्थान कर देते हैं। सुलोचना के भाई भी उनके साथ जाते हैं। मार्ग में गंगा नदी आने पर पड़ाव डालते हैं। दूसरे दिन जयकुमार अकेला सम्राट् भरत से मिलने अयोध्या पहुँचता है। वह सभा भवन में पहुँच कर सिंहासन पर विराजमान चक्रवर्ती भरत को नमन करता है। सम्राट् उसे मधुर वचनों से सन्तुष्ट कर काशी के समाचार ज्ञात करते हैं और उसे तथा सुलोचना को वस्त्राभूषण प्रदान कर सम्मानित करते हैं।

सम्राट् से अनुमति लेकर जयकुमार हाथी पर बैठकर वापिस गंगा नदी के तट पर आता है। वह वहाँ शुष्क वृक्ष की एक शाखा के अग्रभाग पर एक कौए को सूर्य की उन्मुख होकर रोते हुए देखता है। अपशकुन के कारण जयकुमार सुलोचना के अनिष्ट की आशंका करते हुए मूर्छित हो जाता है। पुरोहित के वचनों से आश्वस्त होकर पुनः यात्रा प्रारम्भ करता है। सरयू और गंगा नदी के संगम पर काली देवी मगर का रूप धारणकर जयकुमार के हाथी को पकड़ लेती है। हाथी को डूबता देखकर सभी उसे बचाने का प्रयास करते हैं। सुलोचना भी पञ्च-नमस्कार मन्त्र का स्मरण कर गंगा में प्रविष्ट होती है। गंगा देवी उक्त वृत्तान्त जानकर काली देवी को डाँटती है तथा सभी को नदी के तट पर पहुँचाती है तथा सुलोचना का भव्य सत्कार करती है। यह देख जब जयकुमार आश्चर्यचकित होता है तो सुलोचना पूर्व जन्म का वृत्तान्त बतलाकर उसकी जिज्ञासा शान्ति करती है। जयकुमार गंगादेवी का आभार व्यक्त कर उसे बिदा करता है।

दूसरे दिन पुनः यात्रा प्रारम्भ कर जयकुमार और सुलोचना हस्तिनापुर पहुँचते हैं। वहाँ प्रजावर्ग एवं सभासद सभी उनका स्वागत करते हैं। जयकुमार एक दिन शुभ मुहूर्त में उत्सव का आयोजन कर सुलोचना को उसके हेमांगद आदि भ्राताओं के समक्ष सुलोचना के मस्तक पर पट्टरानी का पट्ट बाँधता है। कुछ समय बाद सुलोचना के हेमांगद आदि सभी भाई काशी आ जाते हैं। अकम्पन भी अपने पुत्र को राज्य सौंपते हैं एवं जिन-दीक्षा अंगीकार कर तप करते हुए केवलज्ञानी हो जाते हैं।

एक बार जयकुमार और सुलोचना महल की छत पर बैठे थे। जयकुमार कृत्रिम हाथी पर बैठे विद्याधर दम्पत्ति को देखकर पूर्व जन्म का स्मरण होने से "हा मेरी प्रभावती" कहते हुए मूर्छित हो जाता है। सुलोचना भी उसी समय कपोत युगल देखती है और "हा मेरे रतिवर" कह कर अचेत हो जाती है। शीतल उपचार से उनकी मूर्च्छा भंग होती है। जयकुमार सुलोचना

को सान्त्वना देना है। उससे पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाने के लिए कहता है।

सुलोचना ने बतलाया कि वे पहले सुकान्त और रतिवेगा के रूप में जन्मे थे। वहाँ उनका शत्रु भवदेव था। इसके बाद रतिवर और रतिवेगा कपोत युगल बने। यहाँ भवदेव का जीव बिलाव के रूप में उनका शत्रु बना। अनन्तर क्रमशः हिरण्यवर्मा, प्रभावती और शत्रु विद्युच्चोर, स्वर्ग में देव-देवी तथा उनका वैरी अब भीम केवली बने हैं। स्वर्ग के देव देवी ही वर्तमान में जयकुमार और सुलोचना के रूप में है।

पूर्वभव के स्मरण के बाद दोनों को पूर्व जन्म की विद्यायें भी प्राप्त होती हैं। अनन्तर दोनों देशाटन करते हुए कैलाशगिरि पहुँचते हैं। लौटते समय वहीं रतिप्रभ देव के आदेश से कांचना देवी जयकुमार के शील की परीक्षा करती है। वह अनेक चेष्टाओं द्वारा भी उसे विचलित नहीं कर पाती तो उसे उठाकर भागने लगती है। यह देख सुलोचना उसकी भर्त्सना करती है। देवी उसके शील से भयभीत हो रतिप्रभ के समीप वापिस जाती है। रविप्रभ देव स्वर्ग से आकर क्षमायाचना पूर्वक उनकी पूजन करता है।

तीर्थाटन के बाद जयकुमार अपने नगर वापिस पहुँचते हैं और सुखपूर्वक दिन व्यतीत करते हैं। जयकुमार एक बार तीर्थंकर ऋषभदेव का धर्मोपदेश सुनते हैं। वे आत्म-कल्याण करने की इच्छा से अपने पुत्र अनन्तवीर्य को राज्य सौंपकर जिन-दीक्षा अंगीकार करते हैं। वे तप कर इकहत्तरवें गणधर बनते हैं। भरत चक्रवर्ती की पटरानी सुभद्रा के समझाने पर सुलोचना भी ब्राह्मी आर्यिका से दीक्षित होकर तप करती है। सुलोचना का जीव अन्त में शरीर का त्यागकर अच्युतेन्द्र स्वर्ग के अनुत्तर विमान में देव बनता है।[१]

मूलकथा में परिवर्तन और उसका औचित्य

सन्त कवि "स्वान्तः सुखाय और सर्वजनहिताय" के प्रयोजन से काव्य सृजन करते हैं। वे इस प्रयोजन की सिद्धि हेतु पौराणिक कथानक का आश्रय लेते हैं या अपने युग के वातावरण एवं समाज व्यवस्था से प्रभावित होकर मौलिक कथानक का सृजन करते हैं। इसे रस, छन्द, अलंकार, गुण, रीति आदि से अलंकृत कर कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाते हैं कि उसे ग्रहण कर सहृदय को आनन्द की उपलब्धि होती है।

महाकवि ज्ञानसागर ने अलौकिक आनन्दानुभूति के लक्ष्य से ही जयोदय महाकाव्य का सृजन किया है। उन्होंने ऐतिहासिक कथानक का अवलम्बन लिया है। उसमें अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा द्वारा अनेक परिवर्तन किये हैं और उसे महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया है।

---

१. आदिपुराण, भाग - २, पर्व ४३-४७

महाकवि ज्ञानसागर ने कृति को रसात्मक बनाने के लिए मूलकथा में अनेक परिवर्तन किये हैं। उन्होंने काव्य के अनावश्यक विस्तार को रोकने के लिए मूल कथा की कुछ घटनाओं को छोड़ दिया है। जैसे आदिपुराण में जयकुमार एवं सुलोचना के पूर्व-जन्मों का विस्तृत वर्णन है। दोनों के प्रत्येक जन्म के सम्बन्धियों से सम्बन्धित अवान्तर कथाओं का भी विस्तार से वर्णन किया गया है, जिससे पाठक इन कथाओं में इतना उलझ जाता है कि उसे मूल कथा समझने में कठिनाई होती है।[1] परन्तु जयोदयकार ने मात्र जयकुमार एवं सुलोचना के ही पूर्वजन्मों का उल्लेख कर कथा को अनावश्यक बोझ से मुक्त कर सरस बना दिया है।[2]

कवि ने पात्रों की चारित्रिक उदात्तता की रक्षा के लिए भी कुछ घटनाओं को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है। आदिपुराण में उल्लेख है कि जयकुमार एक शुष्क वृक्ष पर बैठे सूर्याभिमुख कौए को रोते देख अनिष्ट की आशंका से अचेत हो जाते हैं।[3] जयोदयकार ने इस घटना का परित्याग कर दिया है। इससे काव्य में भयानक रसभास नहीं आ पाया है और धीरोदात्त नायक के स्थैर्य गुण की रक्षा हो सकी है।

काव्य सृजन का महाकवि का प्रमुख ध्येय रहा है नायक के माध्यम से पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि करना। अतः कवि ने मूल कथा की उन घटनाओं एवं तथ्यों को, जो पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि में सहायक नहीं हैं, छोड़ दिया है। यथा आदिपुराण में जयकुमार के माता पिता पितृव्य का एवं राजा अकम्पन के परिवार का विस्तृत परिचय मिलता है।[4] पर महाकवि का प्रयोजन मात्र जयकुमार का उदय बतलाना रहा है, अतः उन्होंने काव्य में प्रसंगवश जयकुमार के पिता के नाम का उल्लेख किया है। काव्य में अकम्पन उनकी पत्नी एवं पुत्री का परिचय उस समय मिलता है, जब उनका दूत जयकुमार की सभा में सुलोचना के स्वयंवर का समाचार लेकर जाता है।[5] कवि द्वारा कृत इस परिवर्तन से कथानक का अनावश्यक विस्तार नहीं हो पाया है और अत्यन्त सफलता पूर्वक काव्य-प्रयोजन सिद्ध हुआ है।

कुछ स्थलों पर कवि ने नये प्रसंग जोड़े हैं। उदाहरणार्थ आदिपुराण में शीलगुप्त मुनिराज से जयकुमार के उपदेश सुनने मात्र का उल्लेख है।[6] परन्तु जयोदय में मुनि जयकुमार

---

१ आदिपुराण, भाग - २, ४६/१९-३६६, ४७/१-२५०
२ जयोदय, २३/६५-९७
३. आदिपुराण, भाग - २, ४५/१३९ १४१
४ वही, ४३/७७-८३
५ जयोदय, ३/३०, ३७-३८
६ आदिपुराण, भाग-२, ४३/८८-८९

को विस्तार से धर्मनीति और राजनीति का ज्ञान कराते हैं ।[१]

आदिपुराण में सुलोचना के रूप सौन्दर्य एवं विवाह का संक्षेप में वर्णन है ।[२] महाकवि भूरामलजी ने अपनी कल्पना के बल से इसका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है ।[३] जिससे शृंगाररस के प्रसंग में वृद्धि हो गयी है ।

आदिपुराण में महेन्द्रदत्त कंचुकी राजकुमारी सुलोचना को स्वयंवर सभा में आये राजकुमारों से परिचय कराता है ।[४] जयोदय के कवि ने यह कार्य स्वर्ग से आयी बुद्धिदेवी से कराया है,[५] जो कवि की मौलिक कल्पना है । इससे राजकुमारी के गुणों का साहित्यिक भाषा में अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण वर्णन संगत हो गया है । अन्तःपुर की सेवा में लगे एक बूढ़े ब्राह्मण में ऐसी विद्वता संगत नहीं होती । दूसरे विवाह के प्रसंग में एक नारी की मार्गदर्शिका नारी को ही बनाये जाने से प्रसंग में शालीनता आ गई है ।

आदिपुराण में जयकुमार के वैराग्य-चिन्तन का संक्षेप में वर्णन है । जयोदयकार ने इस वैराग्य का वर्णन एक सर्ग में किया है[६], जिससे काव्य में शान्त-रस की ऐसी सुधाधारा प्रवाहित हुई है, जो मम्मट के "सद्यः परनिवृत्तये" काव्य प्रयोजन को साकार करती है ।

इस प्रकार कवि ने मूल कथा में आवश्यक परिवर्तन कर काव्य को रसात्मक बनाने का पूर्ण प्रयास किया है ।

जयोदय का महाकाव्यत्व

जयोदय एक महाकाव्य है । भामह, दण्डी, विश्वनाथ आदि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के जो लक्षण बतलाये हैं[७] वे इसमें अक्षरशः प्राप्त होते हैं । यह उसके निम्न स्वरूप से स्पष्ट हो जाता है -

जयोदय महाकाव्य की कथा अट्ठाईस सर्गों में विभक्त है । काव्य के प्रारम्भ में कवि ने जिनेन्द्र वन्दना द्वारा नमस्कारात्मक मंगलाचरण किया है।[८]

१. जयोदय, २/१ - १३७
२. आदिपुराण, भाग - २, ४३/१३७-३३७
३. जयोदय, ३/३०-११६, सर्ग - ५,६,९,१०,११,१२
४. आदिपुराण, भाग २, ४३ / ३०१ -३०८
५. जयोदय, ६ / ६ - ११८
६. वही, सर्ग-२५
७. (अ) काव्यालंकार : भामह, १/१९-२३ (ब) काव्यादर्श : दण्डी, १/१४-२२
८. जयोदय, १/१

आदिपुराण में वर्णित जयकुमार एवं सुलोचना की कथा पर जयोदय की कथा-वस्तु आधारित है। जयोदय का नायक जयकुमार है। वह क्षत्रिय कुलोत्पन्न, धीरोदात्त, चतुर एवं सर्वगुणसम्पन्न है। वह भरत चक्रवर्ती का सेनापति है। वह धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थ में रत रहते हुए अन्त में तपस्या द्वारा निःश्रेयस् सुख (मोक्ष) प्राप्त करता है। इस प्रकार जयोदय में पुरुषार्थ चतुष्टय के वर्णन द्वारा काव्य का महदुद्देश्य स्पष्ट किया गया है।

कवि ने जयोदय में पर्वत[१], नदी[२], वन[३], सूर्योदय[४], सूर्यास्त[५], चन्द्रोदय[६], चन्द्रास्त[७], प्रभात[८], सन्ध्या[९], अन्धकार[१०], एवं रात्रि[११] का सजीव वर्णन किया है। इसमें काशी[१२], हस्तिनापुर[१३], एवं अयोध्या[१४] तथा नगरियों का तथा वनक्रीड़ा[१५], जलक्रीड़ा[१६], पानगोष्ठी[१७], सुरत क्रीड़ा[१८], विवाह[१९], दूताभिमान[२०], संवाद[२१] और तीर्थयात्रा[२२] प्रभृति का चित्रण किया गया है। इसका नायक प्रतिपक्षी अर्ककीर्ति एवं अन्तःशत्रु काम, क्रोधादि को पराजित कर उन पर विजय प्राप्त करता है[२३]। इस प्रकार अन्तः एवं बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्ति का वर्णन नायकाभ्युदय को संकेतित करता है।

इसमें दो स्थलों पर मुनि एवं उनके द्वारा दिये गये धर्मोपदेशों का भी वर्णन है।

जयोदय में अंगी रस शान्त है[२४], शृंगार, वीर, भयानक, वीभत्स एवं हास्यादि रस शान्तरस को पुष्ट करते हैं।

प्रस्तुत महाकाव्य की कथावस्तु पंच सन्धियों में विभाजित की गई है। प्रथम सर्ग में मुख सन्धि है, तृतीय एवं चतुर्थ सर्ग का कथांश प्रतिमुख सन्धि है। षष्ठ सर्ग गर्भ सन्धि का द्योतक है। सप्तम सर्ग से चतुर्विंशति सर्ग को विमर्श सन्धि कहा जा सकता है। अन्तिम चार सर्ग उपसंहृति सन्धि को सूचित करते हैं।

---

१. जयोदय, २४/२-५७
२. वही, १३/५३-५९
३. वही, १४/४-६, २१/४१-६४
४. वही, १८/१-३२,
५. वही, १५/१-९
६. वही, १५/९, ७४-८२
७. वही, १८/६३
८. वही, सर्ग १८
९. वही, १५/३७-५३
१०. वही, १५/३५-३७
११. वही, १५/३८-१०८
१२. वही, ३/३०
१३. जयोदय, २१ वाँ सर्ग
१४. वही, २०/२-६
१५. वही, १४/७-९९
१६ वही, १४ वाँ सर्ग
१७. वही, १७वाँ सर्ग
१८. वही, १७ वाँ सर्ग
१९ वही, सर्ग १० से १२
२० वही, ३/२१-९५,७/५६-७३,९/५८-६४
२१. वही, सर्ग ७ वाँ सर्ग
२२. वही, २४ वाँ सर्ग
२३. वही, सर्ग ८ एवं २८ वाँ सर्ग
२४. वही, सर्ग - २५ एवं २८ वाँ सर्ग

महाकवि ने काव्य के कुछ सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग कर अन्त में छन्द परिवर्तित किया है तथा कुछ सर्गों में तीन, चार या उससे अधिक छन्दों का प्रयोग किया है और अन्त में छन्द बदल दिया है।

जयोदय के प्रत्येक सर्ग का नामकरण उसमें वर्णित कथांश के आधार पर किया गया है। जैसे अन्तिम सर्ग में जयकुमार के मोक्षप्राप्ति की घटना का चित्रण किया है, अत: इस सर्ग का नाम "तप: परिणाम" है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में अग्रिम सर्ग के घटना की सूचना मिलती है।

काव्य शब्दालंकार, अर्थालंकार के भेदों एवं चक्रबन्ध चित्रालंकार से अलंकृत है। इसमें अप्रत्यक्ष रूप से नायक के गुण वर्णन द्वारा सज्जन की प्रशंसा और प्रतिनायक अर्ककीर्ति के पराभव के चित्रण में दुर्जन की निन्दा की गई है।

महाकाव्य का नाम भी नायक जयकुमार के नाम पर रखा गया है। नायक की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का चित्रण होने से इसका जयोदय नाम सार्थक है। इसके अतिरिक्त महाकवि को काव्य का "**सुलोचना स्वयंवर**" नाम भी अभिप्रेत है। इस नामकरण का आधार है काव्य की प्रमुख घटना स्वयंवर सभा में सुलोचना द्वारा जयकुमार का वरण। इस घटना के आधार पर जयकुमार व अर्ककीर्ति का युद्ध होता है और जयकुमार के पराक्रम का परिचय मिलता है। काव्य के दोनों ही नाम मान्य है पर "जयोदय" संक्षिप्त और सार्थक नाम है।

जयोदय का उपर्युक्त वैशिष्ट्य इसे महाकाव्योचित गरिमा प्रदान करने में पूर्ण समर्थ तथा सक्षम भी है।

जयोदय की काव्यात्मकता

"**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**" अर्थात् जो उक्ति सहृदय को भावमग्न कर दे, मन को छू ले, हृदय को आन्दोलित कर दे, उसे **काव्य** कहते है। काव्य की यह परिभाषा **साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ** ने की है, जो अत्यन्त सरल और सटीक है।

ऐसी उक्ति की रचना तब होती है जब मानवचरित, मानव आदर्श एव जगत् के वैचित्र्य को कलात्मक रीति से प्रस्तुत किया जाता है। कलात्मक रीति का प्राण है भाषा की

लाक्षणिकता एवं व्यंजकता। भाषा को लाक्षणिक एवं व्यंजक बनाने के उपाय हैं : अन्योक्ति, प्रतीक विधान, उपचार वक्रता, अलंकार योजना, बिम्ब योजना, शब्दों का सन्दर्भ विशेष में व्यंजनामय गुम्फन आदि। शब्द सौष्ठव एवं लयात्मकता भी कलात्मक रीति के अंग हैं। इन सबको **आचार्य कुन्तक** ने **वक्रोक्ति** नाम दिया है। कलात्मक अभिव्यंजना प्रकार में ही सौन्दर्य होता है। सुन्दर कथन का नाम ही **काव्य कला** है। रमणीय कथन प्रकार में ढला कथ्य **काव्य** कहलाता है।[1]

''**रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्** (पंडितराज जगन्नाथ, ''सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति'', ध्वन्यालोक-४) ये उक्तियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं।[2]

कलात्मक अभिव्यंजना से भाषा में भावों के स्वरूप का निर्देश करने के बजाय अनुभूति कराने की शक्ति आ जाती है तथा कथन में रमणीयता का आविर्भाव होता है। किसी स्त्री के मुख को सुन्दर कहने से उसके सुन्दर होने की सूचना मात्र मिलती है, किन्तु उसे चन्द्रमा या कमल कहने से उसके सौन्दर्य की अनुभूति होती है, क्योंकि चन्द्रमा और कमल के सौन्दर्य का हमें अनुभव होता है। अतः ये शब्द हमारे अनुभव को जगाकर मुख के सौन्दर्य को मानसपटल पर दृश्य बना देते हैं। किसी के अत्यन्त क्रुद्ध होने पर हम यही कहें कि वह अत्यन्त क्रुद्ध हो गया तो इससे उसके क्रोधातिरेक की जानकारी ही मिलेगी, क्रोधाभिभूत अवस्था की अनुभूति न होगी। इसके बजाय हम यह कहें कि ''वह आग बबूला हो गया'' या ''उसकी आँखों से अंगारे जलने लगे'' तो उसकी क्रोधाभिभूत दशा आँखों के सामने साकार हो जायेगी। कोई युवक किसी युवती से बेहद प्रेम करता है तो ऐसा ही कहने से उसके प्रेम की उत्कटता का साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु ''वह उस पर मरता है'' ऐसा कहने से उसके प्रेम की उत्कटता अनुभव में आ जाती है। किसी को खतरनाक कहने से केवल उसके खतरनाक होने की सूचना मिलती है, लेकिन साँप कहने से उसके खतरनाकपन की सीमा मन को भास जाती है।[3]

इस प्रकार जब वस्तु के स्वभाव, मानव अनुभूतियों एवं व्यापारों को उनके वाचक शब्द द्वारा निर्दिष्ट न कर उपमा उपचारादि (लाक्षणिक प्रयोग) जन्य बिम्बों, मनोभावों के

१. मूक माटी अनुशीलन ([illegible]) डॉ. रतनचन्द जैन, पृष्ठ १
२. मूक माटी अनुशीलन ([illegible]) डॉ. रतनचन्द जैन, पृष्ठ १
३. मूक माटी अनुशीलन ([illegible]) डॉ. रतनचन्द जैन, पृष्ठ १

सूचक बाह्य व्यापार रूप अनुभावों, सन्दर्भ विशेष के वाहक शब्दों तथा सन्दर्भ विशेष में गुम्फित शब्दों के द्वारा अभिव्यक्ति किया जाता है, तब भाषा भावों के स्वरूप की अनुभूति कराने योग्य बनती है। इन तत्वों के द्वारा वस्तु के सौन्दर्य का उत्कर्ष, मानव मनोभावों एवं अनुभूतियों की उत्कटता, तीक्ष्णता, उग्रता, कटुता, उदात्तता एवं वीभत्सता, मनोदशाओं की गहनता, किंकर्तव्यविमूढ़ता, परिस्थितियों और घटनाओं की हृदय द्रावकता, मर्मच्छेदकता तथा आह्लादकता आदि अनुभूतिगम्य हो जाते हैं। इनकी अनुभूति सहृदय के स्थायीभावों को उद्‌बुद्ध करती है, जिससे वह भावमग्न या रसमग्न हो जाता है। कथन की विशिष्ट पद्धति से आविर्भूत रमणीयता भी उसे आह्लादित करती है। कथन की यह विशिष्ट पद्धति ही **शैली** कहलाती है। इस शैली में गुम्फित भाषा **काव्य भाषा** कहलाती है। **भारतीय काव्यशास्त्री कुन्तक** ने इस शैली को **वक्रता** शब्द से अभिहित किया है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने इसे **चयन** (सिलेक्शन) और **विचलन** (डेवीयेशन फार्म नार्मस्) नाम दिये हैं।[१]

जयोदय का काव्यत्व इस कसौटी पर खरा उतरता है। मानव चरित तथा मानव आदर्श प्रस्तुत महाकाव्य का विषय है। महाकवि ने अपनी उक्तियों को लाक्षणिकता एवं व्यंजकता से मण्डित कर अर्थात् उनमें वक्रता लाकर हृदयस्पर्शी बनाया है, जिससे जयोदय की भाषा में अपूर्व काव्यात्मकता आविर्भूत हुई है। महाकवि ने भाषा को काव्यात्मक बनाने वाले प्रायः सभी शैलीय उपादानों का प्रयोग किया है। उपचार वक्रता, प्रतीक विधान, अलंकार योजना, बिम्ब योजना, शब्दों का सन्दर्भ विशेष में व्यंजनामय गुम्फन मुहावरे, लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ आदि सभी तत्त्वों से उनकी भाषा मण्डित है। इन सभी का विश्लेषण उत्तरवर्ती अध्यायों में किया जा रहा है।

१. मूक माटी अनुशीलन (पाण्डुलिपि) : डॉ. रतनचन्द जैन, पृष्ठ-२

तृतीय अध्याय

वक्रता, व्यंजकता एवं ध्वनि

भाषा की व्यंजकता ही काव्य का प्राण है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो वस्तु संवृत्त होती है, रहस्य के आवरण में छिपी रहती है, वह जिज्ञासा उत्पन्न करती है, उत्सुकता जगाती है और इस कारण आकर्षक एवं रोचक बन जाती है। जो वस्तु अनावृत होती है, उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं होता। किसी रमणी का मुख घूंघट में छिपा हो तो देखने की उत्सुकता जगाता है, और यदि खुला हो तो उत्सुकता के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। कथन शैली के विषय में भी यह बात सत्य है। जो बात स्पष्ट शब्दों में कही जाती है उसमें वैसी रोचकता एवं प्रभावोत्पादकता (भावोद्बोधकता) नहीं होती जैसी संकेतात्मक (लाक्षणिक एवं व्यंजक) भाषा में कहने पर होती है। **काव्याचार्य आनन्दवर्धन** ने स्पष्ट कथन द्वारा नहीं अपितु संवृत्ति द्वारा प्रतीत कराये गये अर्थ को ध्वनिकार्य की संज्ञा दी है और इस व्यंजक शैली को कथन मे चारुत्व[1] एवं नावीन्य[2] का संचार करने वाला बतलाया है –

> **यस्मिन्रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते,**
> **संवृत्याभिहितौ वस्तु यत्रालङ्कार एव वा।**
> **काव्याध्वनिध्वनिर्व्यङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः,**
> **सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैर्जनैः॥**[3]

अर्थात् जहाँ रस और भाव तात्पर्य रूप से प्रकाशित होते हैं तथा वस्तु एवं अलंकार संवृत (आवृत) करके सम्प्रेषित किये जाते हैं, वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, उसे **ध्वनिकाव्य** कहते हैं।

१. उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां विभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्॥ ध्वन्यालोक, १/१५॥

२. ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः,
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः।
अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषितः,
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि॥ वही, ४/१-२॥

३. ध्वन्यालोक ३/४२ की वृत्ति

संवृत्याभिधान (संवृति द्वारा संप्रेषण) का फल है कथन में सौन्दर्य का उन्मेष । इसे **लोचनकार अभिनवगुप्त** ने "संवृत्या गोप्यमानतया लब्धसौन्दर्य इत्यर्थः"[1] इन शब्दों में स्पष्ट किया है ।

आनन्दवर्धन ने भी कहा है — "सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति।"[2] अर्थात् सारभूत अर्थ जब स्पष्ट शब्दों का प्रयोग न करते हुए व्यंजित किया जाता है, तब अत्यन्त मनोहर लगता है ।

"यत्तुचारुत्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन यत्प्रतिपादयितुमिष्यते तद् व्यङ्ग्यम्"[3] इन शब्दों में भी उन्होंने यही बात कही है ।

ध्वन्यालोककार ने यह भी कहा है कि व्यंजकता के स्पर्श से अर्थालंकारों में भी रमणीयता (हृदयाह्लादकता) आ जाती है ।[4]

एक काव्यमर्मज्ञ ने व्यंजकता की महिमा का वर्णन निम्न शब्दों में किया है ।

अनुद्घुष्टः शब्दैरथ च घटनातः स्फुटतरः,
पदानामर्थात्मा रमयति न तूत्तानितरसः ।
यथा दृश्यः किञ्चित् पवनचलचीनांशुकतया,
कुचाभोगः स्त्रीणां हरति न तथोन्मुद्रितमुखः ॥[5]

अर्थात् स्पष्ट शब्दों में कही गई बात उस प्रकार आनन्दित नहीं करती, जिस प्रकार आवृत करके अवभासित की गई बात करती है । स्त्रियों के खुले हुए स्तन मन को उतना नहीं मोहते, जितने आवृत स्तन आँचल के उड़ने से प्रकट हो जाने पर मोहते हैं ।

इस प्रकार यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि व्यंजकता के द्वारा भाषा में एक रहस्यमय आकर्षण, एक अद्भुत रोचकता आ जाती है ।

दूसरी बात यह है कि कोई भी बात स्पष्ट शब्दों में अभिहित होने पर मन को उतना प्रभावित नहीं करती, उतना आन्दोलित नहीं करती, जितना गूढ़ शब्दों में प्रस्तुत होने पर करती है ।

---

१ ध्वन्यालोक, लोचन [illegible]

२ ध्वन्यालोक [illegible] वृत्ति

३ वही [illegible]

४ वाच्यालङ्कारवर्गो [illegible] ध्वन्यालोक [illegible]

५ साहित्यदर्पण [illegible]

पाश्चात्य आलोचक **माइकेल रावर्ट्स** का कथन है -

"Deep and sublte feeling can seldom be obtained by direct methods [1]

अर्थात् स्पष्ट कथन द्वारा गम्भीर एवं सूक्ष्म भावनाओं का उद्‌बोधन प्रायः असम्भव है।

जो तथ्य गूढ़ शब्दो मे प्रस्फुटित होता है, वह ऐसा लगता है जैसे हमारी ही अनुभूति मे प्रसूत हुआ हो, इसलिये वह हमे भावोद्वेलित करने में समर्थ होता है।

इन गुणों के आधार पर व्यंजकता काव्यभाषा का प्राण है।

व्यंजकता के प्रकार

व्यंजकता दो प्रकार की होती है - अभिधाश्रित और लक्षणाश्रित।[2] जहाँ शब्द का वाच्यार्थ संगत (उपपन्न) होते हुए भी अभिप्रेत (विवक्षित) नही होता, अपितु अन्य अर्थ की प्रतीति का साधन होता है, वहाँ शब्द में **अभिधाश्रित व्यंजकता** होती है। जहाँ शब्द का वाच्यार्थ असंगत होता है, तो भी जिस वस्तु पर वह आरोपित किया जाता है, उसके स्वसदृश धर्म के सूक्ष्म वैशिष्ट्य को प्रकाशित करने मे सहायक होता है, वहा शब्द मे **लक्षणाश्रित व्यंजकता** होती है। इसे **अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि** कहते है। **कुन्तक** ने इसे **उपचारवक्रता** नाम दिया है। जहाँ रूढ़ि शब्द (पर्यायवाचियों का आधारभूत मूल शब्द) का सामान्य वाच्यार्थ वाक्य(व्याकरण) की दृष्टि से संगत होते हुए भी तात्पर्य की दृष्टि से संगत (उपयुक्त) नही होता, इसलिये तात्पर्योपपत्ति के लिए सविशेष वाच्यार्थ (वाच्यार्थ के विशेष स्वरूप) का द्योतन करता है वहा भी **लक्षणाश्रित व्यंजकता** होती है। इसे **आनन्दवर्धन** ने **अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि**[3] तथा **कुन्तक** ने **रूढ़िवैचित्र्यवक्रता** कहा है।

1. Critique of Poetry Page 32 33
2. एवं लक्षणामूलं व्यंजकत्वमुक्तम्" काव्यप्रकाश ४/१८
3. (क) "योऽर्थ उपपद्यमानोऽपि तावतैवानुपयोगाद्धर्मान्तरसंवलनया अन्यतामिव गतो लक्ष्यमाणोऽनुगतधर्मी सूत्रन्यायेनास्ते स रूपान्तरपरिणत उक्तः।" ध्वन्यालोकलोचन, २/१

   (ख) "इत्यत्र रामशब्दः। अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्।" ध्वन्यालोक, २/१

   (ग) "कमलशब्द इति। लक्ष्मीपात्रत्वादिधर्मान्तरशतचित्रता परिणत संज्ञिनमाहतेन शुद्धेऽर्थे मुख्ये बाधानिमित्त तत्रार्थे तद्धर्मसमवाय। तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति"। ध्वन्यालोकलोचन, २/१

   (घ) अनुपयोगात्मिका च मुख्यार्थबाधात्रास्तीति लक्षणामूलत्वादविवक्षितवाच्यभेदः तास्योपपन्नैव शुद्धार्थस्याविवक्षणात्।" वही, २/१

इस प्रकार शब्द का व्यंजकत्व दो प्रकार का होता है - अभिधाश्रित और लक्षणाश्रित। जहाँ शब्द का अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ अभिप्रेत नहीं होता, व्यंग्यार्थ ही अभिप्रेत होता है, वहां "**ध्वनि**" संज्ञा होती है।[1]

व्यंजकता का हेतु उक्ति की वक्रता

शब्द को व्यंजक बनाने वाला तत्व है उक्ति की वक्रता या प्रयोग वैचित्र्य। प्रसिद्ध काव्यशास्त्री **कुन्तक** ने वक्रता के निम्नलिखित भेद बतलाये हैं :--

१- **वर्णविन्यासवक्रता**

२- **पदपूर्वार्धवक्रता**

(क) **रूढ़िवैचित्र्यवक्रता**

(ख) **पर्यायवक्रता**

(ग) **उपचारवक्रता**

(घ) **विशेषणवक्रता**

(ङ) **संवृतिवक्रता**

(च) **पदमध्यान्तर्भूतप्रत्ययवक्रता**

(छ) **वृत्तिवैचित्र्यवक्रता**

(ज) **भाववैचित्र्यवक्रता**

(झ) **लिंगवैचित्र्यवक्रता**

(ञ) **क्रियावैचित्र्यवक्रता**

३- **पदपरार्धवक्रता**

(क) **कालवैचित्र्यवक्रता**

(ख) **कारकवक्रता**

(ग) **संख्यावक्रता**

(घ) **पुरुषवक्रता**

(ङ) **उपग्रहवक्रता**

(च) **प्रत्ययान्तरवक्रता**

(छ) **उपसर्गवक्रता**

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ ध्वन्यालोक, १ १३

(ज) निपातवक्रता

(झ) उपसर्गनिपातवक्रता

४- **वस्तुवक्रता**

५- **वाक्यवक्रता**

जयोदयकार ने इनमें से अनेक वक्रताओं के द्वारा उक्ति को व्यंजक बनाया है अर्थात् काव्यात्मभूत ध्वनि की सृष्टि की है। निम्न उदाहरणों में यह बात स्पष्ट हो जाती है-

रूढ़िवैचित्र्यवक्रता

पर्यायवाचियों का आधारभूत मूल शब्द **रूढ़ि शब्द** कहलाता है। जैसे - "दाशरथी", "रावणारि" आदि जिसके पर्यायवाची है, वह मूल शब्द है "राम," अत. "राम" **रूढ़ि शब्द** है।

रूढ़ि शब्द का ऐसा प्रयोग कि वह वाच्यार्थ का बोध न कराकर प्रकरण के अनुरूप अन्य अर्थ व्यंजित करे अथवा उसमें वाच्यार्थ के किसी धर्म का अतिशय द्योतित हो, **रूढ़िवैचित्र्यवक्रता** कहलाता है। इसका प्रयोजन है लोकोत्तर तिरस्कार या लोकोत्तर शलाघ्यता के अतिशय का प्रकाशन।[1] यह अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का हेतु है।

जयोदय के निम्न पद्यों में इसके उदाहरण दर्शनीय है :

(क) यासि सोमात्मजस्येष्टामर्ककीर्तिश्च शर्वरी।
हन्ताऽप्यनुचरस्य त्वं क्षत्रियाणां शिरोमणिः ॥७/३४॥

राजकुमार अर्ककीर्ति का मन्त्री उसे समझाते हुए कहता है जयकुमार राजा सोम का पुत्र है और आप अर्ककीर्ति (सूर्य के समान कीर्ति वाले) है, फिर भी उसके लिए जो रात्रि के समान इष्ट है; उस सुलोचना को आप पाना चाहते है ? इसी प्रकार आप क्षत्रियों के शिरोमणि होकर भी अनुचर जयकुमार को मारना चाहते है, क्या यह उचित है ?

यहाँ "अर्ककीर्ति" शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया गया है कि वह राजकुमार के नाम का बोध न कराकर उसके सूर्यसदृश कीर्तिरूप माहात्म्य का द्योतन करना है। अत: यहाँ रूढ़िवैचित्र्यवक्रता है। इसका प्रयोजन है अर्ककीर्ति को अनुचित कार्य से विरत करना।

(ख) पश्यैतस्यैतादृग्रूपं शुचि रुचिरमग्रतो गण्यम्।
इतरस्य जनस्य पुनर्लावण्यं भवति लावण्यम् ॥ ६/९४

---

१. यत्र रूढे सम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता। सद्धर्मातिशयारोपगर्भत्वं वा प्रतीयते ॥
लोकोत्तरतिरस्कारश्लाघ्योत्कर्षाभिधित्सया। वाच्यस्य सोच्यते कापि रूढिवैचित्र्यवक्रता ॥
• वक्रोक्तिजीवित, २/८-९

हे मुनिराज ! आप लोग धन्य हैं, क्योंकि आप चारो तरफ से बन्धन मे बाँधकर रखने वाले परिग्रह से विरक्त है। हम जैसे अबलाओं में आसक्त मनुष्य तो सदा दुःखी रहते है।

यहाँ कामिनी, रमणी, सुन्दरी आदि शब्दो के स्थान में "अबला" शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्रसगानुकूल है । इससे एक निस्सार वस्तु का अर्थ व्यंजित होता है । निस्सार वस्तु मे आसक्त होकर दुःखी रहने वाले लोगो का अधन्य होना युक्तियुक्त है ।

विशेषणवक्रता

जहाँ विशेषण के माहात्म्य से वस्तु या क्रिया की अवस्था विशेष का बोध हो जिससे उसकी अन्तर्निहित सुन्दरता, कोमलता, या प्रखरता प्रकट होकर रस या भाव की पोषक बन जाय, वहाँ **विशेषणवक्रता** होती है।[1] निम्न उदाहरण जयोदयकार के इस कौशल को भली भाँति प्रकट करते है

(क) **सन्ति गेहिषु च सज्जना अहा भोगसंसृतिशरीरनिःस्पृहाः ।**
तत्त्ववर्त्मनिरता यतः सुचित्प्रस्तरेषु मणयोऽपि हि क्वचित् ॥ २/१२

प्रसन्नता की बात है कि गृहस्थो मे भी कुछ ऐसे सज्जनो का सद्भाव होता है, जिन्हे ससार, शरीर और भोगो की आकाक्षा नही होती, क्योकि वे ज्ञानमार्ग मे निरत रहते है । कहीं कहीं पत्थरो मे भी रत्न मिल जाते है ।

इस उक्ति मे "भोगससृतिशरीरनिःस्पृहा" तथा "तत्त्ववर्त्मनिरता" विशेषणो के प्रयोग से सज्जनो का भोगनिस्पृह तथा ससारविरक्त स्वरूप प्रकट होता है, जिससे वे शान्तरस के विभाव बन जाते है ।

(ख) **मरालमुक्तस्य सरोवरस्य दशां त्वयाऽनायितमां प्रशस्यः ।**
कश्चिन्नु देशः सुखिनां मुदे स विशुद्धवृत्तेन सता सुवेश ॥ ३/२४ ॥

हे मनोहर वेशधारी अतिथिवर ! निर्दोष आचरण करने वाले आप सत्पुरुष ने सुखीजनो को भी आनन्द के हेतुभूत किस देश को हसविहीन सरोवर की दशा मे पहुँचा दिया है ? (अर्थात् आप कहाँ से पधारे है ?) ।

यहाँ "मरालमुक्त" विशेषण सरोवर की शोभाविहीन दशा को बड़ी चारुता से व्यंजित करता है । इससे उस राजा की मरालसम शोभनकारिता तथा उसके देश को छोड़कर

---

१ विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा ।
यत्रोल्लसति लावण्य सा विशेषणवक्रता ॥ - वक्रोक्तिजीवित, २/१५

चले आने से देश का मरालमुक्त सरोवर की भाँति शोभाहीनता को प्राप्त हो जाना प्रभावपूर्ण ढंग से प्रतीति के विषय बन गये हैं।

क्षणरुचिः कमला प्रतिदिङ्मुखं सुरधनुश्चलमैन्द्रियकं सुखम्।
विभव एष च सुप्तविकल्पवदहह दृश्यमदोऽखिलमध्रुवम् ॥ २५/३ ॥

- धन-सम्पत्ति बिजली की चमक के समान क्षणस्थायी है, इन्द्रियसुख इन्द्रधनुष के समान चंचल हैं और पुत्र-पौत्रादिरूप यह वैभव स्वप्न के समान असत्य है। अहो! यह समस्त दृश्यमान् जगत् अनित्य है।

इस पद्य में प्रयुक्त "क्षणरुचिः", "सुरधनुश्चलम्," "सुप्तविकल्पवद्" तथा "अध्रुवम्" विशेषणों से लक्ष्मी, इन्द्रियसुख, वैभव तथा दृश्यमान् जगत् के क्षणभंगुर एवं असत्य स्वरूप की प्रतीति होती है; जिससे ये पदार्थ वैराग्य के हेतु बनकर शान्तरस की व्यंजना में समर्थ हो गये हैं।

संवृतिवक्रता

जहाँ वस्तु के उत्कर्ष, लोकोत्तरता या अनिर्वचनीयता की प्रतीति कराने के लिए अथवा लोकोत्तरता की प्रतीति को सीमित होने से बचाने के लिए सर्वनाम से आच्छादित कर उसका द्योतन किया जाता है, वहाँ **संवृतिवक्रता** होती है।[1] **ध्वनिकार** ने इसे **सर्वनाम व्यंजकत्व** कहा है। यह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का आधार है।[2] जयोदय के निम्न पद्यों में कवि की संवृतिवक्रता का चमत्कार प्रस्फुटित होता है -

(क) **याम एव सदसीह परन्तु भिन्नभिन्नरुचिमद् गुणतन्तुः।**
स्तनुर्नन्नु परं जनमञ्चेत् का दशा पुनरहो जनमञ्चे ॥ ४/२८

सुलोचना के स्वयंवर प्रसंग में आया हुआ राजकुमार अर्ककीर्ति सोचता है - "अब आया हूँ, तो स्वयंवर सभा में जाऊँगा ही। किन्तु लोगों के भाव तो भिन्न-भिन्न रुचि के हुआ करते हैं। सो यदि सुलोचना मुझे छोड़कर दूसरे का वरण कर लेगी तो उतने जनसमूह के बीच मेरी क्या दशा होगी ?

सुलोचना के द्वारा किसी और का वरण कर लिये जाने पर, अर्ककीर्ति की जो घोर अपमानास्पद स्थिति होगी, उसे यहाँ "का" सर्वनाम द्वारा संवृत किया गया है, इसीलिए उसकी घोरता के उत्कर्ष का द्योतन सम्भव हुआ है।

---

१. यत्र संव्रियते वस्तु वैचित्र्यविवक्षया।
सर्वनामादिभिः कश्चित् सोक्ता संवृतिवक्रता ॥ वक्रोक्तिजीवित - २/१६

२. सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥ ध्वन्यालोक, ३/१६

(ख) **प्रजायाः प्रत्युपायेऽस्मिन्नपायमुपपद्यते ।**

भवादृशो भ्रमादन्यः प्रत्ययः को निरत्ययः ॥ ७/३८

- राजकुमार अर्ककीर्ति का अनवद्यमति मन्त्री उसे समझाते हुए कहता है - "हे कुमार ! आप जैसे पुरुष भी यदि प्रजा की भलाई के इस कार्य में बुराई समझें,तो इसमें भ्रम के सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ?

यहाँ "भवादृशः" सर्वनाम से आच्छादित ... पर अर्ककीर्ति की सातिशय विवेकशीलता व्यंजित हो जाती है ।

वृत्तिवैचित्र्यवक्रता

व्याकरण शास्त्र में समास, तद्धित, सुब्धातु आदि को **वृत्ति** कहते हैं । जहाँ किसी विशेष समासादि के प्रयोग से रचना (भाषा) में विशेष सौन्दर्य आ जाता है, वहाँ **वृत्तिवैचित्र्य-वक्रता** कहलाती है ।[1] यह भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का हेतु है । जयोदय के निम्न उदाहरण में इसका आस्वादन किया जा सकता है -

(क) **यमथ जेतुमितः प्रविचार्यते स जय आश्वपि दुर्जय आर्य ते ।**

तरुणिमा क्षयदो यदि जायते जरसि किं पुनरत्र सुखायते । ९/२२

- दूसरी ओर मैं (अर्ककीर्ति) सोचता हूँ कि जयकुमार को जीत लूँ । यदि आज उसे मैं अपनी युवावस्था में न जीत पाया तो और कब जीत सकूँगा ? यदि यौवन में ही क्षयरोग लग जाये तो वृद्धावस्था में उससे मुक्त होकर सुखी होने की आशा व्यर्थ है ।

यहाँ तारुण्य, तरुणत्व, तरुणता की अपेक्षा इमनिच् प्रत्यान्त "तरुणिमा" शब्द के प्रयोग से विशेष चारुत्व आ गया है । यौवन में सुकुमारता और लालित्य की प्रतीति होती है । इमनिच् तद्धित प्रत्यय है, अतः यहाँ **तद्धितवृत्तिवैचित्र्यवक्रता** है ।

(ख) **कलशोत्पत्तितादात्म्यमितोऽहं तव दर्शनात् ।**

आगस्त्यत्कोऽस्मि संसारसागरश्चुलुकायते ॥ १/१०३

- हे भगवान् ! आपके दर्शन से आज मैं उत्तम सुख का अनुभव करता हुआ पापमुक्त हो गया हूँ । अब मेरे लिए यह संसारसागर चुल्लूभर प्रतीत होता है, जैसा कि अगस्त्य ऋषि के लिए समुद्र चुल्लू के बराबर हो गया था ।

इस पद्य में "चुलुकायते" क्रिया के प्रयोग से भाषा में सौन्दर्य आ गया है । यह क्रिया "चुलुका" सुबन्त में आचारार्थ "क्यङ्" प्रत्यय के प्रयोग द्वारा धातु बनाकर निष्पन्न की गई है, अतः यहाँ **सुब्धातुवृत्तिवैचित्र्यवक्रता** है ।

---

१. अव्ययीभावमुख्यानां वृत्तीनां रमणीयता ।
यत्रोल्लसति सा ज्ञेया वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ॥ वक्रोक्तिजीवित, २/१९

लिंगवैचित्र्यवक्रता

सौन्दर्य या शृंगाररस की अनुभूति कराने के लिए अन्य लिंगवाची शब्द को छोड़कर स्त्री लिंगवाची शब्द के प्रयोग में **लिंगवैचित्र्यवक्रता** होती है। भाषिक सौन्दर्य उत्पन्न करने हेतु एक ही वस्तु के लिए एक साथ भिन्नलिंगीय शब्दों का प्रयोग तथा जो मानवीय भाव या क्रिया जिस लिंग के व्यक्ति के स्वभाव में अधिक अनुरूपता रखती है उस भाव या क्रिया के प्रसंग में उसी लिंगवाले शब्द का प्रयोग भी **लिंगवैचित्र्यवक्रता** में आता है।[1] **ध्वनिकार** के अनुसार यह लिंग की व्यंजकता है। जयोदय में इसके उदाहरण अधिक नहीं हैं। एक उदाहरण दर्शनीय है

रेजिरे रदनखण्डितोष्ठया हस्तपातकलितोरुकोष्ठया।
निर्गलत्सघनघर्मतोयया तेऽञ्चिताः खलु रुषा सरागया॥ ७/९६

- उस समय योद्धागण नेत्र मुख आदि को सराग (लाल) कर देने वाली क्रोधाग्नि (रुष) के द्वारा आलिंगित कर लिये गये, जिसके वशीभूत हो वे दाँतों से ओंठ काटने लगे, जंघाओं के ऊपरी भाग पर हाथ पटकने लगे (जंघा ठोकने लगे) तथा उनके शरीर से पसीना बहने लगा।

ये सब क्रियायें तब भी होती हैं जब कोई सराग (कामासक्त) प्रियतमा अपने प्रियतम का आलिंगन करती है। अतः यहाँ समासोक्ति अलंकार के माध्यम से इस शृंगारात्मक अर्थ की व्यंजना के लिए पुल्लिंगवाचक "रोष" शब्द के स्थान में स्त्रीलिंगवाची रुष (रुषा तृतीया एकवचन) शब्द का प्रयोग किया गया है ताकि उससे किसी "रूप्" नामक नायिका का अर्थ व्यंजित हो सके।

क्रियावैचित्र्यवक्रता

(१) वस्तु के वैशिष्ट्य को व्यंजित करने के लिए विशिष्ट अर्थ वाली धातु का प्रयोग, (२) कर्त्ता के द्वारा अलोकप्रसिद्ध क्रिया के सम्पादन का कथन, (३) कर्त्ता के द्वारा

---

१ भिन्नयोर्लिङ्गयोर्यस्या समानाधिकरण्यता।
कापि शोभाभ्युदेत्येषा लिङ्गवैचित्र्यवक्रता॥
सति लिंगान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्ग च प्रयुज्यते।
शोभा निष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम्॥
विशिष्ट योज्यते लिङ्गमन्यस्मिन् सभवत्यपि।
यत्र विच्छित्तये सान्या वाच्यौचित्यानुसारतः॥ वक्रोक्तिजीवित, २/२१, २२, २३

अन्य कर्त्ता की अपेक्षा विचित्र (अद्भुत) क्रिया के सम्पादन का कथन, (४) विशेषण के द्वारा क्रिया में अर्थविशेष के व्यंजकत्व का आधान, (५) रमणीयता का बोध कराने के लिए अन्य पर अन्य की क्रिया का आरोप, (६) किसी अतिशय या अनिर्वचनीयता की प्रतीति हेतु क्रिया के कर्मादि कारकों की संवृति, ये **क्रियावैचित्र्यवक्रता** के रूप हैं।[1] जो असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के हेतु हैं। इसमें धातु का अर्थ व्यंजक होता है। **ध्वनिकार आनन्दवर्धन** ने इसे **तिङन्त व्यंजकता** कहा है। जयोदय में क्रियावैचित्र्यवक्रताजन्य चमत्कार निम्न उदाहरणों में देखा जा सकता है -

(क) चालितवती स्थलेऽत्रामुकगुणगतवाचि तु सुनेत्रा।
कौतुकितयेव वलयं साङ्गुष्ठानामिकोपयोगमयम्॥ ६/३२

- बुद्धिदेवी राजकुमारी सुलोचना को स्वयंवर सभा में आये हुए राजकुमारों का क्रमशः परिचय कराती है। जब उसने कामरूप के राजा के गुणों का वर्णन किया तब उसे सुन लेने के बाद सुलोचना ने अनामिका अंगुली और अंगूठे के द्वारा अपने कंगन को घुमा दिया जो ऊपर से ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसने विनोदभाव से घुमाया हो।

यहाँ "वलयं चालितवती" क्रिया बुद्धिदेवी को आगे बढ़ने के आदेश की व्यंजकता करती हुई वर्ण्यमान राजा में सुलोचना की अरुचि का द्योतन करती है। इस क्रिया के द्वारा कवि ने सुलोचना के अभिप्राय को अत्यन्त शालीनतापूर्वक व्यंजित करने का कौशल दिखलाया है।

(ख) अध्यात्मविद्यामिव भव्यवृन्दः सरोजराजिं मधुरां मिलिन्दः।
प्रीत्या पपौ सोऽपि तकां सुगौरगात्रीं यथा चन्द्रकलां चकोरः॥१०/११८

- वर जयकुमार ने भी गौरवर्णा सुलोचना को उसी प्रकार प्रेम से पिया (अनुराग-पूर्वक देखने में तल्लीन हुआ) जैसे भव्यजीव अध्यात्मविद्या को, भ्रमर कमलपंक्ति को तथा चकोर चन्द्रमा को पाकर प्रेम से पान करता है।

प्रस्तुत उक्ति में "पपौ" (पिया) क्रिया का प्रयोग जलादि तरल पदार्थों को पीने के लोकप्रसिद्ध अर्थ में न कर, सुन्दर युवती को पीने के अलोकप्रसिद्ध अर्थ में किया गया है, इसलिए यहाँ क्रियावैचित्र्यवक्रता है। इस विचित्र प्रयोग से उक्त में चारुत्व के आविर्भाव के साथ-साथ जयकुमार के सुलोचना को देखने में तल्लीन हो जाने तथा इस व्यापार से

---

१. **कर्तुरत्यन्तरङ्गत्वं कर्त्रन्तरविचित्रता। सविशेषणवैचित्र्यमुपचारमनोज्ञता॥**
कर्मादिसंवृतिः पञ्च प्रस्तुतौचित्यचारवः। क्रियावैचित्र्यवक्रत्वप्रकारास्त इमे स्मृताः॥
वक्रोक्तिजीवित, २/२४-२५

सुलोचना के अत्यधिक आकर्षक और हृदयाह्लादक होने का भाव व्यंजित किया गया है जिससे कवि के श्लाघ्य काव्यनैपुण्य का परिचय मिलता है।

कारकवक्रता

जहाँ अचेतन पर चेतनत्व का अध्यारोप कर अचेतन को चेतन के समान कर्तादि कारकों के रूप में निबद्ध किया जाता है अथवा कारण आदि गौण कारकों पर कर्तृत्व का अध्यारोप करने से कारकों का परिवर्तन भावविशेष की अभिव्यंजना द्वारा रस का परिपोषक एवं हृदयाह्लादक हो जाता है, वहाँ **कारकवक्रता** होती है।[1]

यथा जयोदय में -

(क) **भूयो विरराम करः प्रियोन्मुखः सन् स्रगन्वितस्तस्याः।**
प्रत्यापयौ दृगन्तोऽप्यर्धपथाच्चपलताऽऽलस्यात्॥ ६/११९

- सुलोचना जयकुमार के गले में वरमाला डालना चाहती थी किन्तु उसका वरमाला वाला हाथ जयकुमार के सम्मुख जाकर भी बार-बार बीच में ही रुक जाता था। इसी तरह उसकी दृष्टि भी चपलता तथा आलस्यवश बीच रास्ते से लौट आती थी।

यहाँ "वरमाला वाला हाथ" तथा "दृष्टि" जो अचेतन है, चेतनत्व के अध्यारोप द्वारा कर्ता के रूप में निबद्ध किये गये है। इससे यह व्यंजित होता है कि सुलोचना स्वयं वरमाला वाले हाथ को नहीं रोकती थी, न ही अपनी दृष्टि लौटाती थी। उसकी इच्छा के बिना यह सब हो रहा था। वह तो वरमाला डालना चाहती थी और दृष्टि भी जयकुमार की ओर ही ले जाना चाहती थी, किन्तु लज्जा उसे वशीभूत कर लेती थी और उसकी इच्छा के बिना यह सब अपने आप हो जाता था।

यहाँ कारकवक्रता के द्वारा अनुराग एवं लज्जा के परस्पर विरोधी भावों से उत्पन्न सुलोचना की द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति एवं अनुराग पर लज्जा के हावी हो जाने की नारी सुलभ मनोवैज्ञानिक स्थिति का प्रभावशाली अभिव्यंजन हुआ है।

(ख) **द्राक् पपात तरणाविव पद्मानन्ददायिनि जये स्मयसद्मा।**
दृष्टिरभ्युदयभाजि जनानां तेजसाञ्च निलये भुवनानाम्॥ ५/२८

- कमल को विकसित करनेवाले सूर्य के समान अभ्युदयशील, तीनों लोकों के तेज

---

१. (क) यत्र अचेतनस्यापि पदार्थस्य चेतनत्वाध्यारोपेण चेतनस्यैव क्रियासमावेश लक्षणं रसादिपरिपोषणार्थं कर्तृत्वादिकारकं निबद्ध्यते। वक्रोक्तिजीवित, पृष्ठ-८२

(ख) यत्र कारकसामान्यं प्राधान्येन निबद्ध्यते। तत्त्वाध्यारोपणान्मुख्यगुणभावाभिधानतः॥
परिपोषयितुं काञ्चिद्भङ्गीभणितिरम्यताम्। कारकाणां विपर्यासः सोक्ता कारकवक्रता॥
वक्रोक्तिजीवित, २/२७, २८

के आश्रय, उन महाराज जयकुमार पर सब लोगों की विस्मयान्वित दृष्टि जा पड़ी।

"दृष्टिः पपात" इस प्रयोग में अचेतन दृष्टि को चेतनत्व के आरोप द्वारा कर्त्ता बनाया गया है, अतः यहाँ कारकवक्रता है। इसके द्वारा जयकुमार की अत्यधिक प्रभावशालिता व्यंजित की गई है।

संख्यावक्रता

जहाँ कथन में वैचित्र्य लाने के लिए एकवचन या द्विवचन के स्थान में बहुवचन आदि का प्रयोग किया जाता है अथवा जहाँ भिन्न वचनों का सामानाधिकरण्य (एक ही वस्तु के साथ भिन्न वचनों का प्रयोग) किया जाता है, वहाँ **संख्यावक्रता** होती है। इसका प्रयोजन है ताटस्थ्यादि भाव की प्रतीति कराना।[1] यह "वचन" में व्यंजकता लाने का उपाय है जो असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का हेतु है। जयोदय में संख्यावक्रता का उदाहरण निम्न पद्य में देखा जा सकता है -

धन्याः परिग्रहाद्यूयं विरक्ताः परितो ग्रहात्।
नित्यमत्रावसीदन्ति मादृशा अबलाकुलाः॥ १/१०७

- हे मुनिराज! सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त होने के कारण आप लोग धन्य हैं। स्त्रियों में आसक्त मुझ जैसे प्राणी सदा दुःख भोगते हैं।

यहाँ "त्वं" (आप) के स्थान में "यूयं" (आप लोग) का प्रयोग है। इस संख्या वक्रता के द्वारा मुनियों और गृहस्थों में चारित्राश्रित वर्गभेद द्योतित किया गया है।

पुरुषवक्रता

जहाँ उत्तम पुरुष या मध्यम पुरुष का प्रयोग किया जाना चाहिये, वहाँ वैचित्र्य की उत्पत्ति के लिए प्रथम पुरुष का प्रयोग करना **पुरुषवक्रता** है।[2] जयोदय के निम्न पद्य में पुरुषवक्रता का प्रयोग दर्शनीय है -

---

१. (क) कुर्वन्ति काव्यवैचित्र्यविवक्षापरतन्त्रिताः।
यत्र संख्याविपर्यासं तां संख्यावक्रतां विदुः॥ वक्रोक्तिजीवित, २/२९

(ख) तदयमत्रार्थः - यदेकवचने द्विवचने प्रयोक्तव्ये वैचित्र्यार्थं वचनान्तरं यत्र प्रयुज्यते भिन्नवचनयोर्वा यत्र समानाधिकरण्यं विधीयते। वही, पृ० २६०

२. (क) प्रत्यक्तापरभावश्च विपर्यासेन योज्यते।
यत्र विच्छित्तये सैषा ज्ञेया पुरुषवक्रता॥ वही, २/३०

(ख) तदयमत्रार्थः - यदस्मिन्नुत्तमे मध्यमे वा पुरुषे प्रयोक्तव्ये वैचित्र्यायान्यःकदाचित् प्रथमः प्रयुज्यते। तस्माच्च पुरुषैकयोगक्षेमत्वादस्मदादेः प्रातिपदिकमात्रस्य च विपर्यासः पर्यवस्यति। वही, पृ०२६२

महतामपि भो भूमौ दुर्लभं यस्य दर्शनम् ।
भाग्योदयाच्चकास्तीति स पाणौ मे महामणिः ॥१/१०६

- हे मुनिवर ! इस धरती पर जिसके दर्शन महापुरुषों के लिए भी दुर्लभ हैं, वह महामणि (आप) मेरे भाग्योदय से आज मेरे हाथ में शोभित हो रहा है ।

इस उक्ति में राजा जयकुमार मुनिवर से वार्तालाप करते समय उन्हें महामणि कहता है । यहाँ जयकुमार के द्वारा उनके लिए मध्यम पुरुष के सर्वनाम "त्वम्" एवं "तव" प्रयुक्त किये जाने चाहिए किन्तु उनका प्रयोग न कर प्रथम पुरुष के सर्वनाम "सः" और "यस्य" प्रयुक्त किये गये हैं । इसलिए यहाँ पुरुष वक्रता है । इस प्रयोग से जयकुमार के मन में मुनिराज के प्रति एक अत्यन्त उच्चभाव के अस्तित्व की अभिव्यक्ति होती है, साथ ही उक्तिवैचित्र्यजन्य रमणीयता का बोध होता है ।

उपसर्गवक्रता

जहाँ उपसर्ग के द्वारा वस्तु के वैशिष्ट्य का द्योतनकर भाव-विशेष के अतिशय का बोध कराया जाता है अथवा उसके द्वारा विभावादि सामग्री उपस्थितकर रसाभिव्यक्ति की जाती है, वहाँ **उपसर्गवक्रता** होती है ।[1] यथा जयोदय में -

(क) **भरतेशतुगेष तवास्य रतेः स्मरवत् किमर्ककीर्तिरयम् ।**
अम्भोजमुखि भवेत्सुखि आस्यं पश्यन् सुहासमयम् ॥ ६/१४॥

- हे कमलमुखी ! यह चक्रवर्ती भरत का पुत्र अर्ककीर्ति है । क्या यह तुम्हारे मनोहर हास से सुशोभित मुख को देखते हुए उसी प्रकार सुख प्राप्त करेगा जिस प्रकार रति का मुख देखकर कामदेव प्राप्त करता है? (अर्थात् क्या तुम इसका वरण करना चाहोगी ?)

यहाँ "सुहासमयम् आस्यम्" में "सु" उपसर्ग के द्वारा हास की मनोहरता व्यंजित करते हुए मुख का सौन्दर्यातिशय द्योतित किया गया है, जो उद्दीपन विभाव के रूप में शृंगार रस की अभिव्यक्ति का हेतु बन गया है । अतः यहाँ "सु" उपसर्गवक्रता से मण्डित है ।

(ख) **प्रत्युपेत्य निजगौ वचोहरः प्रेरितैणपतिवत्प्रयत्नरः ।**
दुर्निवार इति नैति नो गिरश्चक्रवर्तितनयो महीश्वर ॥७/७१॥

---

1. **रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः ।**
वाक्यैकजीवितत्वेन सा परा पदवक्रता ॥ वक्रोक्तिजीवित, २/३३

- हे राजन् ! चक्रवर्ती भरत का पुत्र अर्ककीर्ति तो इस समय उत्तेजित सिंह के समान दुर्निवार हो गया है । हमारी एक भी नही सुनता ।

यहाँ "दुर्निवार" पद में "दुर्" उपसर्ग अर्ककीर्ति के क्रोध की उद्दामता का प्रकाशन कर रौद्र रस के उद्दीपन विभाव की योजना में सहायक बन गया है। अतः इस उपसर्ग में अपूर्व वक्रता सुशोभित हो रही है ।

निपातवक्रता

निपात भी जहाँ भावविशेष की व्यंजना द्वारा रसद्योतन में सहायक होता है, वहाँ **निपातवक्रता** होती है ।[1] जयोदय के निम्न पद्यों में इस वक्रता का विलास दृष्टव्य है -

(क) **क्षणरुचिः कमला प्रतिदिङ्मुखं सुरधनुश्चलमैन्द्रियकं सुखम् ।**
विभव एष च सुप्तविकल्पवदहह दृश्यमदोऽखिलमध्रुवम् ॥ २५/३

- धन सम्पत्ति बिजली की चमक के समान क्षणस्थायी है, इन्द्रिय-सुख इन्द्रधनुष के समान चंचल है और पुत्र-पौत्रादिरूप यह वैभव स्वप्न के समान असत्य है । अहो ! यह समस्त दृश्यमान जगत् अनित्य है ।

यहाँ "अहह" निपात संसार के समस्त पदार्थों की क्षणभंगुरता की प्रतीति से उत्पन्न आश्चर्य एवं निर्वेद का द्योतन करता है,क्योंकि अभी तक उन्हें स्थायी मान रखा था । यह तत्त्वज्ञान जन्य आश्चर्य एवं निर्वेद शान्तरस की अनुभूति का हेतु है । इसप्रकार उक्त निपात वक्रता से समन्वित है ।

(ख) **यदि भो जयैषिणी त्वं दृक्शरविद्धं ततशिथिलमेनम् ।**
अयि बालेऽस्मिन् काले स्रजा बधानाविलम्बेन ॥ ६/११६

- बुद्धिदेवी स्वयंवर सभा में राजकुमारों का परिचय देती हुई जब राजा जयकुमार के समीप आती है तब सुलोचना से कहती है - "अरी बाले! यदि तू विजय चाहती है, तो इस समय इस राजकुमार को वरमाला के बंधन से बाँध ले; क्योंकि इस समय यह तेरे दृग्बाणों से घायल होकर शिथिल हो रहा है ।

इस उक्ति में "भो" और "अयि" निपात बुद्धिदेवी के वात्सल्य-भाव, हितैषिता एवं आग्रह के द्योतक हैं, जो वात्सल्यरस के अभिव्यक्ति के निमित्त हैं ।

---

१. **रसादिद्योतनं यस्यमुपसर्गनिपातयोः ।**
वाक्यैकजीवितत्वेन सा परा पदवक्रता ॥ वक्रोक्तिजीवित, २/३३

उपचारवक्रता

लाक्षणिकता काव्यभाषा का प्रमुख लक्षण है। यह उपचार वक्रता से आती है। उपचारवक्रता का तात्पर्य है अन्य के साथ अन्य के धर्म का प्रयोग। अर्थात् मानव के साथ मानवेतर के धर्म का प्रयोग, मानवेतर के साथ मानव के धर्म का प्रयोग, जड़ के साथ चेतन के धर्म का प्रयोग, चेतन के साथ जड़ के धर्म का प्रयोग, अमूर्त के साथ मूर्त के धर्म का प्रयोग, मूर्त के साथ अमूर्त के धर्म का प्रयोग, धर्मी के स्थान में धर्म का प्रयोग, लक्ष्य के स्थान पर लक्षण का प्रयोग, एक अचेतन के लिए दूसरे अचेतन के धर्म का प्रयोग, विपरीत विशेषण का प्रयोग, कल्पित विशेषण का प्रयोग, एक ही वस्तु के साथ परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रयोग, असम्भव सम्बन्धों का प्रयोग, भिन्न द्रव्यों में अभेद का आरोप इत्यादि। आधुनिक शैलीविज्ञान में इन असामान्य प्रयोगों को **विचलन** कहते हैं। भारतीय काव्यशास्त्री **कुन्तक** ने इसे **उपचारवक्रता** का नाम दिया है।[1] अन्य काव्यमर्मज्ञों ने इन्हें लाक्षणिक प्रयोग की संज्ञा दी है।

उपचारवक्रता का महत्त्व

उपचार वक्रता से भाषा भावों के स्वरूप की अनुभूति कराने योग्य बन जाती है। उसके द्वारा वस्तु के सौन्दर्य का उत्कर्ष, मानव मनोभावों एवं अनुभूतियों की उत्कटता, तीक्ष्णता, उग्रता, उदात्तता या वीभत्सता, मनोदशाओं की गहनता, किंकर्तव्यविमूढ़ता, परिस्थितियों और घटनाओं की हृदयद्रावकता या आह्लादकता आदि विशेषताएँ अनुभूतिगम्य हो जाती हैं। इनकी अनुभूति सहृदय के स्थायिभावों को उद्बुद्ध करती है, जिससे वह भावमग्न या रसमग्न हो जाता है। कथन की विचित्र पद्धति से आविर्भूत रमणीयता भी उसे आह्लादित करती है। उपचारवक्रता का प्रयोग उपर्युक्त प्रयोजनों से ही किया जाता है। उपचारवक्रभाषा में लक्षणा और व्यंजना शक्तियाँ ही कार्य करती हैं, क्योंकि वहाँ मुख्यार्थ संगत नहीं होता। लक्षण के द्वारा सन्दर्भानुकूल अर्थ प्रतिपादित होता है, व्यंजना प्रयोजनभूत अर्थ की प्रतीति कराती है।

जयोदय में उपचारवक्रता

महाकवि भूरामलजी ने उपचारवक्रता का प्रचुर प्रयोग किया है और उसके द्वारा भावों के विशिष्ट स्वरूप को अनुभूतिगम्य तथा अभिव्यक्ति को रमणीय बनाया है। यह निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है :-

---

१. यत्र दूरान्तेऽन्यस्मात्सामान्यमुपचर्यते। लेशेनापि भवत् काचिद्वक्तुमुद्रिक्तवृत्तिताम्।
यन्मूला सरसोल्लेखारूपकादिरलंकृतिः। उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदुच्यते॥
वक्रोक्तिजीवित, २/१३-१४

मानव के साथ तिर्यंच के धर्म का प्रयोग

क्रोधातिशय की व्यंजना के लिए निम्न उक्तियों में मानव के साथ सिंह के धर्म "गर्जना करना" का प्रयोग किया गया है -

"तीव्र प्रहार के कारण मूर्च्छित योद्धा पर हाथी की सूँड़ के जलकण गिरे तो वह होश में आकर गर्जना करने लगा ।"-

दृढप्रहारः प्रतिपद्य मूर्च्छामिभस्य हस्ताम्बुकणा अतुच्छाः ।

जगर्ज कश्चित्त्वनुबद्धवैरः सिक्तः समुत्थाय तकैः सवैरः॥ ८/२६ ॥

स्वयंवर सभा में सुलोचना द्वारा वरण न किये जाने पर अपमानित अर्ककीर्ति अपने मित्र दुर्मर्षण से कहता है - 'मेरा गर्जन सुनकर राजहंस (राजागण) भाग जाते हैं ।' -

तदेतद्राजहंसानां गर्जनं हि विसर्जनम् ।७/२३ उत्तरार्ध

जयकुमार के सौन्दर्यातिशय एवं श्रेष्ठ गुणों की व्यंजना कवि ने उस पर हंसत्व के आरोप द्वारा की है -

"राजा जयकुमार भगवान् ऋषभदेव की सभा के एक हंस थे । वे सहृदयों के सखा एवं वंशरूपी विशाल सरोवर के हंस थे ।"-

युगादिभर्तुः सदसः सदस्य इत्यस्मदानन्दगिरां समस्यः ।

हंसः स्ववंशोरुसरोवरस्य श्रीमानभूच्छ्रीसुहृदां वयस्यः॥ १/४३

जड़ के साथ चेतन के धर्म का प्रयोग

"हंसी उड़ाना" मानव का धर्म है, वह जड़ के साथ प्रयुक्त होकर सौन्दर्य की अनुपमता का व्यंजक हो गया है -

"सुलोचना के विवाह हेतु निर्मित मण्डप अत्यन्त विशाल था । वह अपने शिखर पर जड़े हुए रत्नों की कान्ति से इन्द्र के विमान की हंसी उड़ा रहा था ।"

विशालं शिखरप्रोतवसुसञ्चयशोचिषाम् ।

निचयैस्तु सुनाशीर-व्योमयानं जहास यत् ॥ १०/८६॥

उपचारवक्रता के द्वारा लक्षणा और व्यंजना की सामर्थ्य से "हंसना" क्रिया शोभातिशय की व्यंजना में समर्थ हो गयी है -

"विवाहोत्सव के अवसर पर काशी नगरी के भवनों के मुख्यद्वार मुक्ताहारों से सुशोभित किये गये थे । वे मोतियों की कान्ति से हंसते हुए से प्रतीत होते थे ।"-

अबदत् सवदर्शने पुरः सदनानाञ्च मुखानि सर्वतः ।

अवलम्बितमौक्तिकस्रजां रुचिभिर्हास्यमयानिसा प्रजा ॥१०/१३

तलवार के साथ प्रयुक्त "पान करना" एवं "आलिंगन करना" धर्म उसकी अत्यन्त विनाशकारिता का द्योतन करते हैं -

"राजा जयकुमार की तलवार शत्रुओं के गजसमूह का रक्तपानकर शत्रुओं के वक्षस्थल का बेरोकटोक आलिंगन कर रही है ।" -

निपीय मातङ्गघटाघगोघं स्पृशन्त्यरीणां तदुरोऽप्यमोघम् ।

वामध्वनामात्ममतं निवेद्य यस्यासिपुत्री समुदाप्यतेऽद्य ॥१/२७

चेतन के साथ जड़ के धर्म का प्रयोग

विकसित होना पुष्प का धर्म है । यह मानव के साथ प्रयुक्त होने पर उसके उत्साहातिशय को अनुभूतिगम्य बना देता है -

" हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान की भेरी सुनकर पदयात्री विकसित हो उठे और अपनी कमर कसने लगे । " -

विकसन्ति कशन्ति मध्यकं स्म तदानीं विनिशम्य भेरिकाम् ।

पथिकाः पथि कामनामया न हि कार्येऽस्तु मनाग्विलम्बनम् ॥१३/६

अमूर्त के साथ मूर्त के धर्म का प्रयोग

"बाहर न निकलना और स्वच्छन्द विहार करना" मूर्त पदार्थ के धर्म हैं जो अमूर्त कीर्ति के साथ प्रयुक्त होकर जयकुमार के शत्रुओं के सर्वथा यशोविहीन तथा जयकुमार के अत्यन्त यशस्वी होने की व्यंजना में समर्थ हो गये हैं -

"जो नीतिशास्त्र के ज्ञाता हैं वे (जयकुमार के) शत्रुओं की देह से बाहर न निकलने वाली कीर्ति को असती एवं राजा जयकुमार की स्वच्छन्तापूर्वक विहार करने वाली कीर्ति को सती मानते हैं ।"

यद्दुहृदां देहत एव बाह्यमनिस्सरन्तीमसतीं निगाद्य ।

कीर्तिं सतः स्वैरविहारिणीं ते सतीं प्रतीयन्त्यथिपाः प्रणीतेः॥ १/२०

मन अमूर्त है । गठबन्धन मूर्त का धर्म है । मन के साथ "गठबन्धन" शब्द का प्रयोग कर कवि ने प्रेम के स्थायी हो जाने का भाव रमणीयतापूर्वक अभिव्यक्त किया है -

"जयकुमार और सुलोचना का विवाह हुआ । दोनों के वस्त्र का गठबन्धन किया गया । इतना ही नहीं उनके मन का भी गठबन्धन हो गया है ।" -

उभयोः शुभयोगकृत्प्रबन्धः समभूदञ्चलवान्तभागबन्धः ।

न परं दृढ एव चानुबन्धो मनसोरप्यनसोः श्रियां स बन्धो ॥ १२/६३

अर्ककीर्ति के युद्धोन्मुख होने के समाचार से राजा अकम्पन भयभीत एवं चिन्तित हो जाते हैं । कवि ने उनकी भयावस्था का द्योतन "हृदय काँप उठा" उपचारवक्रता के द्वारा बड़ी सफलता से किया है –

प्राप्य कम्पनमकम्पनो हृदि मन्त्रिणां गणमवाप संसदि । ७/५५ पूर्वार्ध

निम्न उक्ति में अमूर्त प्राण पर कीलित होने का एवं अमूर्त हृदय पर रुदन करने का आरोप है, जो युद्ध में पराजित अर्ककीर्ति के सन्तापातिशय को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अभिव्यंजित करते हैं -

"इस समय मेरे चंचल प्राण निकलते क्यों नहीं हैं ? उल्टे वे कीलित क्यों हो गये? यही सोच-सोच कर मेरा हृदय रो रहा है । स्वयं के पराजय की तिरस्कार कथा मुझे पीड़ित कर रही है ।"-

किमधुना न चरन्त्यसवश्चराः स्वयमिताः किमु कीलनमित्वराः ।

रुदति मे हृदयं सदयं भवत्तुदति चात्मविघातकथाश्रव· ॥ ९/७

भक्ति के अतिशय की प्रभावी अभिव्यंजना अमूर्त चित्त पर मूर्त पदार्थों के धर्म "लुप्त होने" एवं "अन्वेषण किये जाने" के आरोप द्वारा संभव हो सकी है -

"जयकुमार का चित्त सूक्ष्म होने के कारण भगवान् के चरणों में लुप्त हो गया । उसका अन्वेषण करने के लिए ही जयकुमार ने वहाँ की चरणरज प्राप्त की ।"

सूक्ष्मत्वतो लुप्तमवेत्य चेतः श्रीपादयोर्निर्व्रजताथवेतः ।

अवापि तत्रत्यरजस्तु तेन संशोधनाधीनगुणस्तुतेन ॥ २४/९८

अमूर्त गुणों पर मूर्त पदार्थ के धर्म "बाँधना" के आरोप द्वारा गुणों की आकर्षण शक्ति का द्योतन प्रभावशाली ढंग से किया गया है -

"जो जयकुमार वज्र की सन्तति को छिन्न भिन्न करने वाला तथा ऐश्वर्यशाली था, वह सुलोचना के कोमल गुणों से बँध गया ।" –

गुणेन तस्या मृदुना निबद्धः स योऽशनेः सन्ततिभित्समृद्धः॥१/७१ पूर्वार्ध

"पिया जाना" मूर्त जलादि का धर्म है । उसका प्रयोग रूप, वचन आदि अमूर्त पदार्थों के साथ कर कवि ने उनके पूर्णतः आत्मसात् या हृदयंगम किये जाने के भाव को चारुत्वपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की है -

"जयकुमार ने सुन्दरांगी सुलोचना का उसी प्रकार प्रेम से पान किया जैसे मुमुक्षुवृन्द अध्यात्म विद्या को पीते हैं, भ्रमर कमलपंक्ति को पीता है और चकोर पक्षी चन्द्रमा की कला का पान करता है" -

अध्यात्मविद्यामिव भव्यवृन्दः,

सरोजराजिं मधुरां मिलिन्दः ।

प्रीत्या पपौ सोऽपि तकां सुगौर -

गात्रीं यथा चन्द्रकलां चकोरः ॥ १०/११८॥

"राजा जयकुमार श्री जिनेन्द्रदेव के अमृतवत् निर्दोष रूप का पान कर इतने स्थूल हो गये कि जिनालय से बाहर निकलने में असमर्थ रहे"-

जिनेशरूपं सुतरामदुष्टमापीय पीयूषमिवाभिपुष्टः ।

पुनश्च निर्गन्तुमशक्नुवानस्ततो बभूवोचितसंविधानः ॥ २४/९७॥

"गृहस्थों के शिरोमणि जयकुमार ने गुरुदेव के वचनामृत का पान किया और हृदय में उनके पवित्र चरणों को प्रतिष्ठित किया ।"

सन्निपीय वचनामृतं गुरोः सन्निधाय हृदि पूततत्पदे । २/०३९ पूर्वार्ध ।

भिन्न पदार्थों में अभेद का आरोप

देहयष्टि और कामदेव की सेना मे अभेद का आरोप देह के अत्यन्त आकर्षक एवं कामोद्दीपक होने का सशक्त व्यंजक बन गया है -

"इसकी देहयष्टि तो कामदेव की सेना प्रतीत होती है ।"

"दृश्यते तनुरेतस्याः पुष्पचापपताकिनी॥" ३/५३ उत्तरार्ध

निम्न उक्ति में कटुक पद का प्रयोग जयोदय के प्रतिनायक अर्ककीर्ति के चारित्रिक वैशिष्ट्य को निरूपित करता है -

"सुलोचना के पिता उत्तम पुरुष हैं । जयकुमार भी महामना हैं, मात्र अर्ककीर्ति कड़वा है ।" -

भुवि सुवस्तु समस्तु सुलोचनाजनक एष जयश्च महामनाः ।

अयि विचक्षण लक्षणतः परं कटुकमर्कमिमं समुदाहर ॥ ९/८४॥

निम्न पद्य में मुख और चन्द्र में अभेदारोप द्वारा मुख के सौन्दर्यातिशय की, शृंगाररस और सागर में अभेदारोप के द्वारा शृंगाररस के अतिरेक की तथा स्तनों और पर्वत में अभेदारोप द्वारा स्तनों के अत्यन्त उभार की प्रभावशाली व्यंजना की गई है -

"जयकुमार की दृष्टि ने जैसे ही सुलोचना के मुखचन्द्र का अवलोकन किया वैसे ही शृंगाररस के सागर में ज्वार आया और वह शीघ्र ही उन्नत स्तनरूपी पर्वत पर जा पहुँची।" -

विलोकनेनास्यनिशीथनेतुः समुल्वणे सद्रससागरे तु ।

द्रुतं पुनः सेति पदंवदोऽहमुच्चैःस्तनं पर्वतमारुरोह ॥ ११/३

जिनेन्द्रदेव पर सूर्य का आरोप उनके अज्ञानान्धकार के विनाशक एवं ज्ञानप्रकाश के प्रसारक होने की चारुत्वमयी यंजना करता है -

"हे भाई! अब प्रभात हो गया है । संसार के जन्ममरणरूपी भय के नाशक, विश्व के पिता जिनसूर्य का मुख स्पष्ट दिखाई दे रहा है ।" –

सपदि विभातो जातो भ्रातर्भवभयहरणविभामूर्तेः ।

शिवसदनं मृदुवदनं स्पष्टं विश्वपितुर्जिनसवितुस्ते ॥ ८/८९

क्रोध के अत्यन्त घातक होने की व्यंजना क्रोध पर अग्नि के आरोप से ही संभव हो सकी है -

"निस्सार संसार में मेरी क्रोधाग्नि के प्रभाव से नाथवंश और सोमवंश शीघ्र ही नष्ट हो जावेंगे ।"

निःसार इह संसारे सहसा मे समार्चिषः ।

नाथसोमाभिधे गोत्रे भवेतां भस्मसात्कृते ॥ ७/२४

इस प्रकार कवि ने क्रोध, प्रेम, सन्ताप, भक्ति आदि मनोभावों के अतिशय की व्यंजना, मनोदशाओं की विचित्रता, परिस्थितियों की विकटता तथा वस्तु के सौन्दर्य - असौन्दर्य आदि की पराकाष्ठा के द्योतन, दया, शौर्य, औदार्य आदि गुणों की उत्कटता के प्रकाशन, रूपादि के अवलोकन एवं वचनादि के श्रवण में विद्यमान तल्लीनता के अनुभावन इत्यादि प्रयोजनों की सिद्धि के लिए वक्रता के विभिन्न प्रकारों का आश्रय लिया है, जो अत्यन्त सफल रहा है । उक्ति की वक्रता के द्वारा मनोभावों, मनोदशाओं, मानवीय गुणों एवं वस्तु के उपर्युक्त वैशिष्ट्यों की साक्षात्कारात्मिका अनुभूति से सहृदय हृदय आन्दोलित हो उठता है और भावमग्न तथा रसमग्न हो जाता है । उक्ति के वैचित्र्य से अभिव्यक्ति अत्यन्त रमणीय बन गयी है ।

वाक्यवक्रता एवं वर्णविन्यासवक्रता

वर्णविन्यासवक्रता का विवेचन स्वतंत्र अध्याय में किया गया है । वाक्यवक्रता अर्थालंकारों का दूसरा नाम है, जैसा कि कुन्तक ने कहा है -

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रशः ।

यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥ - वक्रोक्तिजीवित, १/२०

अतः इसका अनुशीलन भी "अलंकारविन्यास" नामक पृथक् अध्याय में किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय

मुहावरे एवं प्रतीक विधान

मुहावरे भाषा को काव्यात्मक बनाने वाले अद्‌भुत उपादान हैं , क्योंकि ये वक्रोक्ति के उत्कृष्ट रूप हैं; अतः इनमें लाक्षणिकता एवं व्यंजकता कूट-कूट कर भरी होती है ।

मुहावरे का लक्षण

जो लाक्षणिक एवं व्यंजक शब्द प्रयोग बहुप्रचलित (रुढ़) हो जाता है, वह **मुहावरा** कहलाता है । मुहावरे का मुख्य लक्षण है मुख्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ में प्रसिद्ध हो जाना जैसे "गधा," "उल्लू," चमचा," "दुम" आदि ऐसे शब्द हैं जो अपने मुख्यार्थ में तो प्रसिद्ध हैं ही, मुख्यार्थ के अतिरिक्त मूर्ख, चाटुकार, पिछलग्गू आदि अर्थों में भी प्रसिद्ध हो गये हैं । इसलिये ये मुहावरे के रूप में प्रयुक्त होते हैं । मुहावरे रूढ़ा लक्षणा से भिन्न हैं। **रूढ़ा लक्षणा** में शब्द अपना मुख्यार्थ खो देता है और अन्य अर्थ ही उसका मुख्यार्थ बन जाता है । जैसे "गो" शब्द का मुख्यार्थ था "गमन करने वाला" किन्तु उसने यह अर्थ खो दिया है और "गाय" ही उसका मुख्यार्थ हो गया है । इसी प्रकार "कुशल" शब्द ने भी अपना "कुशान् लाति आदत्ते" यह मुख्यार्थ छोड़ दिया है और दक्ष अर्थ का वाचक बन गया है । मुहावरे के रूप में प्रयुक्त शब्द या शब्द समूह अपना मुख्यार्थ नहीं खोते । सामान्यतया वे अपने मुख्यार्थ के ही वाचक होते हैं, मात्र सन्दर्भ विशेष में अन्य अर्थ के बोधक बन जाते हैं । जैसे जब बैल को ही बैल कहा जायेगा तब वह अपने मुख्यार्थ का ही बोधक होगा, किन्तु जब किसी मनुष्य को बैल कहा जायेगा तब वह मुहावरा बन जायेगा; क्योंकि मनुष्य के सन्दर्भ में वह बैल अर्थ का बोधक न रहकर "मूर्ख" अर्थ का बोधक हो जायेगा।

कोई भी संज्ञा, विशेषण या क्रिया अथवा इनका समुदाय मुख्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ में भी प्रसिद्ध हो जाने पर **मुहावरा** बन जाता है । यथा –

बैल - यह संज्ञा अपने मुख्यार्थ के अतिरिक्त मूर्ख अर्थ में भी प्रसिद्ध हो गई है, अतः जिस सन्दर्भ में यह "मूर्ख" अर्थ का बोध करायेगी वहाँ मुहावरा होगा ।

शीतलवाणी - शीतल का मुख्यार्थ है ठंडा, किन्तु वाणी के सन्दर्भ में वह "शान्ति पहुँचाने वाली" अर्थ में प्रसिद्ध हो गया, अतः इस सन्दर्भ में वह मुहावरा है ।

पुष्पवृष्टि - वृष्टि शब्द जल बरसने का वाचक है, किन्तु पुष्पों के सन्दर्भ में मस्तक पर प्रचुर पुष्प गिरने के अर्थ में प्रसिद्ध हो गया है, अतः वहाँ यह मुहावरा बन गया है ।

मुख मुरझाना - मुरझाना का मुख्यार्थ फूलों का संकुचित होना है, किन्तु मुख के प्रसंग में उदास या निराश हो जाने के अर्थ में प्रसिद्ध हो गया है; अतः इस सन्दर्भ में वह मुहावरा बन गया है ।

मुहावरों का भाषिक वैशिष्ट्य

मुहावरों में अनेक तथ्य घटनायें और अनुभूतियाँ संश्लिष्ट होती हैं, इसलिये वे परिमित शब्दों में अपरिमित भावो के बोधक होते है । लक्षणात्मक होने से उनमें वैचित्र्योपादन की क्षमता तथा व्यजंकता के कारण भावानुभूति कराने की सामर्थ्य होती है जिससे अभिव्यक्ति रुचिकर एवं आकर्षक हो जाती है । वे दैनिक अनुभूतियों से सम्बद्ध होते हैं अत. उनके द्वारा सूक्ष्म अर्थ सरलतया बोधगम्य हो जाता है ।

मुहावरों के कई रूप होते है । जैसे - वक्रक्रियात्मक, वक्रविशेषणात्मक, अनुभावात्मक, निदर्शनात्मक, प्रतीकात्मक, रूपकात्मक, उपमात्मक आदि । अतः इनसे व्यक्ति की बौद्धिक एवं चारित्रिक विशेषतायें, संवेगात्मक दशा, सुख-दुख, द्वन्द्व, संशयादि से ग्रस्त मनःस्थिति, हृदयगत अभिप्राय तथा वस्तुओं एवं घटनाओं का हृदयस्पर्शी स्वरूप प्रतिभासित हो जाता है । "वह बड़ा क्रोधी है" ऐसा कहने से मनुष्य के क्रोधात्मक स्तर का वैसा प्रतिभास नहीं होता, जैसा "वह तो जल्लाद है" कहने से होता है । अतः वस्तुस्थिति के प्रतिभासक होने के कारण मुहावरे अत्यन्त हृदयस्पर्शी होते है ।

जयोदय में मुहावरे

महाकवि ने जयोदय में मुहावरों का प्रयोग किया है जिससे भाषा लाक्षणिक एवं व्यंजक बन गयी है । भाषाप्रवाह में सजीवता, सशक्तता और चित्तस्पर्शिता के गुण आ गये हैं । सौन्दर्यातिशय, प्रभावातिशय एवं चित्रात्मकता की सृष्टि हुई है । भावावेश, पात्रों के मनोभावों तथा मनोदशाओं की प्रभावशाली अभिव्यंजना हो सकी है ।

जयोदय में प्रयुक्त मुहावरों को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - वक्रक्रियात्मक मुहावरे, वक्रविशेषणात्मक मुहावरे, निदर्शनात्मक मुहावरे, अनुभावात्मक मुहावरे, उपमात्मक मुहावरे एवं रूपकात्मक मुहावरे ।

वक्रक्रियात्मक मुहावरे

जब क्रिया का विशिष्ट शब्द के साथ असामान्यरूप से प्रयोग होता है तब वह रूढ हो जाता है और **वक्रक्रियात्मक मुहावरा** कहलाता है । कवि ने इन मुहावरों के प्रयोग द्वारा

सौन्दर्यातिशय एवं प्रभाव के अतिशय की पुष्टि की है। पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य, उनके मनोभाव एवं मनः स्थितियों की सफल अभिव्यक्ति संभव हुई है। उदाहरणार्थ -

शौर्यप्रशस्तौ लभते कनिष्ठां श्रीचक्रपाणेः स गतः प्रतिष्ठाम्।
यस्यास्तां निग्रहणे च निष्ठा मता सतां संग्रहणे घनिष्ठा ॥१/१६॥

-- भरत चक्रवर्ती से प्रतिष्ठा प्राप्त राजा जयकुमार शूरवीरता में कनिष्ठका (कानी/छिंगुरी उंगली) पर गिना जाता है। वह दुष्टों के निग्रह एवं शिष्टों का संग्रह करने में तत्पर रहता था।

यहाँ जयकुमार के वीरों में सर्वश्रेष्ठ एवं अग्रणी होने की अभिव्यंजना "शौर्यप्रशस्तौ लभते कनिष्ठां" (वीरों की गणना को छिगुरी पर गिना जाना) मुहावरे के प्रयोग से संभव हो सकी है।

किमधुना न चरन्त्यसवश्चराः स्वयमिताः किमु कीलनमित्वराः।
रुदति मे हृदयं सदयं भवत्तुदति चात्मविघातकथाश्रवः ॥९/७

-- इस समय मेरे चर प्राण क्यों नहीं निकलते ? वे कीलित क्यों हो गये ? यही सोच कर मेरा हृदय रो रहा है। स्वयं की निरादर कथा मुझे पीड़ा दे रही है।

युद्ध में पराजित अर्ककीर्ति की मानसिक पीड़ा कितनी तीव्र थी, इसकी अनुभूति "हृदयं रुदति" मुहावरे से ही संभव थी।

वेशवानुपजगाम जयोऽपि येन सोऽथ शुशुभेऽभिनयोऽपि।
लोकलोपिलवणापरिणामः स स्म नीरमीरयति च कामः ॥५/२६

-- जिनका सौन्दर्य अनुपम था ऐसे राजा जयकुमार भी सज-धज कर आये। उनके आने से सभा जगमगा उठी। उनके आगे कामदेव भी पानी भरता था।

जयकुमार के अनुपम सौन्दर्य और प्रभावशाली व्यक्तित्व की मनोहारी अभिव्यक्ति के लिए "कामः नीरमीरयति" (उसके सामने कामदेव भी पानी भरता है) से सुन्दर उक्ति और कोई नहीं हो सकती थी।

परे रणारम्भपरा न यावद् बभुश्च काशीशसुता यथावत्।
निकृन्तुमागत्यतरा मितोऽयं हेमाङ्गदाद्या बवृषुः शरौघम् ॥ ८/५३ ॥

-- जब तक शत्रु युद्ध के प्रारम्भार्थ जयकुमार के समीप नहीं पहुँच पाये इसके पहले ही काशीराज के पुत्र हेमांगद आदि ने जयकुमार पर आये उपद्रव को दूर हटाने के लिए बाणों की वर्षा कर दी।

बाणों के सघन प्रहार की अभिव्यंजना के लिए "शरौघं ववृषुः" (बाणों की वर्षा की) मुहावरा कितना प्रभावोत्पादक है ।

कुरक्षणे स्मोद्यतते मुदा सः सुरक्षणेभ्यः सुतरामुदासः।

बबन्ध मामुष्य पदं रुषेव कीर्तिः प्रियाऽवाप दिगन्तमेव ॥१/४२॥

-- राजा जयकुमार देवताओं द्वारा मनाये जाने वाले उत्सवों से भी उदास रह कर पृथ्वी के संरक्षण में उद्यत रहता था । इसलिए लक्ष्मी उसके पैरों को चूमती थी और उसकी प्रिय कीर्ति संसार में दिगन्त-व्यापिनी हो गई ।

"मा अमुष्य पदं बबन्ध" (लक्ष्मी पैरों को चूमती थी) अपरिमित वैभवशालिता की प्रतीति कराने वाले इस मुहावरे ने अभिव्यक्ति में चार चाँद लगा दिये हैं ।

वक्रविशेषणात्मक मुहावरे

जिस मुहावरे में विशेष्य के साथ अनुपपद्यमान विशेषण का प्रयोग होता है, वह **वक्रविशेषणात्मक मुहावरा** कहलाता है । कवि ने इस प्रकार के मुहावरों द्वारा पात्रों के मन की मार्मिक स्थितियों, उनके अंगों से अभिव्यक्त होने वाले मार्मिक भावों, उनके सौन्दर्य की अपूर्व मोहकता तथा वस्तुओं के गुणावगुणातिशय की अभिव्यक्ति की है -

विनयभृदुन्नतवंशः सुलक्षणोऽसौ विलक्षणोक्ततनुः ।

बिलसति च नलसदास्यो लावण्याढ्योऽपि मधुरतनुः ॥६/५४ ॥

यह राजा विनयवान् है, उन्नतवंश का है । शुभ लक्षणों से युक्त है, चतुर है तथा कमल के समान मुखाकृति से सुशोभित है । लावण्य का गृह होकर भी मधुर शरीर वाला है।

"मधुरतनुः" मुहावरे के प्रयोग से शारीरिक सौन्दर्य की आह्लादकता अनुभूतिगम्य हो उठी है ।

चित्रभित्तिषु समर्पितदृष्टौ तत्र शश्वदपि मानवसृष्टौ ।

निर्निमेषनयनेऽपि च देवव्यूह एव न विवेचनमेव ॥ ५/१९

-- स्वयंवर सभा की भित्तियों पर चित्रकला की गई थी । उसे एकटक दृष्टि से मानव देख रहे थे, जिससे निर्निमेष नेत्रों वाले देवगण एवं मानव समूह में भेद करना कठिन हो गया।

"समर्पितदृष्टौ" प्रयोग में चित्रकला की उत्कृष्टता एवं मोहकता का आभास कराने की अद्भुत क्षमता है ।

पुर्यो प्रेषितवान् पुनर्मृदुदृशा काशीविशामीश्वरः ॥८/८६ ॥ पूर्वार्ध

- काशी नरेश ने अपनी पुत्री की ओर मृदुदृष्टि से देखा। स्नेहपूर्वक देखने के भाव को "मृदुदृशा प्रेक्षितवान्" उक्ति अत्यन्त रमणीयता से व्यंजित करती है।

निदर्शनात्मक मुहावरे

निदर्शना अलंकार रूढ़ होने पर निदर्शनात्मक मुहावरा बन जाता है। जहाँ एक कार्य की उपमा दूसरे कार्य मे दी जाती है, वहां **निदर्शना अलंकार** होता है। इसमे उपमेयभूत कार्य की दुष्करता, निष्फलता, संकटास्पदता, असाध्यता, असंभवता आदि के स्वरूप की व्यंजना अत्यन्त प्रभावपूर्ण एवं चित्रात्मक रीति से हो जाती है। कवि ने ऐसे मुहावरों के प्रयोग द्वारा पात्रों की प्रवृत्तियों, चरित्रों तथा उनके उत्कर्ष का सफलतापूर्वक सम्प्रेषण किया है। उदाहरणार्थ–

जयमुपैति सुभीरुमतल्लिकाऽखिलजनीजनमस्तकमल्लिका।

बहुषु भूपवरेषु महीपते मणिरहो चरणे प्रतिबद्ध्यते ॥ ९/७७ ॥

- हे राजन्! बड़े-बड़े राजाओं के होते हुए भी समस्त स्त्री समाज की शिरोमणि, श्रेष्ठतम तरुणी सुलोचना जयकुमार को प्राप्त हो गई है। आश्चर्य है कि मणि पैरों मे बाँध दी गई है।

कार्य के अनौचित्य का स्वरूप (स्तर) हृदयंगम कराने के लिए "मणिः चरणे प्रतिबद्ध्यते" से अधिक उपयुक्त एवं रमणीय उक्ति नहीं हो सकती थी।

नीतिमीतिमनयो नयन्नयं दुर्मतिः समुपकर्षति स्वयम्।

उल्मुकं शिशुवदात्मनोऽशुभं योऽह्नि वाञ्छति हि वस्तुतस्तु भम् ॥७/७१

- यह दुर्मति अर्ककीर्ति नीति का उल्लंघन करता हुआ जली लकड़ी पकड़ने वाले शिशु के समान स्वयं अपना अकल्याण करना चाहता है। यह उस बालक जैसा है जो दिन के प्रकाश में वास्तविक नक्षत्रों को देखना चाहता है।

"अह्नि वाञ्छति हि वस्तुतस्तु भम्" (दिन में तारे देखने की इच्छा करता है) प्रयोग इच्छा के अनौचित्य की पराकाष्ठा द्योतित करने में बेजोड़ है।

अनुभावात्मक मुहावरे

अनुभावों के द्वारा भाव व्यंजना एक प्रचलित साहित्यिक परिपाटी है। यह प्रवृत्ति रूढ़ होकर अनुभावात्मक मुहावरों के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। इन मुहावरों से मनःस्थितियों

की व्यंजना तो होती है, चित्रात्मक प्रभाव की सृष्टि भी होती है ।[1] वर्ण्यवस्तु, व्यक्ति या घटना का चित्र आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है, मूर्तता और प्रत्यक्षता के प्रभाव की सृष्टि होती है ।[2]

जयोदय में अनुभावात्मक मुहावरों के प्रयोग से मनःस्थिति की अभिव्यक्ति एवं चित्रात्मकता की सृष्टि सरलतया हो सकी है । यथा -

कल्यां समाकलय्योग्रामेनां भरतनन्दनः ।
रक्तनेत्रो जवादेव बभूव क्षीवतां गतः ॥ /७

-- भरतनन्दन अर्ककीर्ति, दुर्मर्षण की उग्र (कटु) वाणी रूप मदिरा का पान कर शीघ्र ही उन्मत्त हो गया । उस मदिरा के प्रभाव से उनके नेत्र लाल हो गये ।

कवि ने 'रक्त नेत्र' मुहावरे के द्वारा क्रोध से उत्पन्न अवस्था को सरलतया प्रतीतिगम्य बना दिया है ।

फुल्लदानन इतोऽभिजगाम यस्य दुर्मतिरितीह च नाम ।
स्वानुकूल इव भाग्यवितस्तिस्तद्भविष्यति यदिच्छितमस्ति ॥ ४/४७

-- दुर्मति सोचने लगा - मेरी इच्छानुरूप ही कार्य होता दिखाई दे रहा है । ऐसा लगता है कि भाग्य अनुकूल है । इस प्रकार खिले (हर्षित) मुखवाला वह दुर्मति वहाँ से चला गया।

"फुल्लदाननः" (खिले हुए मुखवाला) मुहावरा प्रयोग हर्षातिरेकमयी मनोदशा का साक्षात्कार करा देता है, जो किसी अन्य उक्ति द्वारा संभव नहीं है ।

उपमात्मक मुहाव.

उपमात्मक मुहावरों के द्वारा कवि ने संसार की विचित्रता सौन्दर्यातिशय तथा पात्रों की विडम्बनात्मक स्थितियों का प्रभावकारी चित्रण किया है । यथा –

पिहितदृष्टिरसौ परतन्त्रितः सपदि मर्मणि दण्डनियन्त्रितः।
बहुभरं भ्रमतीत्यमपोद्धरन् जगति तैलिकगौरिव हा नरः ॥ २५/४४

– जिसकी आँखें पट्टी से ढकी हुई हैं, जो तेली के पराधीन है, रुक जाने पर जिसके मर्मस्थल में चोट पहुँचाई जाती है और जो पत्थर आदि का बहुत भार लादे हुए है,

---

१. हरदेव बाहरी : हिन्दी सेमेंटिक्स, पृ० २८५
२. शैली विज्ञान और प्रेमचन्द की भाषा, पृ० ९९

ऐसा तेली का बैल निरन्तर जिस प्रकार चक्कर लगाता रहता है। उसी प्रकार जिसकी विचारशक्ति आच्छादित है, स्वोपार्जित कर्म के आधीन है, पापाचार के दण्ड से मर्मस्थल में आघात को प्राप्त हो रहा है और परिग्रहरूप अतिभार को धारण किये हुए है। ऐसा यह मनुष्य संसार में भ्रमण करता रहता है।

जीवों के संसारचक्र में परिभ्रमण की दशा कितनी दुःखद एवं दयनीय है, इसकी अनुभूति "भ्रमति तैलिकगौरिव नरः (तेली के बैल के समान घूमता है) मुहावरे से जितनी यथार्थता से होती है, उतनी किसी अन्य प्रयोग से सम्भव न थी।

इक्षुयष्टिरिवैषाऽस्ति प्रतिपर्वरसोदया। ३/४० पूर्वार्ध

-- यह सुलोचना इक्षुयष्टि के समान पोर-पोर पर रस भरी है।

"इक्षुयष्टिरिवैषा" यह तो इक्षुयष्टि के समान है। यह मुहावरा सुलोचना के अंग-अंग की मनोहरता को व्यंजित कराने में अप्रतिम है।

रूपकात्मक मुहावरे

जिन मुहावरों में रूपक अलंकार होता है, वे **रूपकात्मक मुहावरे** कहलाते हैं। इन मुहावरों में एक वस्तु में दूसरी वस्तु या उसके अवयव या धर्म का अस्तित्व बतलाया जाता है, जो अस्वाभाविक एवं अनुपपन्न होने से वैचित्र्य का जनक होता है तथा उन वस्तुओं में साम्य होने से लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों के द्वारा उपमानभूत पदार्थ उपमेयभूत पदार्थ की स्वरूपगत विशेषताओं को समष्टि रूप से प्रतीति का विषय बना देता है। कवि ने रूपकात्मक मुहावरों के प्रचुर प्रयोग द्वारा पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं एवं वस्तु तथा व्यक्ति के आह्लादक एवं भयानक स्वरूप की प्रभावशाली व्यंजना की है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं :

वर्द्धिष्णुरधुनाऽऽनन्दवारिधिस्तस्य तावता।
इत्थमाह्लादकारिण्यो गावः स्म प्रसरन्ति ताः॥ १/१०२

- मुनिराज के दर्शन कर जयकुमार का आनन्दरूपी समुद्र उमड़ पड़ा। उसकी आह्लादकारिणी वाणी फैलने लगी।

जयकुमार को मुनिराज के दर्शन से प्राप्त आनन्दातिशय की अभिव्यंजना में "आनन्दवारिधिः वर्द्धिष्णुः" (आनन्दरूप समुद्र उमड़ पड़ा), मुहावरे का प्रयोग अद्वितीय है।

श्रीपयो धरभराकु लितायाः सं गिरा भु वनसं विदितायाः।
काशिकानृपतिचित्तकलापी सम्मदेन सहसा समवापि॥ ५/५५

- पृथ्वी पर प्रसिद्ध, उन्नत पयोधरवाली बुद्धिदेवी की वाणी सुनकर महाराज अकम्पन का चित्तमयूर नाच उठा ।

चिन्ता दूर होने से उत्पन्न हर्षातिशय की अभिव्यंजना "चित्तकलापी सम्मदेन समवापि" (चित्तमयूर नाच उठा) मुहावरे के प्रयोग से संभव हो सकी है ।

शुचेस्तव मुखाम्भोजान्निरेति किमिदं वचः । २४/१३९ पूर्वार्ध

- तुम्हारे पवित्र मुखकमल से यह वचन कैसे निकला ? "मुखकमल" मुहावरा काञ्चनादेवी के मुख सौन्दर्य का साक्षात्कार करा देता है ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि महाकवि ने मुहावरों के प्रयोग से अभिव्यक्ति को रमणीय बनाते हुए पात्रों के मनोभावों, मनोदशाओं, चारित्रिक विशेषताओं, वस्तु के गुण वैशिष्ट्य, कार्य के औचित्य-अनौचित्य के स्तर, घटनाओं एवं परिस्थितियों के स्वरूप को अनुभूतिगम्य बनाया है और उसके द्वारा सहृदय को भावमग्न एवं रससिक्त कर जयोदय में काव्यत्व के प्राण फूंके हैं ।

प्रतीक

प्रतीक एक शैलीय तत्त्व है जिसके प्रयोग से भाषा में उच्चकोटि की काव्यात्मकता आ जाती है । कारण यह है कि प्रतीक साध्यवसानात्मक लाक्षणिक प्रयोग है[1] जिसमें उपमेय का निर्देश नहीं होता, मात्र उपमान ही निर्दिष्ट होता है । उसी के द्वारा सन्दर्भ विशेष में गुण, क्रिया आदि के साम्य अथवा साहचर्य सम्बन्ध से अर्थान्तर का बोध होता है । यह वक्रोक्ति का उत्कृष्ट रूप है । इसमें कथ्य पूरी तरह लक्षणा एवं व्यंजना का विषय होता है, जो प्रकट न होकर गूढ़ होने से जिज्ञासाजन्य रोचकता उत्पन्न कर देता है, अभिव्यक्ति का एक विलक्षण (असामान्य) माध्यम होने से कथन को अत्यन्त आकर्षक एवं रोचक बना देता है ।

प्रतीक का लक्षण

वह मूर्त वस्तु प्रतीक कहलाती है जो सन्दर्भ विशेष में गुण, क्रियादि के साम्य के कारण किसी भावात्मक-तत्त्व अथवा अन्य मूर्त पदार्थ का प्रतिभासन करती है । प्रतीक उपमान का कार्य नहीं करता अर्थात् अपने से किसी वस्तु की समानता नहीं दर्शाता अपितु वस्तु को ही संकेतिक करता है । कोई भी वस्तु सन्दर्भ विशेष में ही प्रतीक बनती है ।

---

१. काव्य शास्त्र में "गौर्वाहीकः" सारोपा लक्षणा का उदाहरण है "गौर्जल्पति" साध्यवसाना लक्षणा का । प्रथम उदाहरण में उपमेय "वाहीक" तथा उपमान "गौः" दोनों का निर्देश है, द्वितीय में मात्र उपमान "गौः" का । उससे "वाहीक" अर्थ लक्षित होता है । अतः वह सन्दर्भ के आधार पर "वाहीक" का प्रतीक है ।

सन्दर्भ के अभाव में अपने मूल स्वरूप का ही बोध कराती है। जैसे - "मोहि सुनि सुनि आवत हाँसी, पानी में मीन पियासी" कबीर के इन शब्दों से जो भाव (आवश्यक वस्तु की प्रचुर उपलब्धि होने पर भी उसके भोग से वंचित रहना) व्यंजित होता है उससे "पानी" सुख के स्रोतभूत आत्मस्वभाव का प्रतीक बन गया है तथा "मीन" आत्मा का। एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रतीक बन सकती है। जैसे - "कली" कहीं अपरिपक्व अवस्था का प्रतीक हो जाती है तो कहीं सुख का। "मृग" कहीं मन को संकेतित करता है, कहीं भ्रान्त व्यक्ति को।

प्रतीकों का अभिव्यंजनागत (भाषिक) महत्त्व

प्रतीकभूत पदार्थ के गुण और विशेषतायें लोगों के अनुभव के विषय होते हैं तथा वे अमूर्तभावों (भावात्मक तत्त्वों) जैसे वस्तु और व्यक्ति के स्वभावों व रूपों, गुणों और अवगुणों, संवेगों और प्रवृत्तियों, मनःस्थितियों और परिस्थितियों, दशाओं और परिणतियों की जीवन्त अनुभूति कराने के अमोघ साधन हैं। प्रतीक के द्वारा संकेतित वस्तु का पूरा स्वभाव व्यंजित हो जाता है। जैसे अज्ञान के लिए अन्धकार शब्द का प्रयोग किया जाये तो अज्ञान के सारे स्वभाव का साक्षात्कार भी हो जाता है; क्योंकि अन्धकार के स्वभाव से हम परिचित होते हैं। अतः प्रतीक द्वारा संकेतित वस्तु अपने पूरे स्वभाव के साथ हृदय में उतरती है। इससे भाषा भी हृदयस्पर्शी हो जाती है। प्रतीक बात को स्पष्ट रूप से न कहकर संकेत रूप से कहते हैं, इसलिए उनके प्रयोग से भाषा में जिज्ञासोत्पादकता और रोचकता आ जाती है। प्रतीक उक्तिवैचित्र्य रूप होते हैं, इस कारण भी भाषा रोचक बन जाती है। इसके अतिरिक्त जिस तथ्य को साधारण भाषा व्यक्त नहीं कर सकती, प्रतीक उसे सहज ही अभिव्यक्त कर देता है।

महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी ने इन्हीं उद्देश्यों की सिद्धि के लिए अपनी काव्यभाषा में प्रतीकों का प्रयोग किया है। उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों से प्रतीक ग्रहण किये हैं। क्षेत्र के आधार पर उन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - प्राकृतिक, सांस्कृतिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं प्राणी-वर्गीय।

प्राकृतिक प्रतीक

प्रकृति से ग्रहण किये गये प्रतीक **प्राकृतिक प्रतीक** हैं। जैसे - सूर्य, चन्द्र, रात, दिन, फूल, कांटा आदि। इनका प्रयोग आचार्य श्री ने अनेक स्थलों पर किया है। उदाहरणार्थ-

गता निशाऽथ दिशा उद्घाटिता भान्ति विपूतनयनंभूते !

कोऽस्तु कौशिकादिह विद्वेषी परो नरो विशदीभूते ॥ ८/९०

- हे विशाल एवं निर्मल नयनों वाली पुत्री! निशा बीत गई, अब सभी दिशायें स्पष्ट दिखाई देने लगी हैं। ऐसे प्रकाशमान समय में उल्लू के सिवा ऐसा कौन प्राणी होगा जो प्रसन्न न हो।

यहाँ पर "निशा" विपत्ति का प्रतीक है। दिशा का उद्‌घाटन जयकुमार के युद्ध में विजयी होने का एवं "उल्लू" मूर्ख का प्रतीक है। इनके द्वारा विलक्षित भावों की अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढंग से व्यंजना हुई है।

प्रजा प्रजागर्ति तवोदयेन निशा हि सा नाशमनायि येन।

भानुः सदा नूतन एव भाति कोकस्य हर्षोऽपि भवेद्विकाशी ॥ १९/२०

- हे भगवन् ! आप नवीन सूर्य ही है। आपके उदय से रात्रि नष्ट हो जाती है, प्रजा प्रतिबुद्ध होती है एवं उसके दुःख दूर होते हैं।

उक्त पद्य में "भानु" जिनेन्द्र भगवान् के सर्वज्ञ होने का, "निशा नाशमनायि" अज्ञान के नष्ट होने का प्रतीक है। ये प्रतीक अपने भाव को सफलतया संकेतित करते हैं।

भ्रूभङ्गमङ्गजाया लिङ्गं तदनादरेऽम्बिका साऽयात्।

अस्मिन् पर्वणि तमसा रभसादसितोऽभितोऽर्कयशाः ॥६/१९

- बुद्धिदेवी ने सुलोचना के भ्रूभंग से समझ लिया कि अर्ककीर्ति उसे पसन्द नहीं है। परिणामस्वरूप स्वयंवरोत्सव में अर्ककीर्ति का मुख शीघ्र ही अन्धकार से आछन्न हो गया।

यहाँ "तम" तीव्र निराशा का प्रतीक है।

इसी प्रकार -

मृदुतनौ तरसा तरसी तिम्मानवयवावयवीति परिश्रमात्।

बत सुखायत एव जनोऽहह विलसितं तदिदं तमसो महत् ॥ २५/१९ (मूल प्रति)

- कामातुर मनुष्य नवयुवति के शारीरिक अवयवों को प्रेरित करता है। इस कार्य में हुए परिश्रम को सुख मानता है। यह उसके अज्ञान की महिमा है।

यहाँ "तम" अज्ञान का प्रतीक है।

मम मनोरथकल्पलताफलं वदति शुक्तिजलक्ष्म स वोपलम्।

समभिपश्य नृपस्य मनीषितं नृवर साधय तस्य मयीहितम् ॥ ९/६०

- राजा अकम्पन दूत से कहते हैं - हे नृवर ! तुम भरत चक्रवर्ती के पास जाकर ज्ञात करो कि वे मेरे द्वारा किये गये स्वयंवरोत्सव रूप कार्य को मोती बतलाते हैं या पत्थर। बाद में यदि उनके विचार मेरे प्रतिकूल हों तो, अनुकूल बना दो।

प्रस्तुत पद्य में "शुक्तिजलक्ष्म" तथा "उपल" दो प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। ये क्रमशः कार्य की "श्रेष्ठता" एवं "हीनता" के अभिव्यंजक हैं।

पौराणिक प्रतीक

कवि ने व्यक्ति के गुणों, अवगुणों और प्रवृत्तियों की जीवन्त अनुभूति कराने हेतु पुराणों से प्रतीक ग्रहण किये हैं :

रवियशा दुरितेन मुरीकृतः स भवता बत शीघ्रमुरीकृतः ।

सदरिरप्यसदादरिवाञ्चरो भवतु सम्भवतुष्टिमतां परः ॥ ९/८०

- अर्ककीर्ति ने दुर्भाग्य से जयकुमार का प्रतिवाद कर मुरराक्षस का कार्य किया, फिर भी आपके स्वामी ने उसे स्वीकार किया, यह खेद की बात है । महाराज तो सन्तोषी हैं, वे शत्रु-मित्र को समान दृष्टि से देखते हैं ।

प्रस्तुत श्लोक में "मुरराक्षस का कार्य" अनीतिपूर्ण कार्य का प्रतीक है । यह प्रतीक अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से उक्त भाव की अभिव्यंजना करता है ।

प्राणीवर्गीय प्रतीकः

कवि ने पात्रों के गुणों, अवगुणों की व्यंजना हेतु प्राणीवर्गीय प्रतीकों का अवलम्बन लिया है । यथा -

किमिष्यते भेकगतिश्च सूक्ता श्रीराजहंस्याः सुतनो प्रयुक्ता ।

पथाप्यथादीयत इष्टदेशः खलोपयोगाद् गवि दुग्धलेशः ॥ ५/१०३

- हे सुन्दर शरीरवाली ! तू राजहंसी है, अतः तुझे क्या मेढ़क की गति इष्ट हो सकती है ? इष्टदेश में गमन मार्ग द्वारा ही किया जाता है । खली खिलाने पर ही गाय में दूध होता है।

यहाँ "भेकगति" (मेढ़क की चाल) "साधारण स्त्री के व्यवहार" का प्रतीक है ।

इसी प्रकार -

मरालमुक्तस्य सरोवरस्य दशां ॥ कयाऽनायितमां प्रशस्यः ।

कश्चिन्नु देशः सुखिनां मुदे स विशुद्धवृत्तेन सता सुवेश ॥ ३/२४

- हे भले वेषवाले अतिथिवर ! आप विमल आचरण एवं सज्जनशिरोमणि हैं । सुखियों को भी आनन्द देने में प्रशंसनीय ! आपने किस प्रदेश को हंसविहीन सरोवर की दशा में पहुँचा दिया है ?

यहाँ "हंसविहीन सरोवर" शोभाहीनता का प्रतीक है ।

इस प्रकार प्रतीकों का प्रयोग कर महाकवि ने वस्तु एवं भावों के अमूर्त एवं सूक्ष्म स्वरूप को हृदयंगम एवं हृदयस्पर्शी बनाया है तथा अभिव्यक्ति में रमणीयता का आधान कर शब्दों को काव्य में ढाला है ।

□□□

पंचम अध्याय

अलंकारविन्यास

अलंकृतता भी काव्यभाषा का एक महत्त्वपूर्ण गुण है। उन उक्ति वैचित्र्यों या विचित्र कथन प्रकारों को अलंकार कहते हैं, जो उपमात्मक, रूपकात्मक, अपह्नुत्यात्मक, संदेहात्मक आदि होते हैं। ये भाव विशेष की अभिव्यक्ति के अद्वितीय माध्यम होते हैं, साथ ही इनमें वक्रोक्तिजन्य रोचकता एवं व्यंजकताजन्य चारुत्व भी रहता है। विशिष्ट अलंकार विशिष्ट सन्दर्भ में ही भावाभिव्यक्ति के उपयुक्त होता है। कहीं उपमा ही सन्दर्भ के अत्यन्त उपयुक्त होती है, कहीं रूपक ही तथा कहीं केवल रूपकातिशयोक्ति[१] जिस सन्दर्भ में उपमा उपयुक्त हैं, उसमें रूपक आदि अन्य अभिधान प्रकार उपयुक्त नहीं होते।

एक सीधी सपाट सादृश्यविधानात्मक उक्ति कभी-कभी अधिक पैनी हो सकती है। जैसे -

> **सुरभि सी सुकवि की सुमित खुलन लागी,**
> **चिरई सी चिन्ता जागी जनक के हियरे।**
> **धनुष पै ठाढ़ो राम रवि सों लसत आज,**
> **भोर कैसो नखत नरिन्द भये पियेरे॥** (रघुनाथ बन्दीजन)

इसमें एक सांग उपमा है। धनुष के ऊपर राम ऐसे लगते हैं, जैसे प्रभातकालीन सूर्य और दूर धूमिल पड़ते हुए राजा बुझते हुए नक्षत्र की तरह लगते हैं। इस प्रभात की सूचना दो चीजों मे मिलती है - जनक के हृदय में एक चिन्ता जगती है, उसी प्रकार जैसे भोर में एक चिड़िया बोलती है। यह चिन्ता आने वाले दिन के कठोर यथार्थ की चिन्ता हो सकती है, राम के संघर्ष की चिन्ता हो सकती है, सीता के भागधेय की चिन्ता हो सकती है और तत्काल उपस्थित होने वाले राम - परशुराम द्वन्द्व की भी चिन्ता हो सकती है। लेकिन यह चिन्ता कर्म को प्रेरित करने वाली चिन्ता है, जिस तरह कि चिड़िया का चहचहाना आदमी के लिये कर्म का आह्वान होता है। दूसरी सूचना मिलती है, प्रभातकालीन समीरण के द्वारा सुरभि के फैलने से। राम के धनुष भंग के अनन्तर सुकवि की सद्बुद्धि प्रस्फुटित होने लगती है, क्योंकि राम के चरित के गान मे ऐसे सुकवियों का कल्याण तो होगा ही, उनकी कृति के द्वारा और भी उससे सुवासित होंगे।[२]

---

१. रीतिविज्ञान : डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृष्ठ - ९

२. वही

"इस आधे छन्द में उपमा के अतिरिक्त कोई दूसरी भंगिमा अर्थ को विवृत करने में समर्थ नहीं होती, क्योंकि यहाँ अभिप्राय उपमा के द्वारा खुलने वाले अर्थों को एक साथ स्पष्ट करना है। रूपक की भाषा यहाँ उपयोजित होती तो अर्थ सम्पुटित हो जाता और कवि का उद्‌देश्य अधूरा रह जाता।[१]

एक दूसरा उदाहरण लिया जाय। महात्मा गाँधी के मरने पर इस रूप में उक्ति की प्रतिक्रिया अधिक सार्थक है - "सूर्य अस्त हो गया" बनिस्पत यह कहने के, कि महात्मा गाँधी रूपी सूर्य दिवंगत हो गया या महात्मा गाँधी की मृत्यु से ऐसा लगता है जैसे सारे देश में अन्धकार छा गया हो, क्योंकि शोक की आकस्मिकता की अभिव्यक्ति के लिए जिस संक्षिप्त और तत्काल प्रभावित करने वाले उक्ति प्रकार की आवश्यकता है, वह केवल "सूर्य अस्त हो गया" इस रूपकातिशयोक्ति से ही संभव है।[२]

अलंकार व्यंजक होते हैं और उचित सन्दर्भ में प्रयुक्त होने पर उनकी व्यंजकता पैनी (हृदयस्पर्शी) हो जाती है। इसीलिए आनन्दवर्धन ने कहा है कि व्यंजकता के संस्पर्श से अलंकारीं में चारुत्व आ जाता है।[३]

१- चाँद का मुखड़ा (उपमा)

२- मुखचन्द्र एकाएक उदित हुआ (रूपक)

३- यह चाँद अचानक कहाँ से प्रकट हो गया ? (रूपकातिशयोक्ति)

४- यह मुख तो चन्द्रमा को भी मात कर रहा है। (व्यतिरेक)

५- यह मुख नहीं है, यह तो पूर्णिमा का चन्द्र है। (अपह्नुति)

६- यह मुख है या चन्द्रमा (सन्देह)

ये उक्तियाँ उपमात्मक, रूपकात्मक, रूपकातिशयोक्त्यात्मक व्यतिरेक, अपह्नुत्यात्मक तथा सन्देहात्मक होने से वैचित्र्यपूर्ण हैं। इनमें उपमादिरूप विचित्र कथन प्रकारों से चन्द्रमा और मुख के सादृश्य का वर्णन कर मुख के सौन्दर्यातिशय या अतिशय कान्तिमत्ता

---

१. रीतिविज्ञान : डॉ. विद्यानिवास मिश्र

२. वही

३. (क) वाच्यालङ्कारवर्गो यं व्यंग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥ ध्वन्यालोक - ३/३६

(ख) मुख्या महाकविगिरा-ध्वन्यालोक, ३/३७

(ग) तदेवं व्यंग्यांशसंस्पर्श, ध्वन्यालोक, पृष्ठ - ५०३

की व्यंजना की गई है, जो अन्यथा संभव नहीं है ।[1] किसी फल की मिठास की प्रतीति मिश्री, गुड़ आदि की उपमा द्वारा ही कराई जा सकती है, शब्द द्वारा नहीं ।

समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलंकार व्यंग्यांश पर ही आश्रित होते हैं ।[2] इनकी व्यंजकता का स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा ।

अलंकारात्मक कथन प्रकार का वर्गीकरण

अलंकारात्मक कथन के प्रकार अनेकविध होते हैं, उन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है -

सादृश्यमूलक, समर्थनमूलक, विरोधमूलक, मालात्मक (शृंखलात्मक) आक्षेपात्मक, पूर्वापरस्थितिवर्णनात्मक, निन्दास्तुत्यात्मक, प्रतीकात्मक, कारणकार्यपौर्वापर्यविपर्ययात्मक, प्रस्तुतान्यत्वविरूपणात्मक, आवृत्तिमूलक एवं पदक्रममूलक ।

सादृश्यमूलक अलंकार

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, ससन्देह, अपह्नुति, स्मरण, भ्रान्तिमान्, प्रतीक, सामान्य, निदर्शना, अनन्वय, उपमेयोपमा, समासोक्ति, क्रियादीपक, असम्भवार्थकल्पनात्मक अति - शयोक्ति, अप्रकृतार्थ तुल्ययोगिता और व्यतिरेक ये सादृश्यमूलक अलंकार हैं । इनमें अनन्वय और उपमेयोपमा का प्रयोग वस्तु की अनुपमता या अद्वितीयत्व के द्योतनार्थ किया जाता है। समासोक्ति के द्वारा प्रस्तुत पर अप्रस्तुत नायक - नायकादि के व्यवहार का व्यंजनाशक्ति से आरोप कर शृंगारादि की अभिव्यक्ति की जाती है । शेष अलंकारों के माध्यम से वस्तु के धर्मीविशेष के विशिष्ट (लोकोत्तर, अतिशयित, अद्भुत आदि) स्वरूप की प्रतीति करायी जाती है ।

समर्थनात्मक अलंकार

अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा समर्थनात्मक अलंकार हैं । इनका प्रयोग वस्तु स्वभाव के औचित्य के आधार पर किसी घटना या मानवीय आचरण का औचित्य सिद्ध करने के लिये होता है ।

---

१. "येषु चालङ्कारेषु सादृश्यमुखेन तत्त्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः । ध्वन्यालोक - ३/३६

२. "समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्वव्यवस्थानाद्गुणीभूत तव्यंग्यता निर्विवादैव" - वही

विरोधमूलक अलंकार

इस वर्ग में जो अलंकार आते हैं उनमें विभावना और विशेषोक्ति के द्वारा अनभिहित कारण का प्रभावातिशय व्यंजित किया जाता है। विरोधाभास, विषम एवं अधिक अलंकारों से प्रस्तुत वस्तु की दशा, गुण, चरित्र आदि की गंभीरता, उच्चता, लोकोत्तरता आदि व्यंजित होते हैं। विशेष अलंकार प्रस्तुत वस्तु की लोकोत्तरता, प्रभावातिरेक, बहुमुखी उपकारकता आदि द्योतित करता है। "अतद्‌गुण" से भी वस्तु की प्रभावशालिता या अप्रभावशालिता व्यंजित होती है।

मालात्मक (शृंखलात्मक) अलंकार

दीपक, यथासंख्य, परिसंख्या, परिकर, समुच्चय, कारणमाला, सार तथा एकावली मालात्मक अलंकार हैं, क्योंकि इनमें एक वस्तु की अनेक क्रियाओं या गुणों का वर्णन (कारक दीपक), एक क्रिया वाले अनेक कारकों का वर्णन (क्रिया दीपक), एक कार्य के अनेक कारणों का वर्णन या एक धर्म वाले अनेक पदार्थों का वर्णन (समुच्चय), एक वस्तु की अनेक विशेषताओं का वर्णन या एक जैसे अनेक तथ्यों का वर्णन (परिसंख्या, परिकर) तथा परस्पर सम्बद्ध अनेक पदार्थों की विशेषताओं का वर्णन (कारणमाला, सार, एकावली) होता है। एक वस्तु की अनेक क्रियाओं या गुणों के वर्णन से उसकी दशा विशेष की गम्भीरता, गुणाधिक्य अथवा महिमातिशय की अभिव्यक्ति होती है। एक कार्य के अनेक कारणों के वर्णन से कार्य की दुर्निवारिता, प्रभावातिशय, चरित की लोकोत्तरता आदि व्यंजित होते हैं। "कारणमाला" से कार्य का मूलकारण, "सार" अलंकार से सारतम वस्तु तथा "एकावली" से वस्तु का सौन्दर्यातिशय या सौन्दर्याधायक हेतुओं की व्यंजना होती है। "सहोक्ति" और "विनोक्ति" भी मालात्मक अलंकार हैं।

आक्षेपात्मक अलंकार

यह एक ही है "**आक्षेप अलंकार**"। इसमें आक्षेपोक्ति (निषेधोक्ति) द्वारा विशेष अर्थ व्यंजित किया जाता है।[1]

पूर्वापरस्थितिवर्णनात्मक अलंकार

यह भी एक ही है। उसका नाम है **पर्याय अलंकार**। यह भी विभिन्न अर्थों का व्यंजक है, जैसे निम्न श्लोक में दुष्टों के वचन की अत्यन्त पीड़ाकारकता व्यंजित होती है -

---

१. आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। - ध्वन्यालोक, १/१३

नन्वाश्रयस्थितिरयं तव कालकूट! केनोतरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ॥
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससवाचि पुनः खलानाम् ॥[1]

प्रच्छन्ननिन्दास्तुतिमूलक अलंकार

इस अलंकार का नाम है "**व्याजस्तुति**"। इसमें निन्दा वाच्य होती है और स्तुति व्यंग्य। इसी प्रकार स्तुति वाच्य होती है और स्तुति निन्दा गम्य।[2]

प्रतीकात्मक अंलकार

अप्रस्तुत प्रशंसा के विशेषनिबन्धना तथा सारूप्य निबन्धना भेद (अन्योक्ति) तथा रूपकातिशयोक्ति प्रतीकात्मक अलंकार हैं। क्योंकि इनमें अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत द्योतन किया जाता है, प्रस्तुत वाच्य नहीं होता। यह अलंकार प्रस्तुत के सम्पूर्ण सन्दर्भ का व्यंजक होता है।

कारणकार्यपौर्वापर्यविपर्ययात्मक अलंकार

यह अतिशयोक्ति अलंकार का एक भेद है। इसके द्वारा कारण की त्वरित कार्यकारिता या अत्यन्त प्रभावशालिता व्यंजित होती है।

प्रस्तुतान्यत्वनिरूपणात्मक अलंकार

यह भी अतिशयोक्ति का प्रकार विशेष है। इसमें वर्ण्यवस्तु को सजातीय वस्तुओं से भिन्न प्रतिपादित किया जाता है जिससे उसका लोकोत्तर स्वरूप व्यंजित होता है।

आवृत्तिमूलक अलंकार

यद्यपि इस प्रकार के अलंकार का उल्लेख प्राचीन आचार्यों ने नहीं किया है तथापि पद विशेष की आवृत्ति से उक्ति में वैचित्र्य उत्पन्न होता है और वस्तु के महिमातिशय स्थिति की एकरूपता आदि की व्यंजना होती है अथवा अर्थविशेष पर बल पड़ता है। **आचार्य आनन्दवर्धन** ने पदपौनरुक्त्य को कहीं कहीं व्यंजकत्व का हेतु बतलाते हुए तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु" यहाँ विदन्ति के पौनरुक्त्य को "वे ही सब कुछ अच्छी तरह

---

१. काव्यप्रकाश १०/११७

२. "उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः। निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः।"
-साहित्यदर्पण, १०/५९-६०

जानते हैं "अर्थ का व्यंजक बतलाया है ।[१] इसी प्रकार निम्न उदाहरणों में पदपुनरुक्ति विभिन्न अर्थों की व्यंजक है -

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ।[२]

यहाँ "स" पद की पुनरुक्ति समस्त गुणों की एकाश्रयता का भाव व्यंजित करने का सशक्त माध्यम है ।

सा वसई तुज्झ हियए सा च्चिअ अच्छीसु साअ वअणेसु ।
अम्हारिसाण सुंदर ओ आसो कत्थ पावाणम् ॥[३]

इस गाथा में " स" पद की आवृत्ति से नायक की एकमयता या तन्मयता द्योतित होती है ।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः॥[४]

यहाँ " विद्या" शब्द की पुनरुक्ति से विद्या का सर्वातिशयी गुणातिशय व्यंजित होता है ।

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं,
दत्तं पदं शिरसि विद्विषता ततः किम् ?
सम्मानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं,
कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्ततः किम् ?[५]

यहां " किम्" पद की पुनरुक्ति से श्लोक में वर्णित सभी कार्यों की व्यर्थता और उनसे भिन्न एकमात्र मोक्ष-साधना की सार्थकता द्योतित होती है ।

---

१. "प्रसङ्गात् पौनरुक्तयान्तरमपि व्यञ्जकमित्याह पदपौनरुक्त्यमति पदग्रहणवाक्यादेरपि यथासम्भवमुपलक्षणम् । विदन्तीति । त एव हि सर्वे विदन्ति सुतरामिति ध्वन्यते । वाक्य पौनरुक्त्यं यथा - "पश्य द्वीपादन्यस्मादपि" इति वचनान्तरं कः सन्देहः? द्वीपादन्यस्मादपि इत्यनेनोप्सत प्राप्ति रविहिनतैव ध्वन्यते। "किं किम् ? स्वस्था भवन्ति मयि जीवति" इत्यनेनामर्षातिशयः । "सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी" इति उन्मादातिशयः । - ध्वन्यालोकलोचन, ३/१६ पृ० ३८८-३८९

२. नीतिशतक, ३३

३. काव्यप्रकाश, १०/१३६

४. नीतिशतक, २०

५. वैराग्यशतक

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवितयौवनम् ।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः ॥[1]

यहाँ "चला" पद की पुनरुक्ति संसार के प्रत्येक पदार्थ की नश्वरता व्यंजित करने का अद्वितीय साधन है ।

उदये सविता ताम्रस्ताम्रश्चास्तमने तथा ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥

यहाँ "ताम्र" शब्द की पुनरुक्ति से उदय और अस्त दोनों अवस्थाओं में एकरूपता का द्योतन होता है। "ताम्र" के रूप में "रक्त" का भी प्रयोग हो सकता था, किन्तु "ताम्र" के अतिरिक्त अन्य पर्याय का प्रयोग किया जाता तो अर्थभेद् न होने पर भी शब्दभेद के कारण एकरूपता की प्रतीति न हो पाती ।[2]

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः ।
वसन्तकाले सम्प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः ॥

यहाँ उत्तरार्ध में पुनरुक्त "काकः" और "पिकः" पद क्रमशः "कर्कश ध्वनि करने वाला " तथा "मधुर ध्वनि करने वाला" अर्थ ध्वनित करते हैं । यह लाटानुप्रास तथा अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि का भी उदाहरण है ।

पदक्रममूलक अलंकार

पुनरुक्त पदों के क्रमविशेष या स्थानविशेष में भी अर्थविशेष की व्यंजना होती है। उदाहरणार्थ -

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मति रावयोः ।
किं जातमधुना मित्र ! यूयं यूयं वयं वयम् ॥

इस श्लोक के पूर्वार्ध में "यूयं वयं वयं यूयम्" पदों का जो क्रम है उससे दोनों व्यक्तियों की अभिन्नहृदयता व्यंजित होती है । उत्तरार्ध में इन्हीं पदों का क्रम बदलकर "यूयं यूयं वयं वयम्" इस प्रकार हो गया है, जिससे दोनों की भिन्नहृदयता का द्योतन होता है । पदों के इस क्रम परिवर्तन से उक्ति में वैचित्र्य भी है ।

१. वैराग्यशतक, ९६
२. शैली और शैलीविज्ञान - वि. कृष्णस्वामी अयंगार, पृष्ठ ५४

जयोदय में अलंकार : अर्थालंकार

आचार्य ज्ञानसागर जी ने इनमें से अनेक अलंकारों का जयोदय में प्रयोग कर मानवचरित्र, वस्तुस्वरूप की विशेषताओं तथा मानवीय संवेगों की सुन्दर अभिव्यंजना की है। उनके प्रयोग से भाषा में वक्रोक्तिजन्य रोचकता तथा व्यंजकताजन्य चारुत्व भी आ गया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं -

उपमा

महाकवि ने वस्तु की स्वाभाविक रमणीयता, उत्कृष्टता एवं विशिष्टता, मनोभावों की उग्रता एवं चारित्रिक वैशिष्ट्य को चारुत्वमयी अभिव्यक्ति देने के लिये उपमा अलंकार का आश्रय लिया है। निम्न पद्य में केशों की स्वाभाविक मनोहरता का उन्मीलन करने में उपमा अलंकार ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है -

वेणीयमेणीदृश एव भायाच्छ्रेणी सदा मेकलकन्यकायाः ।
हरस्य हाराकृतिमादधाना यूनां मनोमोहकरी विधानात् ॥ ११/७०

- मृगनयनी सुलोचना की चोटी सुशोभित हो रही है। यह चोटी नर्मदा नदी की धारा के समान घुंघराली (काली तथा कुटिल) है। इसकी आकृति भगवान् शंकर के हार (सर्प) के समान है। यह तरुणों के मन को मोहित करती है।

यहाँ नर्मदा नदी एवं हर के हार के उपमानों ने केशों की कृष्णता, विशालता तथा कुटिलता को नेत्रों के सामने उपस्थित सा कर दिया है।

आरे से लकड़ी को काटे जाने की उपमा अर्ककीर्ति की तीव्र मनोव्यथा को अनुभूतिगम्य बनाने में बड़ी सफल हुई है -

पथसमुप्लुतये यतितं मया परिवदिष्यति तत्सुदृगाशया ।
मम हृदं तदुदन्तमहो भिनत्त्यपि विभो करपत्रमिवेन्धनम् ॥ ९/३३

- हे प्रभो ! मैंने सन्मार्ग के प्रकाशनार्थ प्रयास किया, किन्तु लोग तो यही कहेंगे कि सुलोचना की प्राप्ति की आशा से युद्ध किया। यह बात मेरे हृदय को इस प्रकार विदीर्ण कर रही है जैसे आरा काष्ठ को।

कवि ने उपमा द्वारा धन की कष्ट-साध्यता एवं क्षणभंगुरता सफलता पूर्वक व्यंजित की है -

ननु जनो भुवि सम्पदुपार्जने प्रयततां विपदामुत वर्जने ।
मिलति नाङ्गलिकाफलवारिवद् व्रजति यद् गजभुक्तकपित्थवत् ॥ २५/११

संसारी प्राणी सम्पत्ति के उपार्जन एवं विपत्तियों के परिहार हेतु भले ही प्रयत्न करें पर वह शुभोदय होने पर नारियल के अन्दर स्थित पानी के समान सम्पत्ति आती है तथा अशुभोदय होने पर गज द्वारा खाये हुए कैथ के फल के समान नष्ट हो जाती है ।

वृक्ष में लगे हुए नारियल में पानी आने में अधिक समय लगता है । सम्पत्ति के अर्जन में भी अधिक समय लगता है अतः "लाङ्गलिकाफलवारिवद्" उपमान से धन-सम्पत्ति की कष्ट साध्यता व्यंजित होती है । जब हाथी कैथ के फल का भक्षण करता है तो उसका पाचन कुछ ही घण्टों में हो जाता है । धन सम्पत्ति भी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है । अतएव यहाँ "गजभुक्तकपित्थवत्" उपमान धनसम्पत्ति की क्षणभंगुरता का द्योतक है ।

समुद्र की उपमा ने जयकुमार के धीर स्वभाव को प्रभावशाली ढंग के व्यंजित किया है -

संवहन्नपि गभीरमाशयमित्यनेन विषमेण सञ्जयः ।
केन वा प्रलयजेन सिन्धुवत् क्षोभमाप निलतोऽथ यो भुवः ॥ ७/७४

- यद्यपि जयकुमार गम्भीर प्रकृति का था तथापि वह इस विषम प्रसंग (अर्ककीर्ति का युद्धोन्मुख होना) में उसी प्रकार क्षुब्ध हो गया जैसे प्रलयकालीन पवन से समुद्र ।

समुद्र अत्यन्त गम्भीर और मर्यादाशील होता है । वह केवल प्रलयकालीन पवन से ही क्षुब्ध होता है । साधारण वायु उसे प्रभावित नहीं कर सकती । जयकुमार भी अत्यन्त धैर्यवान् था । साधारण प्रतिकूलतायें उसे क्षुब्ध नहीं कर सकती थीं । असाधारण प्रतिकूल परिस्थिति में ही वह क्षोभ को प्राप्त हुआ था । इस प्रकार जयकुमार के लिए समुद्र की उपमा उसके अत्यन्त धीर स्वभाव की व्यंजक है ।

रूपक

वस्तु के सौन्दर्य, भावातिरेक तथा अमूर्त तत्वों के अतीन्द्रिय स्वरूप को हृदयंगम बनाने के लिए कवि ने रूपक का सफल प्रयोग किया है ।

निम्न पद्य में "संसारसमुद्र" एवं "श्रीपादपादपपद" रूपक संसार की विशालता, गहनता, भयंकरता तथा भगवान् के चरणों की शान्तिप्रदायकता के सफल व्यंजक हैं -

संसारसागरसुतीरवदादिवीर - श्रीपादपादपपदं समवाप धीरः ।
तत्राऽऽनमँस्तु झरदुत्तरलाक्षिमत्त्वान्मुक्ताफलानि ललितानि समाप सत्त्वात् ॥२६/६१

- धीर वीर जयकुमार ने संसाररूपी सागर के उत्तम तट स्वरूप प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के चरणरूपी वृक्ष का शीतल स्थान प्राप्त किया । उन्हें बारम्बार नमस्कार किया । उन्होंने सात्विक भाव के कारण झरती हुई चंचल आँखों से मुक्त हो मनोहर मोती

प्राप्त किये। अर्थात् भगवान् के चरणों का सान्निध्य प्राप्त होने पर उनके नेत्रों से हर्षाश्रु निकलने लगे। वे अश्रुकण मोती सदृश दिखाई दे रहे थे।

निम्न श्लोक में चित्त पर मयूर के आरोप से राजा अकम्पन का हर्षातिरेक अनायास व्यंजित हो उठा है -

श्रीपयोधरभराकुलितायाः संगिरा भुवनसंविदितायाः ।

काशिकानृपतिचित्तकलापी सम्मदेन सहसा समवापि ॥ ५/५५

- अत्यन्त सुन्दर एवं उन्नत पयोधरों वाली बुद्धिदेवी की वाणी सुनकर महाराजा अकम्पन का चित्तमयूर प्रसन्न हो गया।

अधोलिखित पद्य में "बोधनदीप" एवं "मोहतम" रूपक ज्ञान एवं मोह के स्वरूप को अत्यन्त सरलता से हृदय की गहराई में उतार देते हैं -

स्नवदिहो न तथा न दशान्तरमपि तु मोहतमोहरणादरः ।

लसति बोधनदीप इवान्यतः विविधपतङ्गगणः पतति स्वतः ॥ २५/६९

- विवेकी मनुष्य को किसी पदार्थ में न तो स्नेहरूपी राग होता है और न दशान्तर-राग के विपरीत द्वेष होता है। वह तो मोहरूप अन्धकार को नष्ट करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है। ज्ञानरूप दीपक ही ऐसा है जिस पर कर्मरूपी पतंगे स्वतः गिरकर नष्ट हो जाते हैं।

उत्प्रेक्षा

महाकवि ने जयोदय में भावात्मकता एवं चित्रात्मकता की सृष्टि, चरित्रचित्रण और वस्तु वर्णन को प्रभावी बनाने के लिए उत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग किया है।

निम्न पद्य में प्रयुक्त उत्प्रेक्षा युद्ध की भयानकता का उन्मूलन करती है -

निम्नानि गन्धर्वशफैः कृतानि यत्राथ कौसुम्भकभाजनानि ।

भृतानि रक्तैर्यमराज्ञिशान्तसंव्यानरागार्थमिव स्म भान्ति ॥ ८/२७

- युद्धस्थल में घोड़ों के खुरों से जमीन में गड्ढे हो गये थे उनमें वीरों का रक्त भर गया था। वीरों के रक्त से परिपूर्ण गड्ढे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों यमराज की रानियों के वस्त्रों को रंगने के लिए कुसुम्भ से भरे पात्र हों।

राजा जयकुमार के पराक्रम एवं शक्तिशालिता की अभिव्यक्ति के लिए भी उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया गया है -

अहीनलम्बे भुजमञ्जुदण्डे विनिर्जिताजानुलसद्भुशुण्डे ।

परायणत्वं भुवि भूपतेः स शुचेव शुक्लत्वमवाप शेषः ॥ १/२५

- राजा जयकुमार की शेषनाग के समान लम्बी भुजाओं ने इन्द्र के ऐरावत को भी जीत लिया था। उन भुजाओं के सहारे पृथ्वी सुदृढ़ बन गयी थी, मानों इसी सोच में शेषनाग सफेद पड़ गया है।

अधोलिखित श्लोक में उत्प्रेक्षा नायिका की कटि की कृशता को प्रभावशालीरूप से व्यंजित करती है -

वक्त्रं विनिर्माय पुरारमस्मिञ्चन्द्रभ्रमात्सङ्कुचतीह तस्मिन्।
निजासने चाकुलतां प्रयाता चक्रे न वै मध्यमितीव धाता। ११/२५॥

- विधाता ने सर्वप्रथम सुलोचना के मुख का निर्माण किया। मुख में चन्द्रमा के भ्रम से उसका आसन (कमल) संकुचित हो गया। इसलिए आकुलित होकर ही मानों विधाता ने सुलोचना की कमर नहीं बनाई।

अपह्नुति

अपह्नुति का एक चामत्कारिक प्रयोग निम्न श्लोक में हुआ है -

व्यञ्जनेष्विव सौन्दर्यमात्रारोपावसानकौ।
विसर्गौ स्तनसन्देशात् स्मरेणोद्देशितावितः ॥३/४९॥

- सुलोचना के शरीर में जो स्तनद्वय थे, वे वास्तव में स्तन नहीं थे अपितु सुलोचना के शरीर में सौन्दर्याधान पूर्ण हो चुका है, इसकी सूचना देने के लिए कामदेव ने दो विसर्ग रख दिये थे।

ससन्देह

कवि ने इस अलंकार के द्वारा वस्तु के सौन्दर्यातिशय की प्रतीति कराई है। यथा-

अलिकोचितसीम्नि कुन्तला विबभुः सुतनोरनाकुलाः।
सुविशेषक दीपसम्भवा विलसन्त्योऽञ्जनराजयो न वा ॥१०/३३॥

- सुलोचना के ललाट प्रदेश पर संवारे गये केश कहीं शुभ तिलक रूपी दीपक से उत्पन्न कज्जलसमूह तो नहीं है ?

यहाँ सुन्दरी सुलोचना के केशों में कज्जलराशि के सन्देह से केशों का कालिमातिशय अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से व्यंजित हुआ है।

इसी प्रकार -

शशिनस्त्वास्ये रदेषु भानां कचनिचयेऽपि च तमसो भानाम्।
समुदितभावं गता शर्वरीयं समस्ति मदनैकमञ्जरी ॥११/९३॥

- इस (सुलोचना) के मुख में चन्द्रमा की शोभा है, दाँतों में नक्षत्रों की तथा केशपाश में अन्धकार की। यह साक्षात् रात्रि है या कामदेव की पुष्पकलिका ?

यह सन्देह सुलोचना के मुख एवं दाँतों के सौन्दर्यातिशय का तथा केशों के कालिमातिशय का अद्वितीय व्यंजक है।

निम्न श्लोक में भी सुलोचना के सौन्दर्यातिशय की प्रभावशाली व्यंजना हुई है -

चारुर्विधोः कारुरुतामृतात्मा स्वारुक् सदा रूपनिधेरुतात्मा ।
पद्मोदरादात्ततनुः शुभाभ्यां विभ्राजते मार्दवसौष्ठवाभ्याम् ॥११/९२॥

- यह (सुलोचना) चन्द्रमा की मनोहर शिल्पक्रिया है अथवा सदा दिव्यरूप वाली सुन्दर देवी है या सौन्दर्य समुद्र की आत्मा ? यह शुभसूचक सुन्दरता तथा कोमलता के कारण ऐसी प्रतीत होती है जैसे इसका शरीर कमल के उदर से उत्पन्न हुआ है।

समासोक्ति

इसमें प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है। जड़ और तिर्यंचों पर मानव व्यापारों का आरोप उनको मानव हृदय के और भी समीप ले आता है तथा भावों के बोध में अधिक तीव्रता पैदा कर देता है। कवि ने शीघ्रता से तीव्र भावबोध कराने में समासोक्ति का प्रयोग किया है। युद्ध हेतु तत्पर जयकुमार के प्रति कवि की उक्ति है -

सोमसूनुरुचितां धनुर्लतां सन्दधौ प्रवर इत्यतः सताम् ।
श्रीकरे स खलु बाणभूषितां शुद्धवंशजनितां गुणान्विताम् ॥ ७/८३॥

- जयकुमार सज्जन पुरुषों में श्रेष्ठ माना जाता था। उसने कर में शुद्धवंशोत्पन्न, गुणान्वित एवं समुचित बाण से विभूषित धनुर्लता को ग्रहण किया।

धनुर्लता के शुद्धवंशजनिता, गुणान्विता एवं बाणभूषिता विशेषणों से पवित्र कुलोत्पन्न, रूप सौन्दर्यादि गुणों से युक्त तथा विवाह दीक्षा से युक्त युवती की प्रतीति होती है। धनुर्लता पर नायिका का आरोप होने से वह शृंगार रस का विभाव बन गयी है और वर्णन रसात्मक हो गया है।

व्यतिरेक अलंकार

महाकवि ने व्यतिरेक अलंकार का प्रयोग कर वस्तु के अद्वितीय सौन्दर्य और महिमातिशय की अभिव्यंजना की है। निम्न श्लोक में व्यतिरेक के द्वारा जयकुमार के लोकोत्तर रूप सौन्दर्य की व्यंजना की गई है -

इहाङ्गसम्भावितसौष्ठवस्य श्रीवामरूपस्य वपुश्च यस्य ।
अनङ्गतामेव गतां समस्तु तनुः स्मरस्यापि हि पश्यतस्तु ॥ १/४६॥

- जयकुमार का शरीर अद्भुत रूपसौन्दर्यशाली था जिसे देखते ही कामदेव का शरीर अनंग हो गया ।

अधोलिखित श्लोक में व्यतिरेक के द्वारा कथा का महिमातिशय व्यंजित हुआ है-

कथाप्यथामुष्य यदि श्रुतारात्तथा वृथा साऽऽर्य सुधासुधारा ।
कामैकदेशक्षरिणी सुधा सा कथा चतुर्वर्गनिसर्गवासा ॥ १/३॥

- हे आर्य ! इस राजा (जयकुमार) की कथा यदि एक बार भी सुन ली तो फिर अमृत की अभिलाषा न रहेगी, क्योंकि अमृत तो चारों पुरुषार्थों में केवल एक काम पुरुषार्थ ही प्रदान करता है पर इस राजा की कथा चारों पुरुषार्थों की प्रदायक है ।

यहाँ उपमान अमृत से उपमेय कथा के आधिक्य (वैशिष्ट्य) का वर्णन होने से व्यतिरेक अलंकार है । यह अमृत की तुलना में जयकुमार की कथा के महिमातिशय का व्यंजक है ।

भ्रान्तिमान्

वस्तु के स्वाभाविक स्वरूप के उन्मीलन हेतु कवि ने भ्रान्तिमान् का प्रयोग किया है -

पुलिने चलनेन केवलं वलितग्रीवमुपस्थितो बकः ।
मनसि व्रजतां मनस्विनामतनोच्छ्वेतसरोजसम्भ्रमम् ॥ १३/६३॥

- नदी के किनारे बगुला एक पैर से खड़ा हुआ है और उसने अपनी ग्रीवा टेढ़ी कर रखी है । यह बगुला विवेकीजन के मन में श्वेत कमल का भ्रम उत्पन्न कर रहा है ।

यहाँ बगुले में कमल की भ्रान्ति बगुले की स्वाभाविक उज्ज्वलता की अभिव्यंजक है ।

इसी प्रकार तलवार की चमक में बिजली की चमक की भ्रान्ति के द्वारा तलवार के दैदीप्यमान स्वरूप की प्रतीति करायी गयी है -

उद्धूतसद्धूलिघनान्धकारे शम्पा सकम्पा स्म लसत्युदारे ।
रणाङ्गणे पाणिकृपाणमाला चुकूजुरेवं तु शिखण्डिबालाः ॥ ८/८॥

- उड़ी हुई धूलि के कारण विशाल रणस्थल मेघ की तरह अन्धकाराच्छन्न हो गया था । वहाँ योद्धाओं के हाथों में तलवारें चमक रही थीं, मोरों के बच्चों ने उन्हें देखा तो वे उसे बिजली समझ कर केकावाणी करने लगे ।

निदर्शना

कार्य के औचित्य - अनौचित्य के स्तर की प्रतीति कराने में यह अलंकार अत्यन्त सहायक है। महाकवि ने इसी प्रयोजन से काव्य में निदर्शना का प्रयोग किया है। यथा -

जयमुपैति सुभीरुमतल्लिकाऽखिलजनीजनमस्तकमल्लिका।
बहुषु भूपवरेषु महीपते मणिरहो चरणे प्रतिबद्ध्यते ॥९/७७

- हे राजन्! अनेक बड़े बड़े राजाओं के होने पर भी समस्त स्त्री समाज की शिरोमणि, श्रेष्ठतम तरुणी सुलोचना जयकुमार को प्राप्त हो गई है। मणि को पैरों में बाँध दिया गया है।

यहाँ "मणिः चरणे प्रतिबद्ध्यते" यह निदर्शना श्रेष्ठतम तरुणी के जयकुमार को प्राप्त हो जाने के अनौचित्य का स्तर स्पष्ट कर देती है।

इसी प्रकार -

नीतिमीतिमनयो नयन्नयं दुर्मतिः समुपकर्षति स्वयम्।
उल्मुकं शिशुवदात्मनोऽशुभं योऽह्नि वाञ्छति हि वस्तुतस्तु भम् ॥ ७/७९।

- दुर्मति अर्ककीर्ति नीति का उल्लंघन कर रहा है। यह जली लकड़ी को पकड़ने वाले बालक के समान स्वयं का अकल्याण करना चाहता है। दिन में नक्षत्रों को देखना चाहता है।

यहाँ "अह्नि वाञ्छति हि वस्तुतस्तु भम्" इस उक्ति के द्वारा अर्ककीर्ति की इच्छा के अनौचित्य का स्वरूप सम्यग्रूपेण हृदयंगम हो जाता है।

अर्थान्तरन्यास

कवि ने पात्रों के विचारों को बल प्रदान करने, मानवीय आचरण का औचित्य सिद्ध करने, वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन तथा जीवन की सफलता के लिए आवश्यक निर्देश देने हेतु इस अलंकार का प्रयोग किया है। निम्न उक्तियों में अर्थान्तरन्यास के द्वारा विभिन्न नैतिक आधारों पर विभिन्न पुरुषों के आचरण का औचित्य प्रतिपादित किया गया है -

नाथवंशिन इवेन्दुवंशिनः ये कुतोऽपि परपक्षशंसिनः।
तैरपीह परवाहिनी धुता कृच्छ्रकाल उदिता हि बन्धुता ॥ ७/९१॥

- जो नाथवंशी और सोमवंशी मनुष्य अर्ककीर्ति की सेना में थे, वे उसकी सेना छोड़कर जयकुमार की सेना में सम्मिलित हो गये। आपत्ति के समय जो साथ देती है वही बन्धुता है।

सुरः समागत्यतमां स भद्रं सनागपाशं शरमर्धचन्द्रम् ।
ददौ यतश्चावसरेऽङ्गवत्ता निगद्यते सा सहकारिसत्ता ॥८/७७॥

- नागचर देव ने जयकुमार को नागपाश एवं अर्धचन्द्र बाण प्रदान किया। समय पर सहयोग देना ही सहकारी भाव कहलाता है।

न चातुरोऽप्येष नरस्तदर्थमकम्पनं याचितवान् समर्थः ।
किमन्यकैर्जीवितमेव यातु न याचितं मानि उपैति जातु ॥१/७२॥

- यद्यपि सामर्थ्यशाली जयकुमार सुलोचना के प्रति आतुर था फिर भी उसने महाराजा अकम्पन से उनकी पुत्री सुलोचना के लिये याचना नहीं की। स्वयं का जीवन भले ही समाप्त हो जाये, स्वाभिमानी किसी से याचना नहीं करता।

मनोवैज्ञानिक एवं धार्मिक तथ्यों के बल पर कर्त्तव्य विशेष के औचित्य की सिद्धि में अर्थान्तरन्यास का प्रभावपूर्ण प्रयोग निम्न पद्यों में मिलता है -

अर्थशास्त्रमवलोकयेन्नराट् कौशलं समनुभावयेत्तराम् ।
श्रीप्रजासु पदवीं व्रजेत्परां व्यर्थता हि मरणाद्भयङ्करा ॥ २/५९ ॥

- सज्जन पुरुष अर्थशास्त्र का अध्ययन करे जिससे वह समाज में रहते हुए कुशलतापूर्वक जीवन यापन कर सके तथा प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके, अन्यथा दरिद्रता मरण से भी भयंकर दुखःदायिनी होती है।

इत्थमात्मसमयानुसारतः सम्प्रवृत्तिपर आप्रदोषतः ।
प्रार्थयेत् प्रभुमभिन्नचेतसा चित्स्थितिर्हि परिशुद्धिरेनसाम् ॥ २/१२२॥

- देशकाल के अनुसार प्रातः से सायंकाल तक समुचित प्रवृत्ति करने वाले गृहस्थ का कर्तव्य है कि चित्त को स्थिर रखकर परमात्मा का स्मरण करे, क्योंकि चित्त की स्थिरता ही पापो से बचाने वाली होती है।

दृष्टान्त

दृष्टान्त अलंकार के निम्नलिखित प्रयोजन है : कथन के औचित्य का प्रतिपादन, उसका स्पष्टीकरण तथा भावातिरेक की व्यंजना।

वड़वानल के दृष्टान्त से अर्ककीर्ति के क्रोध की भयंकरता का द्योतन संभव हुआ है-

भूरिशोऽपि मम संप्रसारिभिरौर्ववन्नृप समुद्रवारिभिः ।
किं वदानि वचनैः स भारत-भूपभूर्न खलु शान्ततां गतः ॥ ७/७२॥

हे राजन् ! क्या कहूँ ? जिस प्रकार वड़वानल समुद्र के विपुल जल से भी शान्त नहीं होता, उसी प्रकार मेरे द्वारा कहे गये सान्त्वनापूर्ण वचनों से अर्ककीर्ति (का क्रोध) शान्त नहीं हुआ।

जयकुमार की स्थिति को स्पष्ट करने में सिंहसुत का दृष्टान्त कितना उपयुक्त है -

साधारणधराधीशाञ् जित्वाऽपि स जयः कुतः ।

द्विपेन्द्रो नु मृगेन्द्रस्य सुतेन तुलनामियात् ॥ ७/४९॥

- जयकुमार ने साधारण राजाओं को जीता है, क्या वह पूर्ण विजयी कहला सकता है ? हाथी अन्य पशुओं से बड़ा होने पर भी क्या सिंह के बच्चे की बराबरी कर सकता है?

जयकुमार के हाथों पराजित अर्ककीर्ति को राजा अकम्पन समझाते हैं । अकम्पन द्वारा जयकुमार के प्रति क्षमाभाव धारण किये जाने के औचित्य को गाय और बछड़े का दृष्टान्त अत्यन्त मार्मिक ढंग से प्रतिपादित करता है ।

यदपि चापलमाप ललाम ते जय इहास्तु म एव महामते ।

उरसि सन्निहतापि पयोऽर्पयत्यथ निजाय तुजे सुरभिः स्वयम् ॥ ९/१२॥ (उत्तरार्ध)

- राजन् ! आप महान् हैं । जयकुमार ने जो चपलता की (युद्ध में आपको पराजित कर बन्दी बनाया) उसे भूल जायें । दूध पीते समय बछड़ा गाय की छाती में चोट मारता है, परन्तु गाय क्रोधित न होकर उसे दूध ही पिलाती है ।

सुख की आशा से संसार में भटकते हुए मनुष्य की भ्रान्तदशा को अनुभूतिगम्य बनाने में मृगमरीचिका के दृष्टान्त ने कवि को अवर्णनीय सफलता प्रदान की है -

भ्रमणमेतु जनः खलु माययाङ्कितगुणस्तरुणोऽपि च तृष्णया ।

अपि तु जातु च यातु मरीचिकाविवरणे हरिणः किमु वीचिकाम् ॥ २५/४३॥

- मोह से आच्छादित संसारी प्राणी इन्द्रिय विषयों की तृष्णा से तरुण होकर संसार में परिभ्रमण करता है, पर उसे रंचमात्र भी सुख उसी प्रकार प्राप्त नहीं होता, जैसे मरुस्थल में जल प्राप्ति की आशा से भटकते मृग को जल की एक बूँद भी उपलब्ध नहीं होती ।

मालारूप प्रतिवस्तूपमा

कथन के औचित्य को सिद्ध करने हेतु कवि ने मालारूप प्रतिवस्तूपमा अलंकार का भी प्रयोग किया है । यथा -

शक्यमेव सकलैर्विधीयते को नु नागमणिमाप्नुमुत्पतेत् ।

कूपके च रसकोऽप्युपेक्ष्यते पादुका तु पतिता स्थितिः क्षतेः ॥ २/१६

- सभी लोगों के द्वारा शक्य कार्य ही किया जाता है । नागमणि प्राप्त करने के लिये कौन प्रयत्न करेगा ? कुएँ में पड़े चरस की सभी उपेक्षा करते हैं, परन्तु यदि उसमें जूती गिर जाय तो कोई सहन नहीं करता ।

यहाँ पर प्रथम चरण उपमेय तथा शेष चरण उपमान हैं जो "शक्यमेव सकलैर्विधीयते" (सभी लोगों द्वारा शक्य कार्य किया जाता है) उक्ति का औचित्य सिद्ध करते हैं ।

विभावना

वस्तु के गुण वैशिष्ट्य एवं महिमातिशय को व्यंजित करने के लिए कवि ने विभावना का सुन्दर प्रयोग किया गया है । यथा -

फुल्लत्यसङ्गाधिपतिं मुनीनमवेक्ष्यमाणो बकुलः कुलीनः ।
विनैव हालाकुरलान् वधूनां व्रताश्रितिं वागतवानदूनाम् ॥ १/८१

- निर्ग्रन्थों के अधिपति मुनिराज को देखकर मौलश्री का वृक्ष वधुओं के मद्यकुल्लों के बिना ही विकसित हो रहा है । मानों निर्दोष मूलगुणों को प्राप्त कर रहा है ।

वधुओं के मुखमद्य को प्राप्त किये बिना ही मौलश्री के विकसित होने का वर्णन होने से विभावना अलंकार है । यह मुनिराज के प्रभावातिशय को द्योतित करने का सर्वोत्तम माध्यम बन पड़ा है । इसी प्रकार -

अशोक आलोक्य पतिं ह्यशोकं प्रशान्तचित्तं व्यकसत्सुरोकम् ।
रागेण राजीवदृशः समेतं पादप्रहारं स कुतः सहेत ॥ १/८४

- शोकरहित प्रसन्नचित्त मुनिराज को देखकर यह अशोक वृक्ष निःसंकोच स्वयं ही विकसित हो गया । वह अनुरागवश कमलनयना कामिनी द्वारा किये जाने वाले पादप्रहार को कैसे सहन कर सकता है ?

यहाँ नायिका के पादप्रहार के बिना अशोक वृक्ष के विकसित होने का वर्णन होने से विभावना अलंकार है । यह मुनिराज की सत्संगतिजन्य लाभातिशय का व्यंजक है ।

विरोधाभास

महाकवि ने वस्तु के उत्कर्ष एवं रूप सौन्दर्यातिशय की व्यंजना हेतु विरोधाभास अलंकार का आश्रय भी लिया है -

अनङ्गरम्योऽपि सदङ्गभावादभूत् समुद्रोऽप्यजडस्वभावात् ।
न गोत्रभित्किन्तु सदा पवित्रः स्वचेष्टितेनेत्थमसौ विचित्रः ॥ १/४१

- राजा जयकुमार सुन्दर शरीरवाला होते हुए भी सुन्दर शरीर वाला नहीं था (अनंगरम्य = कामदेव के समान मनोहर था) अजल स्वभाव होते हुए भी समुद्र था । पर्वतभेदी न होते हुए भी वज्रधारी इन्द्र था । इस प्रकार वह विचित्र चेष्टावान् था ।

यहाँ "मदङ्गभावात् अपि अनङ्गरम्यः" "अजडस्वभावात् अपि समुद्रः" तथा "न गोत्रभित् किन्तु सदा पवित्रः" प्रयोगों में शाब्दिक विरोध होने से विरोधाभास अलंकार है। इससे यह व्यंजित होता है कि जयकुमार उत्तम अंगों वाला होने से कामदेव के समान सुन्दर था। उसका जड़ स्वभाव (मंद बुद्धि) न होने से वह ऐश्वर्यशाली था। वह अपने गोत्र को मलिन नहीं करता था अतएव सदाचारी था। इस प्रकार यहाँ विरोधाभास जयकुमार के रूप सौन्दर्यातिशय एवं गुणातिशय का व्यंजक है।

निम्न श्लोक में दिगम्बर मुनि के उत्कृष्ट चारित्र की अभिव्यंजना में विरोधाभास का प्रयोग अत्यन्त सफल हुआ है -

सदाचारविहीनोऽपि सदाचारपरायणः ।
स राजापि तपस्वी सन् समक्षोऽप्यक्षरोधकः ॥ २८/५

मुनि जयकुमार सदाचारविहीन (सदा+चार+विहीन=भ्रमणरहित) होते हुए भी सदाचार परायण थे। राजा होकर भी तपस्वी थे। समक्ष होकर भी अक्षरोधक थे।

सम्पूर्ण श्लोक में विरोधात्मक शब्दों का प्रयोग है अतः विरोधाभास अलंकार है। विरोध का परिहार इस प्रकार होगा -

मुनि जयकुमार परिभ्रमण का त्यागकर (एकान्त स्थान पर रहकर) स्वाध्याय, ध्यान आदि में रत रहते थे। राजा (सुन्दर शरीर वाले) थे। समक्ष (आत्म - सम्मुख) होकर इन्द्रियों को वश में करते थे।

दीपक

दीपक अलंकार के द्वारा स्त्रियों के सौन्दर्य की अत्यन्त प्रभावशालिता तथा पुरुषों के चित्त की अत्यन्त दुर्बलता का द्योतन बड़ी सफलता से हुआ है -

तनूनपाद्भिर्मदनं तथाद्भिः खण्डं तथाम्भोरुहरम्यपाद्भिः ।
सम्भाषभृद्धास विलासभावादिभिर्नृतोऽपगलेत् सकाशात् ॥ १६/४५

- अग्नि के द्वारा मैल (मदन) गल जाता है, जल के द्वारा शक्कर गल जाती है और कमलवत् सुन्दर चरणों वाली स्त्रियों के हास, विलास, सम्भाषण, अनुनय, विनय आदि से पुरुष का चित्त गल जाता है।

इन अलंकारों के अतिरिक्त महाकवि ने श्लेष, वक्रोक्ति, सम, स्मरण, उल्लेख, स्वभावोक्ति, हेतु, अनुमान, अन्यथानुपपत्ति, विरुद्धभाव, वाक्यालंकार, तर्क वितर्क, तद्गुण,

सहजसहयोगिता आदि अलकारो तथा अलकार सकर एव अलकार सम्सृष्टि का भी प्रयोग किया है। इनसे उक्ति मे वैचित्र्य मात्र आया है, अभिव्यक्ति मे रमणीयता का आधान नही हुआ है इसलिए काव्यत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण नही है।

कवि ने चित्रालकारो की रचना मे भी श्रम किया है। इनका भी काव्यात्मक महत्व नही है तथापि कवि की तद्विषयक प्रतिभा का परिचय देने हेतु एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है

चित्रालंकार

जहाँ विशेष प्रकार के विन्यास मे लिपिबद्ध किये गये वर्ण, खग, मुरज, कमल, चक्र आदि के आकार को प्रकट करते है वहाँ **चित्रालंकार** होता है।[1] जयोदय में महाकवि ने चक्रबन्ध चित्रालकार का प्रयोग किया है। काव्य के सत्ताईस सर्ग तक प्रत्येक सर्ग के अन्त मे एक एक चक्रबन्ध एवं अन्तिम सर्ग मे एक चक्रबन्ध एव एक शिविका बन्ध[2] चित्रालंकार इस प्रकार कुल उन्तीस चित्रालंकार मिलते है। इन चक्रबन्धो की प्रमुख विशेषता यह है कि ये पूरे सर्ग के वर्ण्यविषय के शीर्षक है एवं सर्ग के सार को अभिव्यक्त करते है। प्रत्येक चक्रबन्ध द्वारा सकेतित वर्ण्यविषय इस प्रकार है

(१) काशीनरेश जयकुमार द्वारा साधु की उपासना करना,

(२) रतिप्रभदेव का जयकुमार से विनम्र निवेदन करना,

(३) सुलोचना स्वयंवर हेतु दूत द्वारा राजाओं को आमंत्रित करना,

(४) राजाओं का स्वयंवर सभा में पहुँचना,

(५) स्वयंवर प्रारम्भ होना,

(६) बुद्धिदेवी द्वारा नृपपरिचय एवं सुलोचना द्वारा जयकुमार का वरण,

(७) अर्ककीर्ति तथा जयकुमार द्वारा युद्ध की तैयारियाँ करना,

(८) युद्ध में अर्ककीर्ति का पराजित होना,

(९) भरत चक्रवर्ती के समीप अकम्पन के दूत द्वारा स्वयंवर समाचार भेजकर क्षमा-याचना करना,

(१०) पाणिग्रहण संस्कार प्रारम्भ करना,

---

१. काव्यप्रकाश, ९/८५

२ जयोदय, २८/९६

(११) जयकुमार द्वारा सुलोचना के रूप सौन्दर्य का वर्णन,

(१२) पाणिग्रहण संस्कार पूर्ण होना,

(१३) जयकुमार का वधू सहित गंगा नदी के तट पर पहुँचना,

(१४) जयकुमार का जलक्रीड़ा वर्णन,

(१५) रात्रि आगमन का वर्णन,

(१६) सोमरसपानगोष्ठी का वर्णन,

(१७) रात्रिक्रीड़ा वर्णन,

(१८) प्रातःकालीन शोभा का वर्णन,

(१९) जयकुमार का प्रातःकालीन सन्ध्यावन्दन,

(२०) जयकुमार द्वारा भरत चक्रवर्ती की वन्दना करना,

(२१) जयकुमार का हस्तिनापुर पहुँचना,

(२२) जयकुमार-सुलोचना का भोगविलास वर्णम,

(२३) पूर्वजन्म का स्मरण एवं दिव्यविभूति की प्राप्ति का वर्णन,

(२४) जयकुमार सुलोचना का तीर्थयात्रा करना,

(२५) जयकुमार की वैराग्य-भावना का वर्णन,

(२६) जयकुमार का परिग्रह त्यागकर वन प्रस्थान करना,

(२७) ऋषभदेव द्वारा जयकुमार को उपदेश प्राप्त होना, एवं

(२८) जयकुमार का मोक्ष प्राप्त करना ।

चक्रबन्ध चित्रालंकार का सचित्र निदर्शन इस प्रकार है -

जन्मश्रीगुणसाधनं स्वयमवन् संदुःखदैन्याद् बहि-

र्यत्नेनैव विभुप्रसिद्धयशसे पापापकृत् सत्वपः ।

मञ्जूपासकसङ्कृतं नियमनं शास्ति स्म पृथ्वीभृते,

तेजः पुञ्जमयो यथागममथा हिंसाधिपः श्रीमते । १/११३

जयोदय महाकाव्य
प्रथम सर्ग, ११३
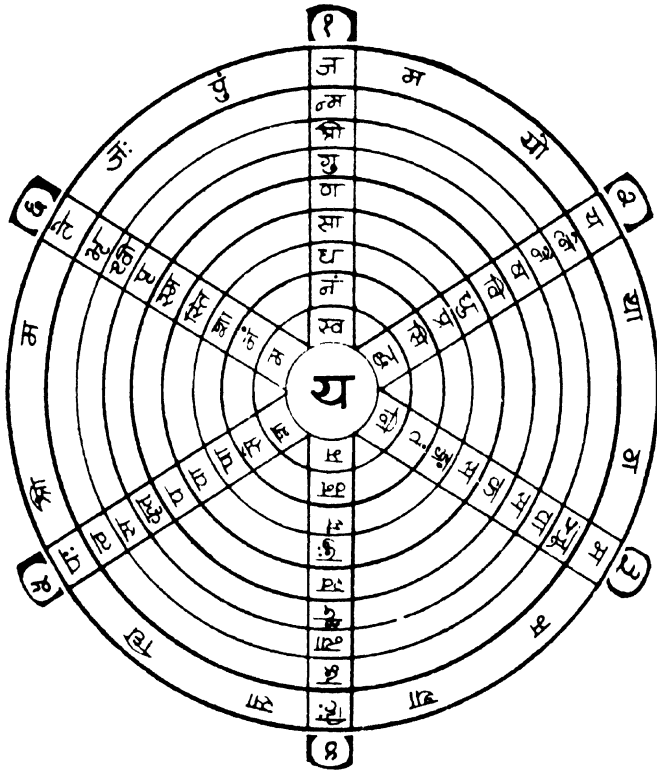
प्रस्तुत चक्रबन्ध के छह आरों के प्रत्येक प्रथम अक्षर तथा छठे अक्षर को पढ़ने पर "जयमहीपतेः साधुसदुपास्ति" वाक्य बनता है। इससे यह संकेतित होता है कि राजा जयकुमार के द्वारा साधु की उपासना की गई है, जो पूरे सर्ग का वर्ण्य विषय है।[1]

उपर्युक्त अनुशीलन दर्शाता है कि जयोदय के कवि ने वस्तु की स्वाभाविक रमणीयता, उत्कृष्टता एवं विशिष्टता, अमूर्त पदार्थों के अतीन्द्रिय स्वरूप, कार्य के औचित्यानौचित्य के स्तर, मनुष्य के चारित्रिक वैशिष्ट्य, मनोभावों की उग्रता, मनोदशाओं की मार्मिकता तथा परिस्थितियों एवं घटनाओं की विकटता का हृदयस्पर्शी अनुभव कराने के लिए अलंकारात्मक अभिव्यंजना शैली का आश्रय लिया है। इससे अभिव्यक्ति को रमणीय एवं प्रभावोत्पादक बनाने में कवि ने पर्याप्त सफलता पायी है। कहीं-कहीं पूर्व कवियों से प्रभावित होकर मात्र वैचित्र्य की उत्पत्ति के लिए, अभिव्यजनागत अभिव्यंजनात्मक महत्व से विहीन अलंकारों का विन्यास किया है। किन्तु इनकी संख्या अल्प है। अधिकांश अलंकार अभिव्यंजनात्मक शक्ति से सम्पन्न हैं और उन्होंने भाषा को काव्यात्मक रूप देने में अद्भुत योगदान किया है।

१. महाकवि ज्ञानसागर के काव्य-एक अध्ययन, पृ० ३३९

षष्ट अध्याय

बिम्ब योजना

बिम्बात्मकता भी काव्य भाषा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण है। यह काव्यशिल्प का आधुनिक सिद्धान्त है, जिसका जन्म पश्चिम में हुआ है। आधुनिक भारतीय काव्यशास्त्र में यह पश्चिम से ही ग्रहण किया गया है। यद्यपि भारतीय काव्य साहित्य बिम्बात्मकता से ओतप्रोत है, तथापि अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भारतीय काव्यशास्त्र में इसका विवेचन नहीं हुआ है। पाश्चात्य काव्यजगत् में बिम्बविधान को काव्य के मूल्यांकन का प्रमुख आधार स्वीकार किया गया है। इसे सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय टी०ई० ह्यूम (T E Hulme) एज़रा पाउण्ड (Ezra Pound) रिचर्ड एलडिंगटन (Richard Eldington) और विशेष रूप से सिसल डे ल्यूइस को है।[1]

काव्यबिम्ब का स्वरूप

अमूर्तभाव की मूर्त अभिव्यक्ति का नाम **बिम्ब** है।[2] जब किसी अमूर्तभाव को मूर्त (इन्द्रिय ग्राह्य) पदार्थ के इन्द्रिय ग्राह्यरूप, गुण या क्रिया द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है तब उस रूप, गुण या क्रिया की शब्दों के द्वारा मन में उभरी छवि **बिम्ब** कहलाती है। शब्दजन्य होने के कारण इसे शब्दचित्र और मन में उत्पन्न होने के कारण मानसचित्र कहते हैं। इस प्रकार अमूर्तभाव का शब्दजन्य मूर्तरूप **बिम्ब** कहलाता है।[3]

बिम्ब इन्द्रियग्राह्य विषयों का ही बन सकता है क्योंकि उन्हीं के पूर्वानुभूतिजन्य संस्कार मन में विद्यमान रहते हैं और उन्हीं संस्कारों के कारण बिम्बनिर्माण होता है। इसलिए,

१ नरेन्द्र मोहन : आधुनिक हिन्दी काव्य में अप्रस्तुत विधान, पृ० ७८

२ डॉ० सुधा सक्सेना : जायसी की बिम्बयोजना, पृष्ठ ६६-६७

3 **(A)** Poetic image is a more or less sensuous picture in words to same degree metaphorical with an undernote of some human emotion in its context but also charged with and releasing into the readers of special poetic emotion or possion. Poetic Image C. D. Lewis Page 22

(B) What do we understand then by image ? In its simplest terms it is picture made out of words. Ibid Page 18

(C) An Image is a word which arouses ideas of sensory perception. The Poetic Pattern. Robin Skelton Page 90

बिम्ब का प्रमुख लक्षण है ऐन्द्रियता अर्थात् इन्द्रियग्राह्य विषयों से सम्बद्ध होना । इस आधार पर बिम्ब पाँच वर्गों में विभक्त होते हैं : चाक्षुष (चक्षुग्राह्य पदार्थ का बिम्ब), श्रव्य (श्रोत्र-ग्राह्य पदार्थ का बिम्ब,) स्वाद्य (जिह्वाग्राह्य पदार्थ का बिम्ब), घ्राण्य (नासिकाग्राह्य पदार्थ का बिम्ब) तथा स्पर्श्य (स्पर्शग्राह्य पदार्थ का बिम्ब)।

बिम्ब निर्माण की रीति

जब अमूर्त पदार्थ की अभिव्यक्ति मूर्त पदार्थ अथवा उसके इन्द्रियग्राह्य रूप, गुण और क्रिया के सादृश्य, आरोप या प्रतीकात्मक प्रयोग द्वारा की जाती है तब बिम्ब की रचना होती है । जब मनोभावों को शारीरिक लक्षणों एवं बाह्य प्रवृत्तियों द्वारा व्यंजित किया जाता है तब भी बिम्बसृजन होता है । मूर्त पदार्थों के रूप, गुण और क्रियाओं के वर्णन से भी भाषा में बिम्बात्मकता आती है । सार यह कि उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, दृष्टान्त, निदर्शना आदि अलंकारों, प्रतीकों, मुहावरों, लोकोक्तियों, लाक्षणिक प्रयोगों, विभाव, अनुभाव और व्यंजित व्यभिचारी भावों तथा मूर्त पदार्थों के इन्द्रिय ग्राह्य स्वरूप के वर्णन से बिम्ब निर्माण होता है ।

बिम्ब का उपस्थापन

कहीं सम्पूर्ण वाक्य (वाक्य के सभी अवयव) बिम्ब का उपस्थापन करता है, कहीं केवल संज्ञा या कोई विशेषण या मात्र कोई क्रिया ही बिम्ब को उपस्थित करने में समर्थ होती है । इन्हें वाक्य बिम्ब, संज्ञा बिम्ब, विशेषण बिम्ब और क्रिया बिम्ब कहा जाता है ।

बिम्ब विधान का अभिव्यंजनागत महत्व

बिम्ब अमूर्तभावों के विशिष्ट स्वरूप को यथावत् सम्प्रेषित करने, उनकी प्रत्यक्षवत् अनुभूति एवं आस्वादन कराने तथा सहृदय के हृदय को विभिन्न भावों, विचारों एवं सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों में डुबा देने के अमोघ साधन हैं। इसलिए आधुनिक काव्यमर्मज्ञों ने बिम्बविधान को काव्यशिल्प का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व माना है ।

अंग्रेजी विश्वकोश में कविता की परिभाषा देते हुए डंटन ने कहा है - "कविता मानव हृदय की चित्रमयी और कलात्मक अभिव्यक्ति है, जो भावनात्मक एवं लयपूर्ण भाषा में प्रकट होती है ।[1]

1 Absolute Poetry is the concrete and artistic expression of the human mind in the emotional and rhythmical language · T W Duntton, Ency brit. Vol 18, Page 106

बिम्बवाद के पिता **ह्यूम** का कथन है कि - "कविता रोजमर्रा की भाषा नहीं है, बल्कि दृश्य अथवा मूर्त भाषा है जो व्यक्ति के सन्मुख अमूर्तवस्तु का मूर्तरूप प्रदर्शित करती है। काव्य में बिम्बविधान मात्र अलंकरण के लिए नहीं होता, वरन् वह कविता का प्राण है।[१] आलोचक **लुइस** का मत है कि बिम्ब ही कवि का मूल प्रतिपाद्य है ।[२] कवि **ड्राइटन** ने भी स्वीकार किया है कि कविता की महानता और जीवन्तता उसकी बिम्ब प्रस्तुत करने की शक्ति में निहित है ।[३]

हिन्दी के कई आलोचकों और कवियों का ध्यान इस ओर गया है । सुप्रसिद्ध आलोचक **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** कहते हैं- "कविता में कही बात चित्र रूप में हमारे सामने आनी चाहिये ।[४] कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का यत्न करती है।[५]

बिम्बात्मक भाषा के लिए "चित्रभाषा" का प्रयोग करते हुए "पल्लव" की भूमिका में **सुमित्रानन्दन पन्त** कहते हैं - "कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हों । सेव की तरह जिसके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हो ।[६]

दिनकर जी भी कहते हैं - "चित्र कविता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण है, प्रत्युत यह कहना चाहिए कि वह कविता का एक मात्र शाश्वत गुण है, जो उससे कभी नहीं छूटता। कविता और कुछ करे या न करे किन्तु चित्रों की रचना अवश्य करती है और जिस कविता के भीतर बनने वाले चित्र जितने ही स्वच्छ यानी विभिन्न इन्द्रियों से स्पष्ट अनुभूतियों के योग्य होते हैं, वह कविता उतनी ही सफल और सुन्दर होती है।[७] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि बिम्ब का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है । समस्त विद्वान् आलोचकों ने बिम्ब को काव्य का मूल तत्त्व और कवि प्रतिभा का एक मात्र परिचायक माना है ।

---

१. स्पेक्युलेशन : टी.ई. ह्यूम, पृ. १३५ (जायसी की बिम्बयोजना, पृ. ३४ से उद्धृत)
२. जायसी की बिम्बयोजना, पृष्ठ ३५ से उद्धृत
३. Imagination is, in itself, the very height and life of poetry Dryden quoted by Lewis, Poetic Image, Page-18
४. चिन्तामणि, भाग-२
५. रसमीमांसा, पृष्ठ ३१०
६. पल्लव/प्रवेश, पृष्ठ -२६
७. चक्रवाल/भूमिका, पृष्ठ ७३

बिम्ब के कार्य

बिम्ब विधान से इन्द्रिय ग्राह्य विषयों की पूर्वानुभूतिजन्य संस्कारों की सहायता से मन में जो प्रतिमा बनती है, उससे सादृश्यादि सम्बन्ध के द्वारा अमूर्तभाव की प्रत्यक्षवत् अनुभूति होती है। बिम्ब अमूर्तभावों की सूचना नहीं देते अपितु प्रतीति कराते हैं। वस्तु सुन्दर है या कुरूप है, ऐसा न कहकर सुन्दरता या कुरूपता के दर्शन कराते हैं। यह प्रत्यक्षवत् अनुभूति सहृदय के हृदय को प्रभावित करती है, उसके मर्म का स्पर्श करती है जिससे उसमें विभिन्न विचार और स्थायिभाव उद्‌बुद्ध होकर उसे भावविभोर एवं रससिक्त कर देते हैं।

अभिव्यक्ति विधा की दृष्टि से बिम्ब तीन प्रकार के होते हैं - सादृश्यात्मक, लाक्षणिक और विभावादिरूप।

उपमादि अलंकार **सादृश्यात्मक बिम्ब** हैं। उनसे विवक्षित अमूर्तभाव का स्वरूप स्पष्ट होता है तथा उसका अतिशय एवं लोकोत्तरता व्यंजित होती है। अन्य वस्तु के लिए अन्य वस्तु के धर्म का प्रयोग जहाँ होता है वहाँ **लाक्षणिक बिम्ब** निर्मित होता है। उसमें विवक्षित अमूर्तभाव के अतिशय, लोकोत्तरता, गहनता और तीक्ष्णता की व्यंजना होती है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव (व्यभिचारी भावजन्य शारीरिक दशायें) **विभावादि रूप बिम्ब है**। इनसे विभावादिगत सौन्दर्यादि एवं रत्यादिभावों का प्रकाशन होता है जिसके प्रभाव से सहृदय का स्थायिभाव उद्‌बुद्ध होकर रसात्मकता को प्राप्त होता है।

इस प्रकार बिम्ब के निम्नलिखित कार्य हैं भावों की गहनता, विकटता, तीक्ष्णता एवं लोकोत्तरता का सम्प्रेषण, विचारों और स्थायी भावों का उद्‌बोधन तथा रसानुभूति। बिम्ब के इन कार्यों पर **डॉ० सुधा सक्सेना** ने निम्नलिखित शब्दों में प्रकाश डाला है -

भावों की साक्षात्कारात्मिका प्रतीति

''आलोचक **ब्लिस पेरी** कविता को बिम्ब और बिम्ब को संवेदना कहता है। उसके अनुसार कविता का कार्य वस्तु का ज्ञान कराना नहीं वरन् उसका ऐन्द्रिय अनुभव कराना है। इस कारण काव्य में इन्द्रियगम्य चित्रों की विशेष उपयोगिता है। उदाहरणार्थ सूर का यह पद्य -

अतिमलिन वृषभानुकुमारी

अधोमुख रहत उरध नहीं देखत चितवति ज्यों गथहारे थकित जुआरी।
छूटे चिउर बदन कुम्हलाने ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ॥

यहाँ "ज्यों गथ हारे थकित जुआरी" यह बिम्ब धर्मसाम्य पर आधारित है और "ज्यों नलिनी हिमकर की मारी" यह रूपसाम्य। पर प्रथम में थकित मन:स्थिति का चित्रण है, द्वितीय में मलिन रूप का। दोनों ही चित्र सूर की राधा को दृश्य बना देते हैं।[1]

"मुख, दु:ख, क्रोध, हास्य सब अमूर्तभाव हैं जो काव्य में बिम्ब द्वारा रूपायित होते है। अमूर्त आनन्द और रुदन को रूपायित करने का जायसी का एक प्रयत्न दृष्टव्य है:

कहा हंससि तूं मोसौं किये औरू सौं नेहु।
तोहि मुख चमकै बीजुरी मोहि मुख बरिसै मेहु॥

- तू अन्य स्त्री से प्रीति करके मुझमे हंसी क्यो करता है ? तेरे मुख पर तो बिजली चमकती है और मेरे मुख पर मेह बरस रहा है। यहाँ प्रसन्नता की व्यजना करने में बिजली चमकने का बिम्ब बड़ा समर्थ बन पड़ा है तथा क्षोभ, अमर्ष एवं दु:ख से रुदन करने की व्यंजना के लिये मेघ बरमने का बिम्ब बड़ा सार्थक है। दोनों ही बिम्ब अमूर्त भावों को मूर्तता प्रदान करने वाले हैं।[2]

काव्य में भाव की अमूर्तता को शब्दों के द्वारा मूर्तित किया जाता है। शब्दों के द्वारा मूर्तित किये गये भाव ही बिम्ब है। इमी रूप में भाव संवेदनीय (अनुभूतिगम्य) बन कर रसमृष्टि करने में समर्थ हो मकता है। बिम्ब भाव की अमूर्तता को दृश्य वर्णनों द्वारा मूर्त बनाकर प्रस्तुत करता है। भाव की प्रतीति उमका नाम लेकर नहीं करायी जा मकती, जैसे किमी फल के स्वरूप और स्वाद का अनुभव उमके नाम का कथन कर नहीं कराया जा मकता। वस्तुत: भाव को काव्य में यदि किमी माध्यम मे प्रकट किया जाता है तो वह व्यजना ही है और व्यंजना बिम्ब के रूप में ही हो मकती है। उदाहरण के लिए रतिभाव को लीजिये। भावरूप में वह हृदय की एक विशिष्ट अनुभूति अथवा विशिष्ट अवस्था है जो काव्य में केवल शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत नही की जा सकती। कवि उसको विभाव, अनुभाव आदि के वर्णन द्वारा व्यंजित करते है। रतिभाव की व्यंजना बिहारी ने इस प्रकार की है -

कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सौं बात॥

१. जायसी की बिम्ब योजना, पृष्ठ ५५-५६
२. जायसी की बिम्ब योजना, पृष्ठ ६६

"यहाँ कहीं भी "रतिभाव है" ऐसा उल्लेख नहीं है। हमें अनुभावों अर्थात् उनके क्रियाकलापों के वर्णन द्वारा रतिभाव की प्रतीति होती है। कहना, खीजना, लजाना, मिलना आदि व्यापार हैं, जो उनकी पारस्परिक रति को प्रकट करते हैं। ये सभी शब्द अपने आप में एक चित्र हैं, जिनसे भाव दृश्य बनकर हमारे सम्मुख आता है और हम रतिभाव की अनुभूति कर सकते हैं। अनुभवगम्यता की क्षमता के कारण ये शब्दचित्र बिम्ब की श्रेणी में आते हैं। स्पष्ट है कि बिम्ब का अवलम्बन लेकर ही भाव अपनी समुचित अभिव्यक्ति प्राप्त करता है।"[१]

"भाव कहीं भी कथ्यरूप में प्रकट नहीं होता। स्वशब्दवाच्यत्व दोष तो काव्यशास्त्र में एक बड़ा दोष माना गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्तामणि' में भावों का विवेचन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि जब तक कवि भावों को अनुभावों के रूप में वर्णित नहीं करता, उसकी अनुभूति हो ही नहीं सकती। "क्रोध है" कहने से क्रोध भाव की अनुभूति हो यह कभी सम्भव नहीं है, उसके लिए अनुभावों अर्थात् बिम्बों का माध्यम ही उचित है।[२]

लोकजीवन में भी भाव की अनुभूति दृश्यमान अवस्था के बिना नहीं होती। करुण भाव की उत्पत्ति करुण दृश्य के बिना नहीं हो सकती, उसके लिए किसी दीन-हीन प्राणी और उसकी विवशताओं का साक्षात्कार होना आवश्यक है। इसी प्रकार हर्ष की उत्पत्ति आनन्द की अनुभवगम्य अवस्था के बिना नहीं हो सकती।

महाकवि कालिदास ने यक्षप्रिया के रूप का जो चित्र निम्न श्लोक में खींचा है उससे यक्षप्रिया का लोकोत्तर सौन्दर्य आँखों के सामने प्रकट हो जाता है -

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां,
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टि राद्येव धातुः॥ [३]

गूढ़ और सूक्ष्म दार्शनिक सत्य भी बिम्बों के द्वारा ही प्रेषणीय बनते हैं। इसी कारण दार्शनिकों की भाषा सदा रूपकात्मक होती है। जायसी ने जीवन और जगत् के शाश्वत सत्यों को लोकजीवन के अत्यन्त परिचित बिम्बों के द्वारा सरलतया अनुभूतिगम्य बनाया है। उदाहरणार्थ -

---

१. जायसी की बिम्ब योजना : डॉ. सुधा सक्सेना, पृष्ठ १३४
२. जायसी की बिम्ब योजना : डॉ. सुधा सक्सेना, पृष्ठ १३४
३. उत्तरमेघ, १९

"मुहम्मद जीवन जल भरन रहँट घटी की रीति ।
घटी सो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति ॥

यहाँ जीवन की अमूर्त निस्सारता एवं क्षणिकता रहँट की क्षण-क्षण भरने और खाली होने वाली घटिया के रूप में मूर्तित हो गई है । उसका क्षण-क्षण भरना और खाली होना जीवन का प्रारंभ होना और समाप्त होना है । जीवन अस्तित्व उतना ही अस्थायी व क्षणिक है, जितना रहँट की घटिया में भरा पानी । इस प्रकार रहँट की घटिया का चित्र जीवन के क्षणिक अस्तित्व और असत्यता को प्रेक्षणीय बना देता है । कबीर ने यही भाव पानी के बुलबुले और प्रभात के तारे के बिम्बों से अभिव्यक्त किया है -

पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात ।
देखत ही छपि जायगा जस तारा परभात ॥[1]

भावातिशय का सम्प्रेषण

बिम्ब केवल कवि के अमूर्त भावों अथवा विचारों को ही मूर्त नहीं करता, वरन् यह कवि के चरमसीमा तक पहुँचे हुए भावों को भी मूर्तित करता है । यह कवि के तीव्रतम हर्ष, विषाद, प्रेम, घृणा, ईर्ष्या आदि की अभिव्यक्ति है । यह भावों की तीव्रता को पूर्ण मुखर बनाता है । "निराला" की "मैं तोड़ती पत्थर" कविता के बिम्बों के द्वारा कवि का उबलता हुआ विद्रोह छलक पड़ा है । इसी प्रकार सुख-दुःख की मार्मिक वेदना को स्पष्ट करने के लिए कवि बिम्बों का आश्रय लेता है ।[2]

कालिदास का यह एक पद्य देखिये -

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै -
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं,
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥

यहाँ शकुन्तला के अस्पृष्ट सौन्दर्य को कवि ने "अनाघ्रातं पुष्पं" आदि जिन बिम्बों के द्वारा मूर्तित किया है वे अत्यन्त मनोहर, मधुर और मोहक हैं । उनसे शकुन्तला के सौन्दर्य की मनोहरता, मधुरता और मोहकता साक्षात् हो जाती है । पाठक को इस अपूर्व सौन्दर्य

१. जायसी की बिम्ब योजना : डॉ. सुधा सक्सेना, पृष्ठ १३९
२. जायसी की बिम्ब योजना, पृष्ठ ६७-६८

का आस्वादन सा हो जाता है, जिससे वह अलौकिक आनन्द में डूब जाता है । इसीप्रकार

यथेक्षुरत्यन्तरसप्रपीडितो भुवि प्रविद्धो दहनाय शुष्यते ।
तथा जरायन्त्रनिपीडिता तनुर्निपीतसारा मरणाय तिष्ठति ॥[१]

यहाँ यन्त्र के द्वारा रस निचोड़ कर जला देने योग्य बनाये गये गन्ने के बिम्ब के जरा द्वारा जीवन शक्ति को निचोड़ कर शरीर को मरण योग्य बना दिये जाने का अमूर्त दार्शनिक सत्य मूर्त बनकर हृदय को छू लेता है और सहृदय के जीवन में अस्थिरता और शरीर की नश्वरता विषयक विचारों की हिलोरें उठने लगती है, निर्वेद जागृत होना है और शान्तरस की अनुभूति होती है । इस प्रकार बिम्बों में भावोद्बोधन की शक्ति होती है ।

रसाभिव्यंजक

दृश्यकाव्य इन्द्रियगोचर होने के कारण रसानुभूति में सहायक होता है । इसी कारण रस को श्रव्य काव्य का भी प्रमुख तत्त्व माना गया है । दृश्यकाव्य में हम वस्तु को अपनी स्थूल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष अनुभूत करते हैं अर्थात् आँख, कान, नाक आदि से देखते, सुनते और सूँघते हैं; परन्तु श्रव्यकाव्य में यह प्रत्यक्षीकरण स्थूल इन्द्रियों से न होकर सूक्ष्म इन्द्रियों से होता है, जिनकी स्थिति पाठक या श्रोता के मन में रहती है ।

"काव्य की भाषा, शक्ति की भाषा (Language of Force) कहलाती है। यह शक्ति, भाषा में बिम्ब से ही आती है । भावों की मार्मिकता के सम्प्रेषण के लिए आवश्यक है कि वे बिम्ब द्वारा कम से कम शब्दों में व्यक्त किये जाये, क्योंकि संक्षिप्तता भाव को तीव्रतर रूप में प्रस्तुत करती है ।[२]

उदाहरणार्थ

उअत सूर जस देखिउ चाँद छपै तेहि धूप ।
औसे सबै जाहि छपि पदुमावति के रूप ॥

यहाँ कवि पद्मावती के रूप की श्रेष्ठता को व्यंजित करना चाहता है । पद्मावती के लिए जायसी के हृदय में एक अपूर्वता (लोकोत्तरता) का भाव है । वह अपूर्व सुन्दरी है और उसके समक्ष संसार के अन्य सौन्दर्य उसी प्रकार फीके पड़ जाते हैं जिस प्रकार उदित होते हुए सूर्य के समक्ष चाँद का सौन्दर्य । इस भाव को कवि "अपूर्व सुन्दरी है" कहकर

---

१. अश्वघोष : सौन्दरनन्द, ९/३१
२. जायसी की बिम्ब योजना : डॉ. सुधा सक्सेना, पृ. ४५

प्रकट नहीं कर सकता था, क्योंकि ऐसा करने पर वह काव्य नहीं, वरन् अकाव्य हो जाता। इस कारण उसके सौन्दर्य की व्यंजना के लिए कवि कल्पना के द्वारा सुन्दर से सुन्दर रूपों को सम्मुख रखता है और उसके सौन्दर्यातिशय को प्रेषणीय बनाता है। यहाँ उदित होते हुए सौन्दर्य के समक्ष चाँद के छिप जाने के बिम्ब द्वारा पाठक पद्मावती के अपूर्व सौन्दर्य की प्रतीति कर सकता है और अन्य रानियों के फीके सौन्दर्य की प्रतीति कर सकता है। इस प्रकार बिम्ब भावों की गहनता के प्रेषक है।[१]

"विरोधात्मक वस्तुओं में भाव तीव्रतर हो जाता है। विरह से असुन्दर और मलिन पद्मावती के लिए काँच के पोत की उपमा दी गई है, जो उसके पूर्व ज्योतितरूप के समक्ष अति क्षुद्र, अति निकृष्ट स्वरूप को उपस्थित करती है और इसप्रकार क्षुद्रता व असुन्दरता को तीव्र बनाकर प्रस्तुत करती है -

"संग ले गयऊ रतन सब जोती, कंचन क्या काँच में पोती।" [२]

इसीप्रकार

"उठे लहर पर्व त की नाई, होई फिरै जोजन लख ताई।
धरती लैत सरग लेहि बाढ़ा, सकल समुन्द जान्हु भा ठाड़ा॥"

यहाँ पर्वत के समान लहरे कहने से संभवतः कवि को सन्तोष नहीं हुआ, इसी कारण वह समुद्र के खड़े हो जाने का रूप प्रस्तुत करता है। इस प्रकार भयंकरता की जो चरम सीमा कवि देना चाहता है, वह अनुभव में आ जाती है।'[३]

कालिदास के निम्न पद्य मे प्रयुक्त बिम्ब भी यक्षप्रिया की वियोगावस्था का उग्ररूप प्रत्यक्ष करते है -

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया -
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णा धरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा -
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥ [४]

भावपरम्परा के व्यंजक

बिम्ब कभी कभी एक साथ अनेक भावो की व्यंजना करते है, अनेक भावरश्मियाँ

---

१. जायसी की बिम्बयोजना, पृ १३७-१३८

२. वही, पृष्ठ २७०-२७१

३. जायसी की बिम्ब योजना पृष्ठ - २७२

४. उत्तरमेघ - २१

उनमें से विकीर्ण होती दिखाई देती हैं जो काव्य के सौन्दर्य को कई गुना अधिक कर देती हैं। "जोवन भर भादों जस गंगा लहरे देइ समाइ न अंगा।" जायसी की इस उक्ति मे साधारण सा उपमान अनेक भावों का व्यंजक है। उन्मत्तता, तरलता, कान्ति, उन्नतता आदि कितनी ही बातों की व्यंजना की बाढ़ आई गंगा से ही हो जाती है। बाढ़ आने पर नदी अपनी सीमा का उल्लंघन कर देती है, यौवन भी सीमाओं के प्रति विद्रोही है और उसके सीमोल्लंघन का भी समाज पर उतना ही बुरा प्रभाव पड़ता है जितना बाढ़ग्रस्त प्रदेशों पर गंगा का। इस प्रकार कितनी ही दृष्टियों से यह उपमान व्यंजक है।[१]

भावोद्बोधक

बिम्ब अमूर्त भावों का हृदयस्पर्शी रूपों के द्वारा साक्षात्कार कराके सहृदय के हृदय को द्रवित कर देते हैं, उसके स्थायिभावों को जगाकर भावविभोर एवं रससिक्त कर देते हैं।

श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत रसात्मकता की अनुभूति कराने में बिम्ब सहायक होता है। यद्यपि रसानुभूति में बिम्ब शब्द का कहीं उल्लेख नहीं है, परन्तु चित्रवत्ता, प्रत्यक्षीकरण आदि की आवश्यकता का साहित्याचार्यों ने अनुभव अवश्य किया है। अभिनव गुप्त ने रसानुभूति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि "सहृदय काव्य का अभ्यास किये हुए है, उसके कुछ प्राक्तन संस्कार हैं तो परिमित भावादि के उन्मीलन द्वारा काव्य के विषय का साक्षात्कार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में सहृदय पूर्वापर सम्बन्ध को समझकर अमुक स्थान पर अमुक के सम्बन्ध में अमुक बात कही गई है या अमुक इसका वक्ता है अथवा अमुक दृश्य उपस्थित किया गया है, आदि प्रसंगों की कल्पना करके रसास्वादन कर सकता है।" गम्भीरतापूर्वक देखा जाये तो अभिनवगुप्त का सारा वक्तव्य काव्य का मानस साक्षात्कार करने से ही सम्बन्ध रखता है। अमूर्त का यह मानस साक्षात्कार बिम्ब का ही व्यापार है। बिम्बरूप में आये भावों को ही हम कल्पना से अनुभूत एवं प्रत्यक्ष कर सकते हैं। कवि के चित्रवत् अथवा बिम्बात्मक वर्णन में ही सहृदय श्रोता या पाठक रसानुभूति कर सकता है। स्पष्ट है कि रस की अभिव्यक्ति का प्रथम व सहज साधन बिम्ब है। बिम्बहीन वर्णन प्रत्यक्षवत्ता और अनुभवगम्यता की क्षमता के अभाव के कारण ही नीरस कहे जाते हैं।[२]

"रस की अभिव्यक्ति का प्रथम साधन बिम्ब है। इसका एक बड़ा पुष्ट कारण और भी है, वह है रस की अरूपरता और अगोचरता। काव्य में भाव या रस की सत्ता आवश्यक

---

१. जायसी की बिम्ब योजना - पृष्ठ २७६

है, परन्तु रस को शब्दों में कहना दोष है। स्वशब्दवाच्यत्व दोष यही है। अब यदि रस या भाव को स्पष्टरूप से वाचक शब्दों से कहना दोष है, तब भाव की अभिव्यक्ति का साधन क्या रह जाता है ? स्पष्ट ही तब भाव की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन बिम्ब अथवा चित्र ही रह जाता है। रूप बिम्ब में वर्णित होने पर ही वर्णन रसात्मक हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस पर **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने **"चिन्तामणि"** में बड़े विस्तार से विचार किया है: 'क्रोध आ रहा है' कहने मात्र से क्रोध की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। उसके लिए बड़बड़ाना, दाँत पीसना, आँखें लाल होना - आदि अनुभावों को लाना होगा, जो बिम्ब के ही रूप हैं। इनके द्वारा शब्द (वाचक) के अभाव में भी क्रोध भाव को हृदयस्थ किया जा सकता है। अर्थात् क्रोधभाव जब शब्दरूप में न आकर शब्द चित्रों के रूप में आये, तभी वह अनुभवगम्य हो सकता है। इस प्रकार भी भाव एवं रस के लिए अभिव्यक्ति का साधन बिम्ब ही प्रतीत होता है।"[१]

"रसानुभूति में बिम्ब की इस अनिवार्यता को सभी जागरूक आलोचकों ने स्वीकार किया है। स्पष्ट स्वीकारोक्ति तो नहीं है, पर उनका अनुभव ऐसा था यह प्रकट हो जाता है। संस्कृत के कवियों ने चित्रों अथवा बिम्बों के प्रयोग बहुलता से किये हैं और कालिदास, बाल्मीकि, बाण आदि ने सुन्दर और श्रेष्ठ चित्र प्रस्तुत किये। परन्तु प्रयोग में आने पर भी आलोचकों के क्षेत्र में बिम्ब अथवा चित्रमय वर्णन की विवेचना का अभाव ही रहा। कुछ ही व्यक्तियों ने इसे उल्लिखित किया। **अभिनव गुप्त** के **आचार्य भट्टतौत** ने श्रव्य काव्य में प्रत्यक्षवत्ता के गुण को बड़ा आवश्यक माना है और बड़े स्पष्ट शब्दों में उसे उपस्थित किया है। उन्होंने कहा है कि कुशल कवि अपने वर्णन के माध्यम से सहृदय के सम्मुख मानों चित्र ही उपस्थित करता है। अतएव नाट्य की सी चित्रमयता न होने पर काव्य में रसोद्बोध कभी संभव नहीं हो सकता - 'प्रयोगत्वमनापन्ने काव्येनास्वादसम्भवः'। इसप्रकार उन्होंने रस के सन्दर्भ में चित्रों एवं बिम्बों की महत्ता स्वीकार की है।"[२]

आधुनिक आलोचकों ने भी चित्र धर्म को भाषा का प्रमुख धर्म स्वीकार किया है। **आचार्य शुक्ल** की मान्यतायें इस विषय में बड़ी स्पष्ट हैं। उन्होंने कहा है : काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर, और मूर्त विषय का ही हो सकता है (रस मीमांसा, पृष्ठ - १६७)। शुक्लजी बिम्बात्मक वर्णन के बड़े समर्थक हैं।

---

१. जायसी की बिम्ब योजना : पृ० १४९
२. वही. पृष्ठ १४९

यही नहीं, चित्रात्मक वर्णन के रूप में वह कवि कर्म की इतिश्री मान लेते है। यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं या व्यापारों को अपने शब्द चित्र द्वारा सामने रख दिया जिनमे श्रोता या पाठक के भाव जागृत होते हैं तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका, यह शुक्लजी की मान्यता है। (वही, पृ० १५५) एक अन्य स्थान पर उन्होंने फिर कहा है कि "जो वस्तु मनुष्यों का आलम्बन या विषय होती है उसका शब्द चित्र किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका (वही, पृ० १२१)।[१] इससे स्पष्ट है कि रसानुभूति कराने में बिम्ब का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

विभावादि की बिम्बात्मकता

"जहाँ कवि केवल आलम्बन का वर्णन करता है, वहाँ बिम्ब अवश्य विद्यमान रहता है। कोई रूपक, कोई उपमान, कोई विशेषण वहाँ ऐसा अवश्य रहता है जो वस्तु को चित्रवत् प्रत्यक्ष कर देता है।[२] जैसे "तन्वी श्यामा शिखरिदशना" इत्यादि श्लोक में विशेषणों के माध्यम से यक्षप्रिया (आलम्बन विभाव) का रूप चित्रवत् प्रत्यक्ष हो जाता है।" प्रकृति का आलम्बन के रूप में वर्णन भी सदैव बिम्बात्मक होता है। वहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों रूपों में बिम्ब रह सकता है।"[३] उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत मुख्यतः देश काल व आलम्बन की चेष्टायें आती हैं। उद्दीपन वर्णन अधिकांशतः बिम्बात्मक होता है। उसके अन्तर्गत रूप, रस, गन्ध आदि के अनेक सुन्दर उद्दीपन चित्र उपस्थित रहते हैं जो भावों का उत्कर्ष करने वाले तो होते ही हैं, चित्रधर्म से भी युक्त रहते हैं।[४] "अनुभाव स्थायि भावों के शरीर और चेष्टाओं में व्यक्त होने वाले बाह्यरूप हैं इसलिए वे सदैव बिम्बात्मक होते हैं।[५] व्यभिचारी भाव जब शारीरिक दशाओं द्वारा व्यक्त होते हैं तब वे भी मूर्त हो जाते हैं।"[६] शुक्ल जी ने बिम्ब को रससामग्री में अनुभव किया था इसीलिये उन्होंने स्पष्ट लिखा है - "विभाव और अनुभाव दोनों में रूपविधान होता है जिसका कल्पना द्वारा स्पष्टग्रहण

---

१. जायसी की बिम्ब योजना : पृष्ठ १४९
२. वही, पृष्ठ १५३
३. वही, पृष्ठ १५३
४. वही, पृष्ठ १५५
५. वही, पृष्ठ १५५
६. वही, पृ० १५७

उसी प्रकार वांछित होता है जिस प्रकार नेत्र द्वारा चित्र का।" (रस मीमांसा - पृ ३२६)[१]

निष्कर्ष यह कि जैसे यथार्थ जीवन में किसी प्रेमी को अपनी प्रेमिका की अनुरागमय मुख-मुद्राओं, हाव-भावों को देखकर रतिभावों के उद्‌बोध से आनन्द की अनुभूति होती है वैसे ही काव्य में भी साधारणीभूत प्रेमी-प्रेमिका की अनुरागपूर्ण मुख मुद्राओं, हाव-भावों का वर्णन पढ़कर सहृदय को रतिभाव के उद्‌बोध से आनन्दानुभूति होती है, जिसे शृंगाररस कहते हैं। यह आनन्दानुभूति प्रेमी-प्रेमिका के रत्यात्मक हाव-भावों और उन चेष्टाओं का वर्णन पढ़ने से ही होती है न कि रतिभाव के बोध से, क्योंकि यदि कवि उनके रत्यात्मक हाव-भावों का वर्णन न कर सीधे यह कहे कि "उस प्रेमी युगल में अनुराग है" तो आनन्दानुभूति नहीं होगी। इससे सिद्ध है कि रत्यात्मक क्रिया-कलापों का चित्रण अर्थात् बिम्बविधान ही शृंगाररस की अनुभूति का हेतु है। निष्कर्ष यह कि बिम्ब रस की अभिव्यक्ति का प्रथम व सहज साधन है।

अलंकाराश्रित बिम्ब

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान्, दृष्टान्त, निदर्शना आदि अलंकारों से सुन्दर बिम्बों की रचना होती है। सांगरूपक बिम्ब की दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त है। समस्त अंगों का रूपण होने के कारण समग्रता का समावेश इसमें सहज ही हो जाता है, जो बिम्ब के लिए आवश्यक है। उत्प्रेक्षा में प्रायः सुन्दर बिम्ब योजना होती है। सभी कवियों ने उत्प्रेक्षा के रूप में सुन्दर बिम्बों का सर्जन किया है।[२] निम्न श्लोक में अन्धकार की प्रगाढ़ता व्यंजित करने वाले दो श्रेष्ठ बिम्बों का विधान हुआ है :

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥[३]

मुहावराश्रित बिम्ब

मुहावरे भी बिम्बात्मक होते हैं। उदाहरणार्थ -

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥[४]

---

१. जायसी की बिम्ब योजना, पृ० १५७
२. वही, पृ० १२६-१२९
३. मृच्छकटिक १/३४
४. रघुवंश १/

इसमें अल्पमति से सूर्यवंश का वर्णन करने की दुष्करता "डोंगी से समुद्र पार करने" के मुहावरे से निर्मित बिम्ब द्वारा अत्यन्त सरलतया प्रकाशित हुई है। इसी प्रकार -

राजसेवा मनुष्याणामसिधारावलेहनम्।
पञ्चाननपरिष्वङ्गो व्यालीवदनचुम्बनम्॥

यहाँ तलवार की धार चाटना, सिंह का आलिंगन करना तथा साँप का मुँह चूमना; ये तीन बिम्ब जो मुहावरों के रूप में है, राजसेवा की संकटास्पदता को अत्यन्त सफलता पूर्वक व्यंजित करते हैं।

लोकोक्तिजन्य बिम्ब

"**अतिनिमर्षनाद् वह्निश्चन्दनादपि जायते**" इस लोकोक्ति में चन्दन के अत्यन्त घिसे जाने और उससे अग्नि उत्पन्न होने के चित्र द्वारा यह सिद्धान्त व्यंजित होता है कि यदि क्षमावान् अत्यन्त तेजस्वी व्यक्ति के साथ अत्यन्त कठोरता का व्यवहार किया जाये तो वह भी उग्र हो उठता है।

"**द्युतिं सै हीं न श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते**" इस लोकोक्ति द्वारा स्वर्ण की माला धारण किये हुए कुत्ते में सिंह की द्युति के अभाव का जो चित्र खिंचता है, उससे यह सिद्धान्त सरलतया हृदयंगम होता है कि गुणहीन व्यक्ति धन के द्वारा गुणों से उत्पन्न होने वाली स्वाभाविक शोभा को प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रतीकाश्रित बिम्ब

"**तमसो मा ज्योतिर्गमय**" यहाँ अन्धकार और प्रकाश के प्रतीकात्मक बिम्बों द्वारा अज्ञान और ज्ञान की, उसके सम्पूर्ण कुपरिणामों और सुपरिणामों सहित मार्मिक व्यंजना होती है।

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदो पिक काकयोः।
प्राप्ते तु बसन्तसमये काकः काकः पिकः पिकः॥

यहाँ कौआ गुणहीन व्यक्ति का प्रतीक है, कोयल गुणवान् व्यक्ति का और बसन्त-समय गुणी व्यक्ति के लिये अपनी योग्यता प्रकट करने के उचित अवसर का। इन कौआ, कोयल और बसन्त समय के प्रतीकों द्वारा जो बिम्ब निर्मित होता है उससे यह सत्य प्रकाशित होता है कि ऊपर से गुणहीन और गुणवान् व्यक्तियों में भेद प्रतीत नहीं होता, किन्तु गुणों

के प्रकाशन का जब अवसर आता है तब उनके गुणात्मक भेद का पता चल जाता है।

लाक्षणिक प्रयोगाश्रित बिम्ब

"**हस्तापचेयं यशः**" (हाथ से बटोरने योग्य यश) यहाँ अमूर्त यश के साथ मूर्त पदार्थ के धर्म "अपचेयम्" का प्रयोग लाक्षणिक प्रयोग है। इस क्रिया से जो बिम्ब निर्मित होता है उससे यश की प्रचुरता का अनुभव शीघ्रता से होता है।

"**निष्कारणं निकारकणिकापि मनस्विनां मानसमायासति**" [बिना किसी कारण अपमान का कण भी स्वाभिमानियों के हृदय को पीड़ित करता है।]

यहाँ अमूर्त उपमान के साथ मूर्त पदार्थ के अल्पता के वाचक "कण" शब्द का प्रयोग हुआ है जो लाक्षणिक है। इससे निर्मित अल्पता के बिम्ब द्वारा अपमान के अत्यल्प अंश की सुस्पष्टतया प्रतीति हो जाती है।

"**किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्**" इस उक्ति में जिह्वा इन्द्रिय के विषयभूत माधुर्य के वाचक मधुर शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है क्योंकि वह किसी खाद्य पदार्थ का विशेषण न होकर आकृतियों का विशेषण है। इस जिह्वा इन्द्रिय की अनुभूति के विषयभूत मधुर शब्द से माधुर्य का जो बिम्ब मन में निर्मित होता है, उससे आकृतियों की माधुर्यवत् प्रियता या आह्लादकता बड़ी सहजता से अनुभूतिगम्य हो जाती है।

"**कालविप्रुष्**" (समय की बूंद) यहाँ "विप्रुष्" लाक्षणिक शब्द है और मूर्त पदार्थ जल की अल्पता का वाचक है। इससे निर्मित अल्पता के बिम्ब द्वारा समय के अत्यल्प अंश की सरलतया प्रतीति होती है।

"**गअणं च मत्तमेहं**[1] (गगन में मत्तमेघ है) यहाँ मनुष्य के विशेषण भूत "मत्त" शब्द से निर्मित मेघों के अनियन्त्रित रूप से निष्प्रयोजन इधर उधर भटकने की प्रतीति कराता है।

बिम्ब के आश्रयभूत भाषिक अवयव

बिम्ब का निर्माण कहीं पूरे वाक्य से ही होता है, कहीं केवल संज्ञा-विशेषण, क्रिया या क्रिया-विशेषण मात्र से हो जाता है। सांगरूपक, उत्प्रेक्षा, निदर्शना, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा,

---

१. **ध्वन्यालोक**, २/१, पृष्ठ १८१

मुहावरे, लोकोक्ति आदि में पूरे वाक्य मे बिम्ब की रचना होती है । यथा -

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

प्रस्तुत निदर्शना में "डोंगी मे सागर पार करना चाहता हूँ" इस पूरे वाक्य मे अर्थात् डोंगी और सागर संज्ञाओं तथा "पार करना" क्रिया के समन्वय से बिम्ब की रचना होती है । इसी प्रकार –

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥[1]

इस उत्प्रेक्षा में "अङ्गानि लिम्पति इव" तथा "अञ्जनं वर्षति इव" इन दो वाक्यों से दो बिम्बों का सृजन हुआ है ।

संज्ञाश्रित बिम्ब

संज्ञा से बिम्ब वहीं निर्मित होता है जहाँ वह प्रतीक रूप में प्रयुक्त होती है । जैसे "तमसो मा ज्योतिर्गमय" यहां तमस् (अन्धकार) और "ज्योति" (प्रकाश) संज्ञाएं चाक्षुष चेतना को प्रभावित करने वाले बिम्ब निर्मित कर अज्ञान और ज्ञान की सफलतापूर्वक प्रतीति कराती हैं । इसी प्रकार –

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि स निशा पश्यतो मुनेः॥[2]

गीता के इस श्लोक में "निशा" प्रतीकात्मक संज्ञा है जो चाक्षुष अनुभूति को उद्बुद्ध करने वाला बिम्ब निर्मित करती है, जिससे "अज्ञान" अमूर्ततत्व का मानस प्रत्यक्ष होता है ।

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति ।
अन्धकारेण ओनद्धा दीपं किं न गवेसथ ॥[3]

प्रस्तुत गाथा में "अन्धकारेण ओनद्धा" यह संज्ञा तथा क्रिया का समूह एक बिम्ब निर्मित करता है तथा प्रतीक रूप में प्रयुक्त "दीप" (ज्ञान) संज्ञा से दूसरा बिम्ब आकार ग्रहण करता है ।

---

१. मृच्छकटिक, १/३४
२. श्रीमद्भगवद्गीता
३. धम्मपद

विशेषणाश्रित बिम्ब

निम्नलिखित उदाहरणों में विशेषणों से बिम्बों की सृष्टि हुई है

सुवर्णपुष्पां पृथ्वीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतिविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ।।[१]

यहाँ "सुवर्णपुष्पा" यह विशेषण लक्षणा द्वारा पृथ्वी की सुलभसमृद्धिसम्भारभाजनता का बिम्ब निर्मित करता है । इसी प्रकार –

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लदबलाकाघना[२]

प्रस्तुत श्लोक में "स्निग्ध और श्यामल" विशेषण मेघो की चिकनी और काली कान्ति के स्पर्श चेतना एवं चाक्षुष चेतना को जगाने वाले बिम्ब निर्मित करते हैं जिनमे मेघों का चिकना काला स्वरूप मन में प्रत्यक्ष सा उपस्थित हो जाता है ।

क्रियाश्रित बिम्ब

बिम्ब रचना में क्रिया का बड़ा महत्व है । क्रिया का लाक्षणिक प्रयोग करने पर बिम्ब निर्मित होता है । जैसे –

उठे लहरि पर्वत की नाईं, होई फिरै जोजन लख ताई ।
धरती लेत सरग तेहि बाढ़ा, सकल समुन्द जान हुआ ठाढ़ा ।।

यहाँ "ठाढ़ा" क्रिया से निर्मित बिम्ब समुद्र के भीषण ज्वार का साक्षात्कार करा देता है ।[३]

"तरन्तीवाङ्गानि स्खलदमललावण्यजलधौ ।"[४]

प्रस्तुत पद्यांश में "तरन्ति" क्रिया से जल मे तैरने वाले व्यक्ति का जो चित्र निर्मित होता है उससे प्रस्तुत तरुणी के अंगो की तारुण्यजनित चंचलता मन में साकार हो उठती है ।

"कृतेन्दुवदना तनो तरुणिमोद्गमो मोदते ।"[५]

अहा, इस चन्द्रवदना के तन में तारुण्य का आविर्भाव किलोल कर रहा है ।

---

१ ध्वन्यालोक १/१९ पर उद्धृत
२. वही, २/१ पर उद्धृत
३. जायसी की बिम्बयोजना - पृष्ठ ८०
४. वक्रोक्तिजीवित २/२४, पृष्ठ २५० पर उद्धृत
५. काव्यप्रकाश २/१३ पृ० ६८ पर उद्धृत

यहाँ "मोटने" क्रिया में प्रसन्न होने पर मुख के सुशोभित हो उठने का जो बिम्ब निर्मित होता है उससे तारुण्य के आविर्भूत होने पर तरुणी के तन में आई रमणीयता का मानस प्रत्यक्ष हो जाता है।

इसी प्रकार -

"**उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि**"[1] में "उपदिशति" क्रिया से गुरु द्वारा शिक्षा दिये जाने का चित्र निर्मित होता है उससे यौवन का असर आने पर कामिनियों में अपने आप विलासों के आविर्भूत हो जाने का स्वाभाविक नियम हृदयंगत होता है।

क्रियाविशेषणाश्रित बिम्ब

"**मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां।**"[2]

प्रस्तुत पद्यांश में "मन्दं मन्दं" क्रियाविशेषण "नुदति" क्रिया के स्वरूप का चित्र उपस्थित कर देता है।

संवेदनापरक बिम्ब

बिम्बों की तीन प्रमुख विशेषतायें है : ऐन्द्रियता (इन्द्रिय ग्राह्य विषय पर आश्रित होना), चित्रात्मकता और व्यंजकता। यहाँ ऐन्द्रियत्व या संवेदनात्मकता के आधार पर बिम्बों के उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहे है। जैसा कि पूर्व में निर्देश किया गया है संवेदना के आधार पर बिम्ब की पाँच कोटियाँ हैं : दृष्टिपरक, स्पर्शपरक, घ्राणपरक, श्रवणपरक एवं स्वादपरक।

"**स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लदबलाकाघनाः।**"

इस पूर्वोद्धृत उदाहरण में "स्निग्ध" और "श्यामल" विशेषणों से क्रमशः स्पर्शपरक एवं दृष्टिपरक बिम्ब निर्मित होते हैं।

"**अथ गीतावसाने मूकीभूतवीणा प्रशान्तमधुकररुतेव कुमुदिनी**"[3]

(गीत समाप्त होने पर वीणा मूक हो गई जैसे कुमुदिनी पर भौरों का गुंजन शान्त हो गया हो) यहाँ "प्रशान्तमधुकररुता" विशेषण से कुमुदिनी के श्रवणपरक बिम्ब की सृष्टि होती है।

---

१. काव्यप्रकाश २/१३, पृ० ६८ पर उद्धृत
२. पूर्वमेघ ९
३. कादम्बरी - महाश्वेतावृत्तान्त, पृष्ठ २२

श्लथ श्वास निरन्तर झर झर झर
नीरवता में मृदु मृदु मर्मर
है काल विहग उड़ता फर फर।[1]

इन पंक्तियों में "झर झर झर", "मर्मर" एवं "फर फर" क्रिया विशेषण हमारी "नाद चेतना" का स्पर्श करने वाले (श्रवण परक) बिम्बों के निर्माता है।

"सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्यमालं"[2]

यहाँ "सद्यः सीरोत्कषणसुरभि" विशेषण माल क्षेत्र का घ्राण चेतना जगाने वाला बिम्ब प्रस्तुत करता है।

"त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ता"[3]

इस उक्ति में "परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः" विशेषण से दशार्ण देश का स्वादपरक बिम्ब निर्मित होता है।

"वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः[4]

प्रस्तुत पद्यांश में "मधुरं" क्रिया विशेषण "नदति" क्रिया का श्रवणपरक बिम्ब उपस्थित करता है।

"सोत्कम्पानि प्रियसहचरी सम्भ्रमालिंगितानि"

यहाँ "सोत्कम्पानि" विशेषण से प्रिय सहचरियों के सम्भ्रमपूर्वक किये गये आलिंगनों का स्पर्शपरक बिम्ब अनुभूतिगम्य होता है।

"ताम्बूलीनद्ध"[5] इत्यादि पद में "कुहकुहाराव" शब्द से श्रोतपरक बिम्ब निर्मित होता है।

बिम्ब और अलंकारादि में अन्तर

उपमादि अलंकार बिम्ब के सर्जक है, अतः उनमें सादृश्य विधान एवं बिम्ब सर्जना दोनों ही गुण रहते हैं। किन्तु सादृश्य विधान की दृष्टि से उनमें लंकारात्मकता होती है और बिम्ब विधान की दृष्टि से बिम्बात्मकता का सद्भाव होता है। इसी प्रकार लाक्षणिक प्रयोगों से भी बिम्ब निर्मित होते हैं। वहाँ लाक्षणिकता के कारण वे लाक्षणिक प्रयोग हैं

---

१. मेधावी : रांगेय राघव, पृष्ठ ४२
२. पूर्वमेघ, १६
३. वही, २३
४. पूर्वमेघ, ९
५. वक्रोक्तिजीवित, २/१०

और बिम्ब विधान के कारण बिम्ब के आश्रय भी हैं । इसी तरह मुहावरे, लोकोक्तियों आदि में भी दोनों प्रकार के अन्तर विद्यमान रहते हैं ।

जयोदय में / व विधान

जयोदय की भाषा बिम्बात्मकता से मण्डित है । अतः बिम्ब विधान से भाषा में जो प्रत्यक्षानुभूतिवत् सम्प्रेषणीयता आती है, वह जयोदय की भाषा में विद्यमान है । प्रस्तुत काव्य में प्रयुक्त बिम्बों का वर्गीकरण निम्न दृष्टियों से किया जा सकता है : ऐन्द्रिय संवेदना, अभिव्यक्तिविधा (अलंकार, लाक्षणिक प्रयोग, विभावादि), बिम्बाश्रयभूत भाषिक अवयव (वाक्य, संज्ञा, विशेषण, क्रिया), बिम्ब सर्जक पदार्थों का क्षेत्र –

(१) प्रकृति : जल, आकाश, पर्वत, जीवजन्तु आदि

(२) जीवन, समाज एवं संस्कृति[1] तथा रस

यहाँ विस्तारभय से केवल प्रथम तीन दृष्टियों से वर्गीकरण कर जयोदय के बिम्ब विधान का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

ऐन्द्रिय संवेदनाश्रित वर्गीकरण

संवेदना के आधार पर बिम्बों के पाँच भेद होते हैं : दृष्टिपरक, स्पर्शपरक, घ्राणपरक, श्रवणपरक एवं स्वादपरक । कवि ने जयोदय में घ्राणपरक बिम्ब को छोड़कर सभी प्रकार के बिम्बों की योजना की है ।

दृष्टिपरक बिम्ब

काव्यात्मक बिम्बों में सबसे अधिक संख्या दृष्टिपरक बिम्बों की होती है । जीवन में भी संभवतः नेत्रों का व्यापार ही प्रधान रहता है । इसी कारण दृष्टिपरक बिम्ब काव्य में सर्वाधिक प्रयुक्त होते हैं। जयोदय में भी चाक्षुष बिम्बों की संख्या सर्वाधिक है । उसका अधिकांश दृश्यवर्णनों से परिपूर्ण है । ज्ञानसागर जी के बिम्बों में समग्रता का गुण विद्यमान है । वर्ण्य वस्तु के प्रत्येक अंग की प्रतीति कराने वाले बिम्बों की उन्होंने सर्जना की है । निम्न पद्य समवशरण की रचना, वहाँ के वातावरण की निर्मलता, रत्नों की प्रभा आदि का समग्र चित्र दृष्टि में उतार देता है –

परिधौतमिवाम्बरं शुचि हरितां तीर्थसबोऽभवा रुचिः ।
धरणीतलमब्दनिर्मलं जगतां सम्मदसृष्टये बलम् ॥२६/४६ ॥

---

१. जायसी की बिम्ब योजना, पृ० १७५-२०८

मणिसङ्गिसंविभालतस्त्ववधूतो नवधूलिशालतः ।
नयनारिरगादभावतां न निशावासरयोर्मिदोऽत्र ताः ॥२६/४८

प्रस्तुत पद्य में कवि ने सार्ध चन्द्रमा की उपमा द्वारा नायक के मुखमण्डल की शोभा को नेत्रों का विषय बना दिया है :

भालेन सार्धं लसता सदास्य मेतस्य तस्यैव समेत्य दास्यम् ।
सिन्धोः शिशुः पश्यतु पूर्णिमास्यं चन्द्रोऽधिगन्तुं मुहुरेव भाव्यम् ॥ १/५५

चमकते हुए ललाट वाले राजा जयकुमार का मुख डेढ़ चन्द्रमा के समान सुन्दर था। अतः समुद्र का पुत्र चन्द्रमा उसके मुख के रूप सौन्दर्य की समानता पाने के लिए बार-बार पूर्णिमा को प्राप्त होता था फिर भी उसके समान कान्ति नहीं कर पाता था ।

सर्वतोभद्र स्वयंवर मण्डप की रचना के वर्णन मे स्तम्भ, कलश, मुकुर, झालर, ध्वजा आदि का चित्रण कर कवि ने मण्डप का समग्र चित्र नेत्रो के समक्ष उपस्थित कर दिया है –

कलत्रं हि सुवर्णोरुस्तम्भं कामिजनाश्रयम् ।
मण्डपं सुतरामुच्चैस्तनकुम्भविराजितम् ॥३/७२
मुकुरादिसमाधारं मौक्तिकादिसमन्वितम् ।
नवविद्रुमभूयिष्ठमुद्यानमिव मञ्जुलम् ॥३/७५

-- यह मण्डप स्वर्ण के परिपुष्ट खम्भों से युक्त है, ऊपरी भाग मंगल-कलशों से सुशोभित है, यह सर्वथा कामिजनों के आश्रय के योग्य है, परिणेया युवती जैसा लग रहा है । जैसे उपवन कलियो से युक्त, मोतिया आदि पुष्पी पौधो एवं नयी कोपलों से सुशोभित होता है; उसी प्रकार यह मण्डप सर्वत्र मुकुर, मोती एवं मूंगों की झालर से शोभायमान है ।

"रक्तनेत्र" विशेषण द्वारा उपस्थापित बिम्ब से अर्ककीर्ति की क्रोधोत्तप्त दशा का साक्षात्कार हो जाता है –

कल्यां समाकलय्योग्रामेनां भरतनन्दनः ।
रक्तनेत्रो जवादेव बभूव क्षीबतां गतः । ।७/१७

-- भरत चक्रवर्ती का पुत्र अर्ककीर्ति, दुर्मर्षण की उग्र वाणी रूप तेज मदिरा का पानकर शीघ्र ही मदमस्त होता हुआ लाल-लाल नेत्रों वाला बन गया ।

कवि ने गिरगिट के समान रंग बदलने की उपमा द्वारा स्वयंवर में उपस्थित राजकुमारों की क्षण-क्षण परिवर्तमान भाव दशा का सुन्दर द्योतन किया है :

रूपयौवनगुणादिकमन्यैः स्वंजनोऽत्र तुल्यन्निह धन्यैः ।

रक्तिमेतरमुखं सरटोक्तं नैकरूपमयते स्म तथोक्तम् ॥५/१३

-- वहां प्रत्येक राजकुमार अपने रूप यौवन और गुणादि की तुलना अन्य राजकुमारों से करते हुए गिरगिट के समान लाल-पीले रंग बदल रहा था ।

प्रस्तुत पद्य में सुवर्णमूर्ति रूपक द्वारा सुलोचना की देहच्छवि प्रत्यक्ष सी कर दी गई है :

सुवर्णमूर्तिः प्रागेव यौवनेनाधुनाऽञ्चिता ।

अद्भुतां लभते शोभां सिन्दूरेणेव संस्कृता ॥३/५१

-- सुलोचना प्रारम्भ से ही स्वर्ण (अच्छी शोभा वाली) मूर्ति है । वह इस समय युवावस्था में सिन्दूर से सुसंस्कृत होकर अपूर्व शोभा धारण कर रही है ।

शोक से पीला पड़ने की उत्प्रेक्षा द्वारा निर्मित यह चित्र चन्द्रमा की प्रातःकालीन निष्प्रभता का सफल व्यंजक है --

यन्मीलितं सपदि कैरविणीभिराभिः,

क्षीणा क्षपास्तमितमप्युत तारकाभिः।

संचिन्तयन् दयितदारतयेन्दु देवः,

प्राप्नोति पाण्डुवपुरित्यथवा शुचेव ॥१८/२१

-- चन्द्रमा की तीन स्त्रियाँ थीं - कुमुदिनी, रात्रि और तारा । इनमें से इस समय कुमुदिनी मूर्च्छित हो गई है, रात्रि नष्ट हो गई है तथा तारा अस्तमित हो गई । अतएव मानों स्त्री-प्रेमी चन्द्रमा अपनी स्त्रियों के विषय मे चिन्तित होता हुआ शोक से ही पाण्डुता को प्राप्त हो रहा है ।

निम्न श्लोक में दुर्वर्ण और सुवर्ण विशेषणों से मुख का जो बिम्ब निर्मित किया गया है उससे काव्यरस के प्रति दुर्जन और सज्जन की प्रतिक्रिया सहजतया हृदयंगम हो जाती है :

अहो काव्यरसः श्रीमान्यदस्य पृषता व्रजेत् ।

दुर्वर्णतां दुर्जनस्य मुखं साधोः सुवर्णताम् ॥ २८/७४

-- आश्चर्य है कि काव्यरस के अंश मात्र से ही सज्जन का मुख प्रसन्न होता है (अर्थात् आनन्ददायक होता है) और दुर्जन का मुख ईर्ष्या भाव के कारण पीला हो जाता है ।

स्पर्शपरक बिम्ब

जयोदय में स्पर्शपरक बिम्बों की संख्या अत्यल्प है। कवि ने कठोर वचनों की पीड़ाकारकना को अंगारे के स्पर्शपरक बिम्ब द्वारा सफलतया प्रतीत कराया है :

दहनस्य प्रयोगेण तस्येत्थं दारुणेङ्गितः।

दग्धश्चक्रिसुतो व्यक्ता अङ्गारा हि ततो गिरः ॥७/१८

-- दुर्मर्षण की गिग रूप अग्नि के प्रयोग से चक्रवर्ती का दुष्ट पुत्र अर्ककीर्ति काष्ठ के ममान धधक उठा। उमके मुख मे अंगार के समान वचन निकलने लगे।

सुन्दरी सुलोचना के केशों की सुकोमलता व्यंजित करने के लिए कवि ने नवनीत के उपमान द्वारा अत्यन्त प्रभावशाली स्पर्शबिम्ब निर्मित किया है :

काला हि बालाः खलु कज्जलस्य रूपे स्वरूपे गतिमज्जलस्य।

स्पर्शे मृदुत्वादुत मृक्षणस्य तुल्या स्मरारेर्गललक्षणस्य ॥११/६९

-- सुलोचना के काले केश रंग में काजल के समान हैं, स्वरूप में बहते पानी के ममान हैं, स्पर्श में नवनीतसम हैं तथा दृष्टि को सुख देने में कामारि शंकर के गले के नीले रंग के ममान है।

स्वादपरक बिम्ब

कवि ने कुछ स्थलों पर उपमाओं और विशेषणों द्वारा स्वादपरक बिम्ब उपस्थित कर मानव मनोभावों और वस्तुओं के वैशिष्ट्य को व्यंजित किया है -

सुलोचना को अर्ककीर्ति की प्रशंसा ऐसी लगी जैसे आक का कड़वा पत्ता :

इत्येकमर्ककीर्तेः पल्लवमतिहल्लवं स्म जानाति।

स्मरचापसन्निभभ्रूः कटुकं परमर्कदलजातिः॥ ६/१८

कवि को पूजन में प्रयुक्त अष्ट मंगलद्रव्य गुड़ के समान मधुर प्रतीत होते हैं :

परमेष्ठिर सेष्टितत्पराणीति सतां श्रीरसतारतम्यफाणिः।

किल सन्ति लसन्ति मङ्गलानि सुतरां स्वस्तिकमञ्जुवाङ्मुखानि ॥ १२/७

निम्न श्लोक में कवि ने मधुर विशेषण द्वारा वचनों की कर्णप्रियता को मूर्तित किया है :

अभिमुखयन्ती सुदृशं ततान सा भारतीं रतीन्द्रवरे।

वसुधासुधानिधाने मधुरां पदबन्धुरां तु नरे॥ ६/५० ॥

श्रवणपरक बिम्ब

जयोदय में श्रवणपरक बिम्बों का प्रयोग भी सीमित है। कवि ने घन, तत, सुषिर, आनद्ध, भेरी, वीणा, झाँझ, हुडुक, नगाड़े आदि वाद्य ध्वनियों का उल्लेख किया है। निम्न श्लोक पढ़ते ही "ढक्काढक्कारपूरित" शब्द के नगाड़े की ध्वनि का बिम्ब मन में साकार हो उठता है :

उपांशुपांसुले व्योम्नि ढक्काढक्कारपूरिते।
बलाहकबलाधानान्मयूरा मदमाययुः ॥ ३/१११ ॥

-- उस समय उड़ी हुई धूल से व्याप्त आकाश जब ढक्का (नगाड़े) की ढक्कार मे परिपूरित हो गया तो मेघ गर्जन के भ्रम से मयूर मतवाले हो उठे।

कवि ने "जगर्ज" शब्द के प्रयोग द्वारा योद्धा की गर्जना को मूर्तित करने का प्रयत्न किया है :

दृढप्रहारः प्रतिपद्य मूर्च्छामिभस्य हस्ताम्बुकणा अतुच्छाः
जगर्ज कश्चित्त्वनुबद्धवैरः सिक्तः समुत्थाय तकैः सवैरः ॥ ८/२६॥

-- तीव्र प्रहार मे मूर्च्छित होकर एक योद्धा पृथ्वी पर गिर गया था। हाथी की सूँड़ के विपुल जलकण जब उस पर गिरे तो वह होश में आकर उठा और वैर भावना के साथ गर्जने लगा।

अलंकाराश्रित बिम्ब

अलंकार बिम्ब रचना के सहज और सशक्त माध्यम हैं। जयोदय में अलंकाराश्रित बिम्ब ही सर्वाधिक हैं। अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त द्वारा सुन्दर बिम्बों की योजना हुई है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत है :

लवणिमाब्जदलस्थजलस्थितिस्तरुणिमाप्यमुखोऽरुणिमान्वितिः।
लसति जीवनमञ्जलिजीवनमिह दधात्ववधिं न सुधीजनः। । २५/५॥

-- युवति का सौन्दर्य कमलपत्र पर स्थित पानी की बूँद के समान है, युवावस्था सन्ध्या समय की लालिमावत् है। जीवन अंजलि में स्थित जल के समान है। अतः बुद्धिमान् मनुष्य समय को व्यर्थ नहीं खोते।

इन उपमाओं में "कमलपत्र पर स्थित पानी की बूँद," "सन्ध्या समय की लालिमा" तथा "अञ्जलि में स्थित पानी" क्षणभंगुरता के सशक्त बिम्ब हैं।

किमु भवेद्विपदामपि सम्पदां भुवि शुचापि रुचापि जगत्सदाम्।
करतलाहतकन्दुकवस्तुनः पतनमुत्पतनं च समस्तु नः॥ २५/१०॥

-- इस जगत् में सम्पत्ति और विपत्ति का सद्भाव और अभाव होता रहता है। प्राणी हर्ष और शोक से संयुक्त होते रहते हैं। जैसे हाथ के आघात से गेंद ऊपर-नीचे उठती तथा गिरती है, उसी तरह जीवों का उत्थान-पतन लगा रहता है।

"करतलाहतकन्दुकवत्" उपमा से निर्मित बिम्ब संसार की परिवर्तनशीलता को सरलतया हृदयंगम करा देता है।

तेजोऽप्यूर्वं समवाप दीप इव क्षणेऽन्तेऽत्र जयप्रतीपः।
निःस्नेहतामात्मनि संब्रुवाणस्तथापदे संकलितप्रयाणः॥ ८/७०॥

-- जो अपने जीवन के विषय में स्नेहरहित हो गया है तथा विपत्ति के समय जिसने प्रयाण करने का संकल्प किया है, ऐसे अर्ककीर्ति ने बुझते दीपक के समान अपूर्व तेज प्राप्त किया।

"क्षणेऽन्ते दीपः इव" उपमा पराजय के पूर्व अर्ककीर्ति में आये उत्साह को दृश्य-बिम्ब द्वारा भलीभाँति रूपायित कर देती है।

अधोलिखित पद्य में "ज्ञानदीप" रूपक ज्ञान के सदसदविवेकजनक धर्म का द्योतन करने वाले दृश्य बिम्ब का सर्जक है -

स्नवदिहो न तथा न दशान्तरमपि तु मोहतमोहरणादरः।
लसति बोधनदीप इयान्यतः विषिपतङ्गगणः पतति स्वतः॥ २५/७०॥

-- विवेकी पुरुष ज्ञानरूपी दीपक से प्रकाशवान् रहता है। उसमें न राग होता है न द्वेष। वह मोहरूपी अन्धकार को दूर करने में प्रयत्नशील रहता है। उसके ज्ञानरूपी दीपक पर कर्मरूपी पतंगों का दल स्वयं गिर कर नष्ट हो जाता है।

सर्प द्वारा पवन का पान किये जाने एवं केंचुली छोड़ने के रूपकात्मक बिम्ब द्वारा खड्ग की भयंकरता शत्रु के प्राणापहरण तथा स्वयश के प्रसारण रूप कार्यों की सुन्दर व्यंजना की गई है :-

भुजगोऽस्य च करवीरो द्विषदसुपवनं निपीय पीनतया।
दिशि दिशि मुञ्चति सुयशः कञ्चुकमिति हे सुकेशि रयात्॥ ६/१०६

-- हे सुकेशि! इसके हाथ का खड्गरूपी सर्प वैरियों के प्राणरूपी पवन को पीकर परिपुष्ट हो जाता है और प्रत्येक दिशा में यशरूपी केंचुली छोड़ता है।

यह उत्प्रेक्षात्मक बिम्ब दर्शनीय है :

विजरत्तरुकोटरान्तराद्दववह्निर्विपिनस्य बृंहिणः ।
रसनेव निरेति भूपते रविपादाभिहतस्य नित्यशः ॥ १३/५०॥

-- हे भूपते ! इस तरु के कोटर से वनाग्नि की ज्वाला निकल रही है, जो ऐसी प्रतीत होती है मानों सूर्य के रश्मिरूपी पैरों से निरन्तर सताये गये इस बूढ़े वन की जीभ ही निकल रही है ।

इस उत्प्रेक्षा में "सूर्य के रश्मिरूप पैरों से निरन्तर प्रताड़ित किये गये बढ़े वन की जीभ निकलने का मानवीय बिम्ब" भयानक रस का व्यंजक है ।

निम्न श्लोक में "जलकुण्ड का नाभि में परिणत होने रूप" उत्प्रेक्षा का विधान हुआ है । यह उत्प्रेक्षा नायिका सुलोचना की नाभि की गहराई को ध्वनित करने का सशक्त बिम्ब है --

अस्या विनिर्माणविधावहुण्डं रसस्थलं यत्सहकारिकुण्डम् ।
सुचक्षुषः कल्पितवान् विधाता तदेव नाभिः समभूत्सुजाता ॥ ११/३०॥

-- ब्रह्मा ने सुलोचना का निर्माण करने के लिए जल का सुन्दर कुण्ड बनाया था। अब वही नाभि रूप में परिणत हो गया है ।

निम्न पद्य में पित्तज्वर से पीड़ित व्यक्ति की दुग्ध के प्रति अरुचि का दृष्टान्त दिया गया है । यह अर्ककीर्ति की अनवद्यमति मन्त्री के हितकारी वचनो के प्रति अरुचि के बिम्ब को ध्वनित करता है -

नानुमेने मनागेव तथ्यमित्थं शुचेर्वचः ।
क्रूरश्चक्रिसुतो यद्वत् पयः पित्तज्वरातुरः॥ ७/४४ ॥

-- भरत चक्रवर्ती के क्रोधित पुत्र अर्ककीर्ति ने अनवद्यमति मन्त्री के सुन्दर, सारगर्भ एवं हितकारी वचनों को उसी प्रकार ग्रहण नही किया जैसे पित्तज्वर से पीड़ित व्यक्ति दूध को ग्रहण नहीं करता ।

लक्षणाश्रित बिम्ब

महाकवि ने अपने काव्य में लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा भी बिम्बों की रचना की है

अभ्याप सुस्नेहदशाविशिष्टं सुलोचना सोमकुलप्रदीपम् ।
मुखेषु सत्तां सुतरां समाप सदञ्जनं चापरपार्थिवानाम् ॥ ६/१३१॥

-- सुलोचना ने उत्तम स्नेह की दशा से विशिष्ट सोमकुल के दीपक जयकुमार को

प्राप्त किया, उसी समय अन्य राजाओं के मुखों पर गाढ़ अंजन ने अपनी सत्ता जमा ली (अर्थात् वे उदास हो गये)।

इस उक्ति में "अन्य राजाओं के मुखों पर गाढ़ अञ्जन ने सत्ता जमा ली" इस लाक्षणिक प्रयोग से निर्मित बिम्ब राजाओं के अत्यन्त उदास हो जाने के भाव को व्यंजित करने की अद्भुत शक्ति रखता है।

लोकोक्तिजन्य बिम्ब

लोकोक्ति पर आश्रित बिम्ब का सुन्दर उदाहरण निम्न उक्ति में मिलता है --

पार्थिवं समनुकूलयेत्पुमान् यस्य राज्यविषये नियुक्तिमान्।

शल्यवद्व्रजति यद्विरोधिता नाम्बुधौ मकरतोऽरिता हिता॥ २/७०॥

-- मनुष्य जिस राजा के राज्य में निवास करता है उसे अपने अनुकूल बनाये रखना चाहिए। उससे विरोध करना शल्य के समान दुःखदायक होता है। समुद्र में रहकर मगर से वैर करना अच्छा नहीं है।

यहाँ "नाम्बुधौ मकरतोऽरिता हिता" (समुद्र में रहकर मगर से वैर अच्छा नहीं होता) यह लोकोक्ति "जिसके आश्रय में रहते हैं उसके प्रतिकूल आचरण करना हितकारक नहीं होता" इस तथ्य को अभिव्यंजित करने वाला अत्यन्त प्रभावशाली बिम्ब है।

मुहावराश्रित बिम्ब

कवि ने मुहावरों द्वारा बिम्ब निर्मित कर अमूर्त भावों को हृदयंगम बनाने का सफल प्रयोग किया है :

तत्त्वभृद् व्यवहृतिश्च शर्मणे पूतिभेदनमिवाग्रचर्मणे।

तावदूषरटके किलाफले का प्रसक्तिरुदिता निरर्गले॥ २/५॥

इस सूक्ति में "ऊषरटके किलाफले का प्रसक्तिरुदिता निरर्गले" (ऊसर में बीज बोने से क्या लाभ ?) यह मुहावरा एक ऐसा बिम्ब उपस्थित करता है जिससे अपात्र को उपदेश देने या अयोग्य व्यक्ति की सेवा करने की निरर्थकता सहजतया अनुभूतिगम्य हो जाती है।

वाक्याश्रित बिम्ब

निम्न उक्तियों में वाक्याश्रित बिम्बों के दर्शन होते हैं -

मनो ममैकस्य किलोपहारो बहुष्वधान्यस्य तथापहारः।

किमातिथेयं करवाणि वाणि हृदेऽप्यहृद्येयमहो कृपाणी॥ ५/९७

-- सुलोचना बुद्धिदेवी को सम्बोधित करते हुए कहती है - हे वाणी ! मेरा मन तो इन अनेक राजाओं में से किसी एक का उपहार होगा, शेष सभी का अनादर हो जायेगा। मैं इन सभी का सत्कार कैसे कर सकूँगी ? यह बात मेरे हृदय में कृपाण का कार्य कर रही है। यहाँ पर "हृदे अपि इयं अहद्या कृपाणी" (यह बात मेरे हृदय में तीक्ष्ण कृपाण का कार्य कर रही है) वाक्य स्वयंवर सभा में उपस्थित राजाओं को देखकर सुलोचना के मन में उत्पन्न कष्टातिशय को व्यंजित करनेवाला प्रभावशाली बिम्ब प्रस्तुत करता है।

निम्न श्लोक का उत्तरार्ध एक लोकोक्तिरूप वाक्य है, जो अर्ककीर्ति की हठग्राहिता को सहजतया द्योतित करता है।

ननु मनुष्यवरेण निवेदितं मयि निवेदमनर्थमवेहि तम्।

कथमिवान्धकलोष्ठमपि क्रमः कनकमित्युपकल्पयितुं क्षमः ॥ ९/२८॥

-- मन्त्री सुमति ने मुझसे युद्ध न करने हेतु निवेदन किया था, किन्तु उनके निवेदन का मेरे ऊपर कोई असर नहीं हुआ। ठीक ही है, अन्धक पाषाण को कोई स्वर्ण का कैसे बना सकता है ?

संज्ञाश्रित बिम्ब

कवि ने संज्ञा का प्रतीक रूप में प्रयोग कर अमूर्त भावों के हृदयस्पर्शी बिम्ब निर्मित किये हैं :

गता निशाऽथ दिशा उद्घाटिता भान्ति विपूतनयनभूते।

कोऽस्तु कौशिकादिह विद्वेषी परो नरो विशदीभूते॥ ८/९०॥

-- हे विशाल एवं निर्मल नयनों वाली पुत्री ! निशा बीत गयी, अब सभी दिशाएँ स्पष्ट दिखाई दे रही हैं। ऐसे प्रकाशमान समय में उल्लू के अलावा ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे प्रसन्नता न हो।

यहाँ "निशा" तथा "कौशिक" संज्ञाएँ प्रतीकात्मक हैं, जिनसे क्रमशः "विपत्ति" एवं "विवेकहीन" का अर्थ व्यंजित करने वाले सशक्त बिम्ब निर्मित होते हैं।

विशेषणाश्रित बिम्ब

निम्न पद्य में विशेषण के द्वारा सुन्दर बिम्ब की रचना हुई है –

कमलामुखीमयमात्मरश्मिभिः श्रीपरिफुल्लदेहां,

रसति स्मेयमिमं खलु रमणीयामनिधिं स्वाधारम्।

ग्रहणग्रहणस्वादी परमो भविनोरभिविश्रम्भं,

भवतु कवीश्वरलोकाग्रहतो ह्यवपरस्वारम्भः ॥ १०/१११॥

-- जयकुमार ने अपने नेत्रों से अलंकारों से सुशोभित, प्रसन्नचित्त, कमलमुखी

सुलोचना को देखा। रमणी सुलोचना ने अपने जीवन के आधारभूत अत्यन्त तेजस्वी जयकुमार को देखा। भविष्य में होने वाले पाणिग्रहण संस्कार के प्रारम्भ में उनका जो हावभाव भरा उपक्रम हो, वह उत्तम कवियों की लेखनी से प्रसूत होकर अति सुन्दर बने।

यहाँ "कमलमुखी" विशेषण अपनी बिम्बात्मकता के द्वारा सुलोचना के प्रसन्न एवं सुकोमल मुख का चित्र नेत्रों के समक्ष उपस्थित कर देता है। इसी प्रकार --

काष्ठागतपरसार्थं विभूतिमान् तेजसा दहत्यवशः।
तेनास्याशयरूपं स्वतो भवति भस्मशुभ्रयशः॥ ६/२९॥

-- यह कामरूप देश का राजा निरंकुश वैभवशाली है। इसने तेज से सर्व दिशाओं में स्थित शत्रुओं को उसी प्रकार नष्ट कर दिया है जैसे अग्नि अपनी दाहकता से काष्ठ को जला देती है। इस कारण इसका भस्म के समान शुभ्र यश स्वतः चारों ओर फैल रहा है।

इस पद्य में अमूर्त यश के लिए मूर्त "शुभ्र" विशेषण का प्रयोग हुआ है, जो राजा के निर्मल यश को व्यंजित करने वाले बिम्ब का जनक है।

क्रियाश्रित बिम्ब

क्रिया का लाक्षणिक प्रयोग करने पर बिम्ब निर्मित होता है। जयोदय में क्रियाश्रित बिम्ब के अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है --

दृष्टिराशु पतिता विमलायां नव्यभव्यरजनीशकलायाम्।
कौमुदादरपदातिशयायां प्रेक्षिणी ननु नृणामुदितायाम्॥ ५/६७

-- सुलोचना उदित हुई अभिनव चन्द्रकला के समान सुन्दर और आनन्दोत्पादक थी। उस प्रसन्नचित्त राजकुमारी पर लोगों की दृष्टि तुरन्त जा पड़ी।

यहां "पतिता" क्रिया के द्वारा निर्मित चित्र एकमात्र सुलोचना पर ही लोगों की दृष्टि केन्द्रित हो जाने के भाव को प्रभावशाली ढंग से व्यंजित करता है।

इस प्रकार महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी ने अपने महाकाव्य में अमूर्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए चित्रात्मक भाषा या बिम्ब विधान का आश्रय भी लिया है और इसके द्वारा वस्तु के सूक्ष्म स्वरूप तथा मानवीय मनोभावों एवं मनोदशाओं के वैशिष्ट्य को अत्यन्त प्रभावशाली रीति से अनुभूतिगम्य बनाया है।

सप्तम अध्याय

लोकोक्तियाँ एवं सूक्तियाँ

लोकोक्ति का लक्षण

लोक (जन-साधारण) के दैनिक अनुभवों मे उपलब्ध सत्यों को उक्ति वैचित्र्य के द्वारा व्यंजित करने वाली सूत्रात्मक प्रसिद्ध उक्तियाँ **लोकोक्तियाँ** कहलाती हैं। लोकोक्ति मुहावरे से भिन्न है। मुहावरा शब्द या शब्दावली मात्र होता है। अतएव वाक्य का अंग होता है, लोकोक्ति वाक्यात्मक होती है। मुहावरे के रूप में प्रयुक्त होने वाला शब्द या शब्द समूह सन्दर्भ विशेष में ही मुहावरा बनता है। लोकोक्ति स्वतंत्र रूप से ही लोकोक्ति होती है, केवल उसका प्रयोग उचित सन्दर्भ में किया जाता है। मुहावरे का स्वतंत्र रूप से कोई अर्थ नहीं होता, वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही सार्थक होता है, जबकि लोकोक्ति स्वतंत्र रूप से सार्थक होती है। "आंखों का काँटा होना" एक मुहावरा है, "काँटे से काँटा निकलता है" एक लोकोक्ति है।

लोकोक्तियों का अभिव्यंजनात्मक महत्त्व

लोकोक्तियाँ दृष्टान्त रूप होती है जिनके द्वारा तथ्य विशेष को पुष्टकर विश्वसनीय या प्रामाणिक बनाया जाता है। वे किसी तथ्य, क्रिया, आचरण या घटना के विशिष्ट स्वरूप को व्यंजित करने के लिए भी प्रयुक्त होती है। उनकी विशेषता यह है कि वे तथ्यों के मर्म को उभार कर गहन एवं तीक्ष्ण बनाकर अभिव्यक्ति को प्रभावशाली और रमणीय बना देती है। जैसे –

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयः पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्॥

यहाँ अन्तिम वाक्य लोकोक्ति है। उसमें प्रयुक्त भुजङ्ग शब्द ने दुष्टों की घातक प्रकृति को "पयः पान" शब्द ने उपदेश के हितकर स्वरूप को तथा "विषवर्धन" शब्द ने दुष्टों (मूर्खों) के क्रोध की घातकता तथा उसमें वृद्धि होने के स्वरूप को गहन एवं तीक्ष्ण बना दिया है, इस प्रकार अभिव्यक्ति पैनी हो गई है।

जयोदय में लोकोक्तियाँ

जयोदय के कवि ने लोकोक्तियों के समुचित प्रयोग से अभिव्यक्ति को प्रभावशाली एवं रमणीय बनाने का सफल प्रयास किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त लोकोक्तियों के विषय

विभिन्न हैं, यथा - मानव आचरण के मनोवैज्ञानिक हेतु, मानव व्यवहार की आदर्श पृष्ठभूमि, वस्तुस्थिति की गम्भीरता, हास्यास्पदता, बिडम्बनात्मकता आदि ।

कवि ने लोकोक्तियों के द्वारा मानव आचरण के मनोवैज्ञानिक आधारों को मनोहर दृष्टान्तों से स्पष्ट कर कथन को रमणीय बनाने मे पर्याप्त सफलता हस्तगत की है । उदाहरण दर्शनीय है –

अर्ककीर्ति आमन्त्रण न मिलने पर भी राजकुमारी सुलोचना के स्वयंवर में जाने के लिये तैयार हो जाता है, "क्योंकि चौराहे पर पड़े रत्न को कौन नही उठाना चाहता ?"

आस्तदा सुललितं चलितव्यं तन्मयाऽवसरणं बहुभव्यम् ।
श्रीचतुष्पथक उत्कलिताय कस्यचिद् व्रजति चित्र हिताय ॥ ४/७॥

राजकुमारी सुलोचना स्वयंवर सभा मे जयकुमार का वरण करती है । इससे अर्ककीर्ति उदास हो जाता है । तब उसका चाटुकार मित्र दुर्मर्षण उससे झूठ-मूठ कहता है कि राजकुमारी सुलोचना तो गुणो की पारखी है, वह तुम्हे ही वरण करना चाहती थी किन्तु पिता की आज्ञा के वशीभूत हो उसे जयकुमार का वरण करना पड़ा क्योंकि "लोक मे ऐसा कौन है जो स्वेच्छा से रत्न छोड़कर काँच ग्रहण करेगा ?"

कन्याऽसौ विदुषी धन्या गुणेक्षणविचक्षणा ।
कुलेन्दोच्छन्दसि च्छन्द उपेक्षां किन्तु नार्हति ॥ ७/१३॥

X X X

अन्यथाऽनुपपत्त्याऽहं गतवांस्त्वदनुज्ञया ।
स्वातन्त्र्येण हि को रत्नं त्यक्त्वा काचं समेष्यति॥ ७/१५॥

युद्ध मे पराजित अर्ककीर्ति को राजा अकम्पन समझाते हुए कहते हैं हे नृपरत्न, जयकुमार ने आपको युद्ध मे पराजित कर जो चपलता की है, आप उसे भूल जायें । इस विषय मे कोई विचार न करें । "दूध पीते समय बछड़ा गाय की छाती मे चोट मारता है, फिर भी गाय नाराज न होकर उसे दूध ही पिलाती है" -

यदपि चापलमाप ललाम ते जय इहास्तु स एव महामते ।
उरसि सन्निहतापि पयोऽर्पयपत्यध निजाय तुजे सुरभिः स्वयम् ॥ ९/१२

मनुष्य का विवेकविहीन पुण्यकर्म निष्फल हो जाता है । यह "अन्धा बटे बछड़ा खाय" की कहावत को चरितार्थ करता है --

भुवि वृथा सुकृतं च कृतं भवेद्धविजनस्य तरामविवेकतः ।
अनयनस्य वटीवलनं पुनः कवलितं च शकृत्करिणा ततः ॥ २५/६८॥

नीति के उपदेश को प्रभावी एवं ग्राह्य बनाने के लिए भी कवि ने लोकोक्तियों का प्रयोग किया है ।

मुनिराज जयकुमार को समझाते हुए कहते है -- मनुष्य जहाँ रहता है, वहाँ के राजा को प्रसन्न रखना चाहिए, उसका विरोध करना शल्य के समान दुःखदायक होता है । "समुद्र में रहकर मगर से वैर करना हितकर नहीं होता" -

पार्थिवं समनुकूलयेत्पुमान् यस्य राज्यविषये नियुक्तिमान् ।
शल्यवद्रुजति यद्विरोधिता नाम्बुधौ मकरतोऽरिता हिता ॥ २/७०

तिर्यञ्चादि के व्यवहार पर आश्रित लोकोक्तियो के द्वारा वस्तु स्थिति की गम्भीरता, संकटास्पदता, बिडम्बनात्मकता आदि का द्योतन कर कथन को हृदयस्पर्शिता प्रदान की गई है ।

अर्ककीर्ति के युद्ध में पराजित हो जाने पर राजा अकम्पन भयभीत होकर कहते हैं -- इस पराजय से यदि सम्राट् भरत कुपित हो गये तो हमारा क्या होगा ? "समुद्र में रहकर मगर से वैर करने वाले की गति तो प्रसिद्ध ही है" --

रविपराजयतः स रुषः स्वलं यदि तदा भुवि नः क्व कलादलम् ।
मकरतोऽवरतस्य सरस्वति भवितुमर्हति नासुमतो गतिः ॥ ९/६१

सूक्तियाँ

जयोदय की भाषा सूक्तिगर्भित है । इससे भी उसकी काव्यात्मकता सम्पुष्ट हुई है। वस्तुस्वभाव या जीवन और जगत् से सम्बन्धित सत्य का कथन वाली उक्ति **सूक्ति** कहलाती है । लोकोक्तियाँ भी जीवन और जगत् के सत्य का कथन करती हैं, किन्तु लोकोक्ति और सूक्ति में यह अन्तर है कि लोकोक्ति लोकमुख से आविर्भूत होती है तथा सूक्ति ज्ञानियों के मुख से निकलती हैं और ज्ञानियों के वचन तथा लेखन में उसका प्रयोग होता है । इसके अतिरिक्त लोकोक्तियों में लाक्षणिकता एवं व्यंजकता भी रहती है जबकि सूक्तियाँ प्रायः अभिधात्मक होती हैं । "अधजल गगरी छलकत जाय" यह एक लोकोक्ति है । "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" यह सूक्ति है । "निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते" यह एक लोकोक्ति है, "विद्या विनयेन शोभते" यह सूक्ति है । ऐसा भी होता है कि कोई सूक्ति बहुप्रसिद्ध होकर लोकजिह्वा का संस्पर्श पाकर लोकोक्ति का रूप धारण कर लेती है और लोकोक्तियाँ अपनी

सम्प्रेषणीयता एवं तथ्यात्मकता के कारण साहित्य और विद्वद्वचनों में स्थान पा लेती हैं। काव्यशास्त्र में सूक्तियाँ और लोकोक्तियाँ अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त एवं प्रतिवस्तूपमा अलंकारों में गर्भित हैं।

सूक्तियों का अभिव्यंजनात्मक महत्त्व

सूक्तियों का प्रयोग लोकोक्तियों की तरह ही निम्नलिखित प्रयोजनों से होता है:-- कथन की पुष्टि, आचरण के हेतु का प्रतिपादन, मानवव्यवहार, मानवदशा, मानवोपलब्धि तथा सांसारिक एवं प्राकृतिक घटनाओं से प्राप्त तथ्यों का निरूपण, उपदेश, परामर्श एवं आचरण के औचित्य की सिद्धि तथा नीति विशेष का कथन। सूक्तियों के द्वारा कथन में दार्शनिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं शास्त्रीय प्रभाव आ जाता है जिससे कथन उदात्त एवं गरिमापूर्ण बन जाता है। सूक्तियाँ जीवन सत्यों से परिपूर्ण होती है इसलिए मन को प्रभावित करती है। उनसे दुःखी मन को सान्त्वना, निराश मन को उत्साह तथा अधीर मन को धैर्य मिलता है। अँधेरे में भटकता हुआ मनुष्य प्रकाश पा लेता है और दिशा भ्रष्टों को दिशा मिल जाती है। इस प्रकार सूक्तियाँ अभिव्यंजना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

जयोदय में सूक्तिप्रयोग

महाकवि ज्ञानसागर ने जयोदय में शताधिक सूक्तियों का प्रयोग किया है। इनमें सज्जन-दुर्जन आदि की प्रकृति का, धन, धर्म, विद्या, बुद्धि, पौरुष आदि के महत्त्व का, जगत् के स्वभाव सुख-दुःख के स्वरूप तथा सार-असार भूत तत्त्वों का सूत्ररूप में वर्णन किया गया है और इनका उपयोग कवि ने कथन विशेष की पुष्टि, आचरण विशेष के हेतु निर्देश, उपदेशों एवं व्यवहार विशेष के औचित्य प्रतिपादन तथा मानव व्यवहार एवं सांसारिक तथा प्राकृतिक घटनाओं से प्राप्त तथ्यो के निरूपण के लिए किया है।

निम्न उदाहरणों में सूक्तियों के द्वारा पात्रों के आचरण का हेतु निर्दिष्ट कर उनके चारित्रिक वैशिष्ट्य का प्रकाशन किया गया है -

यद्यपि राजा जयकुमार सुलोचना के प्रति अनुरक्त था फिर भी उसने (सुलोचना के पिता) महाराजा अकम्पन से सुलोचना की याचना नहीं की। **"जीवन भले ही चला जाय, स्वाभिमानी कभी किसी से याचना नहीं करता" (किमन्यकैर्जीवितमेव यातु न याचितं मानि उपैति जातु)** -

न चातुरोऽप्येष नरस्तदर्थमकम्पनं याचितवान् समर्थः।
किमन्यकैर्जीवितमेव यातु न याचितं मानि उपैति जातु॥१/७२

सन्मार्ग के ज्ञाता राजा अकम्पन युद्ध में पराजित अर्ककीर्ति के साथ अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमाला का विवाह कर देते हैं। "**सज्जनों का शरीर परोपकार के लिए ही होता है**" (सतां वपुर्हि प रेताय)–

अयमयच्छदधीत्य हृदा जिनं तदनुजां तनुजाय रथाङ्गिनः ।

सुनयनाजनकोऽयनकोविदः परहिताय वपुर्हि सतामिदम् ॥ ९/५६

जयकुमार के देव-मित्र ने उसे युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए युद्ध क्षेत्र में नागपाश एवं अर्धचन्द्र बाण प्रदान किया। "**समय पर सहयोग देना ही सहकारित्व कहा जाता है**" (**अवसरे अङ्गवत्ता सहकारिसत्ता निगद्यते**) –

सुरः समागत्यतमां स भद्रं सनागपाशं शरमर्धचन्द्रम् ।

ददौ यतश्चावसरेऽङ्गवत्ता निगद्यते सा सहकारिसत्ता ॥ ८/७७

युद्ध में विजयी होने पर भी जयकुमार को हर्ष न होकर दुःख हुआ। "**अयोग्य धन को प्राप्त करने पर क्या चित्त प्रसन्न हो सकता है ?**" (**अयोग्यं वित्तं आदाय चित्तं किमु स्वास्थ्यं लभताम्**)

विषसादैव जयोऽस्मात् प्रससाद न जातु विजयतो यस्मात् ।

स्वास्थ्यं लभतां चित्तं ह्यादायायोग्यमिह च किमु वित्तम् ॥ ८/८२

आकाश में कपोतयुगल को देखकर सुलोचना मूर्च्छित हो जाती है। सखियाँ तुरन्त उसकी परिचर्या करती हैं। एक सखी उसकी नासिका के छिद्रों को बन्द कर देती है मानों वह उसके निकलते हुए प्राणों को रोकना चाहती हो। "**विपत्ति में साथ देना ही मित्रता कहलाती है**") **व्यसनेऽनुवृत्तिः सख्यम्** -

अभूत् त्वरा संवरितस्वरायाः प्राणानिवोद्गच्छत उज्वरायाः ।

तदावचेतुं परितः प्रवृत्तिः सखीषु सख्यं व्यसनेऽनुवृत्तिः ।। २३/२१

कुछ सूक्तियाँ ऐसी हैं जो प्राकृतिक घटनाओं या तिर्यञ्चों के व्यवहार के उदाहरणों द्वारा महान् या क्षुद्र पुरुषों के स्वभाव का निर्देश करती हैं। इनके द्वारा पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य का द्योतन एवं पोषण किया गया है।

सूर्य जिस प्रकार उदयकाल में लाल रहता है उसी प्रकार अस्त के समय भी रहता है "**महापुरुष सुख और दुःख में एक जैसे रहते हैं**" (**महतां सम्पत्सु विपत्सु अपि सदैव तुल्यता तटस्था**) –

यथोदयेऽस्तसमयेऽपि रक्तः श्रीमान् विवस्वान् विभवैकभक्तः ।

विपत्सु सम्पत्स्वपि तुल्यते स्माहो तटस्था महतां सदैव ॥ १५/२

दिन अपने स्वामी सूर्य के साथ ही विलीन हो जाता है । **"निःस्वार्थ व्यक्ति प्राणों का त्याग करके भी कृतज्ञता का निर्वाह करते हैं" (ये अमलाः ते असुभ्योऽपि कृतज्ञतां निर्वहन्ति)**–

लयं तु भर्त्रैव समं समेति दिनं दिनेशेन महीयसेति ।

कृतज्ञतां ते खलु निर्वहन्ति तमामसुभ्योऽप्यमलास्तु सन्ति ॥ १५/३

हाथियों ने गंगा नदी का जितना जल पिया, उससे भी अधिक जल मदजल के बहाने वापिस कर दिया । **"कुलीनवंशी प्रत्युपकार शून्य नहीं होते" (वंशिनः प्रत्युपकारशून्याः न)**

यावन्निपीतं जलमापगायास्ततोऽधिकं तत्र समर्पितञ्च ।

मतङ्गजेन्द्रैर्निजदानवारि न वंशिनः प्रत्युपकारशून्याः ॥ १३/१०५

कहीं पर सूक्तियाँ पात्रों के जीवन की सुख-दुःखात्मक घटनाओं के उदाहरणों द्वारा संसार के सुख-दुःखात्मक स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं –

राजा जयकुमार एक दिन अपनी रानियों के साथ महल की छत पर बैठे थे । वे आकाशमार्ग से जाते हुए विद्याधर के विमान का अवलोकन कर मूर्च्छित हो जाते हैं । कुछ समय पश्चात् रानी सुलोचना आकाशमार्ग में कपोतयुगल देख मूर्च्छित हो जाती है । यह घटना प्रजावर्ग के लिए उसी प्रकार अत्यन्त कष्टदायक प्रतीत होती है जैसे कोढ़ में खाज हो गई हो । **"यह संसार दुःख स्वरूप है" (भवसम्भवावनिर्दुरन्ता)** –

अभूत् सभाया मनसोऽतिकम्पकृत्तदत्र कष्टेऽप्यतिकष्टमिष्टहृत् ।

यथैव कुष्ठे खलु पामयाऽजनि अहो दुरन्ता भवसंभवावनिः ॥ २३/२०

कवि ने सूक्तियों का प्रयोग उपदेशों के औचित्य का प्रतिपादन करने के लिए भी किया है –

मुनिराज जयकुमार को गृहस्थ धर्म का उपदेश देते हुए कहते हैं – सज्जन को अर्थशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए जिससे वह समाज में प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत कर सके। **"निर्धनता मरण से भी भयंकर है" (व्यर्थता हि मरणाद् भयङ्करा)** –

अर्थशास्त्रमवलोकयेद्दूराद् कौशलं समनुभावयेत्तराम् ।

श्रीप्रजासु पदवीं व्रजेत्परां व्यर्थता हि मरणाद्भयंकरा ॥ २/५९

मनुष्य को आयुर्वेद का अध्ययन करना चाहिए जिससे वह शरीर को स्वस्थ्य रखते हुए सुखी जीवन व्यतीत कर सके और उसके हितैषियों का मन प्रसन्न रहे । **"शरीर ही सभी तरह के सुखों का मूल है" (इह अङ्गं आद्यं सौख्यसाधनम्)** -

तानवं श्रुतमुपैतु मानवः स्यान्न वर्त्मनि मुदोऽघसम्भवः ।
प्रीतमस्तु च सहायिनां मन आयमङ्गमिह सौख्यसाधनम् ॥ २/५६

न॰ के उपवन में आये हुए मुनि श्रावक धर्म का निरूपण करते हुए जयकुमार से कहते हैं -- प्राणीमात्र का कल्याण हो ऐसे दयामय परिणाम रखते हुए गृहस्थ को अन्न, वस्त्र आदि का दान करते रहना चाहिए । **"सज्जनों का वैभव परोपकार के लिये ही होता है"** **(सतां रसः परोपकृतये स्यात्)** –

नष्टमस्तु खलु कष्टमङ्गिनामेवमार्द्रतरभावभङ्गिना ।
देयमन्नवसनाद्यनल्पशः स्यात् परोपकृतये सतां रसः ॥ २/११

गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम ऐसे उपासकाध्ययन को पढ़े जिसमें अपने कुल के अनुरूप रीति रिवाज का वर्णन हो । क्योंकि **"अपने घर की जानकारी न रखते हुए दुनियाँ को खोजना मूर्खता है ।"** **(अनात्मसदनावबोधने जगतो विशोधने अज्ञता स्यात्)** --

सम्पठेत् प्रथमतो ह्युपासकाधीतिगीतिमुचितात्मरीतिकाम् ।
अज्ञता हि जगतो विशोधने स्यादनात्मसदनावबोधने ॥ २/४५

अर्ककीर्ति के साथ होने वाले युद्ध के कारण राजा अकम्पन चिन्तित हैं । जयकुमार उन्हें सान्त्वना देते हुए कहते हैं -- हे वशी ! नीतिपथ से च्युत होने पर बल का क्या ? नीति के द्वारा ही हाथियों के समूह को नष्ट करने वाला सिंह भी शबर या अष्टापद के द्वारा शीघ्र मारा जाता है । अतएव **"बल की अपेक्षा नीति ही बलवान् होती है"** **(नीतिः एव बलाद् बलीयसी)** –

नीतिरेव हि बलाद् बलीयसी विक्रमोऽध्वविमुखस्य को वशिन् ।
केसरी करिपरीतिकृद्रयाद्धन्यते स शबरेण हेलया ॥ ७/७८

नगर के उपवन में पधारे मुनिराज के दर्शन एवं धर्मोपदेश श्रवण हेतु जयकुमार उनके समीप जाते हैं । वे उसे समझाते हैं – बिना विचार किये सभी पर विश्वास करना स्वयं को ठगाना है । सब जगह शंका करने वाला कुछ नहीं कर सकता । इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को सोच-विचार कर कार्य करना चाहिए । क्योंकि **"अति सर्वत्र दुःखदायी होती है"** **(अति सर्वतः कष्टकृद् भवति)** –

विश्वविश्वसनमात्मवञ्चितिः शङ्किनः स्विदभिदः कुतो गतिः ।
योग्यतामनुचरेन्महामतिः कष्टकृद् भवति सर्वतो ह्यति ॥ २/५१

मनुष्य के हानि-लाभ, मान-अपमान, जीवन-मरण, सिद्धि-असिद्धि आदि की घटनाओं

के समाधान हेतु कवि ने कर्मफल एवं धर्मफल विषयक सूक्तियों का प्रयोग किया है –

स्वयंवर मण्डप में राजकुमारी सुलोचना मालव देश के अधिपति से भी अनुराग नहीं करती । **"जब दैव विपरीत हो जाता है तब पुरुषार्थ भी काम नहीं करता ।" (किमु दैवे विपरीते पौरुषाणि अपि परुषाणि स्युः)** –

> **निभृते गुणैरमुष्मिन् नाबन्धमवाप सापगुणदस्युः ।**
> **किमु दैवे विपरीते परुषाण्यपि पौरुषाणि स्युः ॥ ६/९७**

राजा जयकुमार अपनी पूर्वभव की प्रिया प्रभावती के विषय में विचार कर रहे थे कि अवधिज्ञानरूपी दूत ने आकर उनकी आकांक्षा पूर्ण कर दी । **"पृथ्वी पर पुण्य के उदय से अभीष्ट सिद्धि स्वयमेव हो जाती है ।" (जगत्यां सुकृतैकसन्ततेः अभीष्टसिद्धिः स्वयमेव जायतेः)**

> **तदेकसन्देशमुपाहरत् परमुपेत्य बोधोऽवधिनामकश्वरः ।**
> **अहो जगत्यां सुकृतैकसन्ततेरभीष्टसिद्धिः स्वयमेव जायते ॥२३/३५**

राजा जयकुमार और रानी सुलोचना अपने पूर्वजन्म में क्रमशः हिरण्यवर्मा और प्रभावती थे । दोनों ही जिनदीक्षा अंगीकार कर वन में तप कर रहे थे । इसके पूर्व भव के शत्रु विद्युच्चोर ने जब दोनों को तप करते हुए देखा तो क्रोध मे उन्हें जला दिया । वे ममताभाव से देह का परित्याग कर स्वर्ग गये । **"उत्तम तप से मनुष्य को उत्तम फल प्राप्त होता है ।" (जनाः सत्तपसा महो व्रजन्तु)** –

> **एतौ तपन्तौ समवाप्य विद्युच्चौरो रुषा प्लोषितवान् परेयुः ।**
> **भवान्तरारिः स्वरितौ च किन्तु महो जनाः सत्तपसा व्रजन्तु ॥ २३/७०**

राजा जयकुमार की अनेक रानियाँ थीं फिर भी वह परिजनों तथा पुरजनों के समक्ष रानी सुलोचना के मस्तक पर पट्टरानी का पट्ट बाँधता है । **"पाप कर्म का अन्त अर्थात् पुण्य का उदय होने पर पुरुषों के स्त्रियों के प्रति अनुकूल भाव होते हैं !" (दुरितान्तकाले रमिणां रमासु भावा भवन्ति)** –

> **हेमाङ्गदादिष्वधुना स्थितेषु बबन्ध पट्टं पटुरेण तस्याः ।**
> **भाले विशाले दुरितान्तकाले भवन्ति भावा रमिणां रमासु ॥ २१/८२**

बुद्धि आदि का महत्त्व प्रतिपादित करने वाली सूक्तियों के द्वारा कार्यविशेष में सफलता प्राप्ति के प्रति आश्वस्त किया गया है । यथा –

सम्राट् भरत के पुत्र अर्ककीर्ति स्वयंवर में सम्मिलित होने हेतु अपने मित्रों के साथ

काशी आते हैं। वे सभी काशी नरेश के प्रासाद में ठहरते हैं और स्वयंवर समारोह के पूर्व रात्रि में विचार विमर्श करते हैं कि ऐसा कौन सा उपाय किया जावे जिससे सुलोचना अपने स्वामी अर्ककीर्ति के गले में वरमाला पहना दे। तभी दुर्मर्षण कहता है - आप लोग भगवान् ऋषभदेव का स्मरण करें। मैं ऐसा उपाय करूंगा जिससे सुलोचना स्वयं ही अपने स्वामी अर्ककीर्ति के गले में वरमाला पहना देगी। **"बुद्धिमानों के लिए कौन सा कार्य असाध्य है?" (धीमतामपि धिया किमसाध्यम्)** –

तत्करोमि किल सा सहजेनारोपयेद्विभुगले तदनेनाः।
चिन्तयेत पुरुमित्यभिराध्यं धीमतामपि धिया किमसाध्यम् ॥ ४/३३

सूक्तियों के द्वारा वस्तुस्थिति का समर्थन भी समुचित रीति से किया गया है –

जयकुमार द्वारा युद्ध में पराजित अर्ककीर्ति विचारता है कि मैं जयुकमार को जीतना चाहता हूँ पर जब वह आज युवावस्था में ही मुझसे नहीं जीता गया तो फिर कब जीता जा सकेगा ? **"जब यौवन में ही क्षयरोग हो जावे तो वृद्धावस्था में उससे मुक्त होकर सुखी होने की आशा व्यर्थ है।" (यदि तरुणिमा क्षयदो जायते जरसि किं पुनः सुखाप्यते)** –

यमथ जेतुमितः प्रविचार्यते स जय आश्वपि दुर्जय आर्य ते।
तरुणिमा क्षयदो यदि जायते जरसि किं पुनरत्र सुखायते ॥ ९/२२

उक्त उदाहरणों से यह तथ्य भली भाँति दृष्टिगत होता है कि कवि ने सिद्धान्तों की पुष्टि, मानव व्यवहार, जीवन और जगत् की घटनाओं के समाधान तथा उपदेश और आचरण विशेष के औचित्य की सिद्धि द्वारा अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए लोकोक्तियों और सूक्तियों का प्रयोग किया है और अपने उद्‌देश्य में आशातीत सफलता पायी है। लोकोक्तियों ने अनेक तथ्यों के मर्म को उभार कर उन्हें गहन और तीक्ष्ण बना दिया है जिससे कथन में मर्मस्पर्शिता आ गई है। पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य की अभिव्यक्ति में भी सूक्तियाँ बड़ी कारगर सिद्ध हुई हैं। कहीं प्रसंगवश नीति-विशेष के प्रतिपादन हेतु भी सूक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं। इन सभी सन्दर्भों में लोकोक्तियों और सूक्तियों ने अभिव्यक्ति को रमणीय बनाने का चामत्कारिक कार्य किया है।

□□□

अष्टम अध्याय

रस ध्वनि

रसात्मकता काव्य का प्राण है। रसानुभूति के माध्यम से ही सामाजिकों को कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश हृदयंगम कराया जा सकता है। इसीलिए कान्तासम्मित उपदेश को काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना गया है। जयोदयकार इस तथ्य से पूरी तरह अवगत थे। इसीलिए उन्होंने अपने काव्य में शृंगार से लेकर शान्त तक सभी रसों की मनोहारी व्यंजना की है।

रस किसे कहते हैं ?

काव्य या नाटक में रस किसे कहते हैं, इसका विवेचन काव्य-शास्त्रियों ने **भरत** के इस प्रसिद्ध सूत्र के आधार पर किया है :-

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"[1]

विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

इसमें रस की निष्पत्ति कैसे होती है, इसका वर्णन किया गया है; रस किसे कहते हैं ? इसका नहीं। किन्तु साहित्य शास्त्रियों ने इसके आधार पर रस की विभिन्न परिभाषायें की हैं जिनमें **अभिनव गुप्त** द्वारा की हुई परिभाषा मान्य हुई। उसे साहित्य दर्पणकार **विश्वनाथ कविराज** ने सरल शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

"विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥"[2]

- सहृदय (काव्य या नाट्य का आस्वादन करने वाले) के हृदय में वासना रूप में स्थित रत्यादि स्थायी भाव काव्य में वर्णित विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों द्वारा उद्बुद्ध होकर आनन्दात्मक अनुभूति में परिणत हो जाता है, उसे ही रस कहते हैं। अर्थात् विभावादि के द्वारा व्यक्त हुआ सहृदय सामाजिक का स्थायिभाव ही आनन्दात्मक अनुभूति में परिणत (रसता को प्राप्त) हो जाने के कारण रस कहलाता है।

आचार्य मम्मट ने रस का यही स्वरूप निम्नलिखित शब्दों में प्रतिपादित किया है

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥"

---

१. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय

२. साहित्य दर्पण, ३/१

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रस· स्मृतः ॥[१]

- लोक में रति आदि स्थायी भावों को उद्‌बुद्ध करने वाले जो कारण, कार्य और सहकारीकारण होते है, उनका नाट्य या काव्य में वर्णन होने पर वे क्रमशः **विभाव, अनुभाव** और **व्यभिचारिभाव** कहलाते हैं। उन सब के योग से जो (सामाजिक काव्य या नाट्य का पाठक या प्रेक्षक का) स्थायीभाव व्यक्त होता है वह **रस** कहलाता है।

रस सामग्री

इस प्रकार काव्य, नाट्यगत विभावादि तथा सामाजिक का स्थायीभाव रस सामग्री है। सामाजिक का स्थायिभाव रस का उपादान कारण है, काव्य-नाट्य में वर्णित विभावादि निमित्त कारण हैं। रस के स्वरूप को समझने के लिए विभावादि के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

विभाव

रसानुभूति के कारणों को **विभाव** कहते है। ये दो प्रकार के होते है - (१) आलम्बन विभाव, (२) उद्‌दीपन विभाव। काव्यनाट्य में वर्णित नायक-नायिकादि **आलम्बन विभाव** कहलाते हैं, क्योंकि इन्हीं के आलम्बन से सामाजिक का स्थायीभाव अभिव्यक्त होकर रस रूप में परिणत होता है -

"आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्‌गमात्" ।[२]

इसे स्पष्ट करते हुए **विश्वनाथ कविराज** कहते है - "लोकजीवन में जो सीता आदि, राम आदि या राम आदि, सीता आदि के रति, हास, शोक आदि भावों को उद्‌बुद्ध करने वाले कारण होते हैं, वे ही काव्य और नाट्य में निविष्ट होने पर "विभाव्यन्ते आस्वादांकुर प्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः इति विभावाः"[३] (इनके द्वारा सामाजिक के रत्यादिभाव आस्वाद योग्य बनाये जाते है) इस निरुक्ति के अनुसार **विभाव** कहलाते हैं। इनमें सामाजिक के रत्यादि भावों को उद्‌बुद्ध करने की योग्यता इसलिए आ जाती है कि काव्य-नाट्य में ये जनकतनयादिरूप व्यक्तिगत विशेषताओं से शून्य होकर साधारणीकृत हो जाते हैं।[४] अर्थात् सामान्य स्त्री-पुरुष के रूप में प्रतीत होते है।

---

१. काव्यप्रकाश, ४/२७-२८

२. साहित्य दर्पण, ३/२९

३ वही, वृति

४ वही, विमर्श हिन्दी व्याख्या

आलम्बन और आश्रय

शकुन्तला को देखकर यदि दुष्यन्त का रतिभाव जागरित होता है तो शकुन्तला उस रति का आलम्बन है और दुष्यन्त आश्रय। हास्य तथा वीभत्स रसों के प्रकरण में जहाँ आश्रय का वर्णन न हो, वहाँ आक्षेप द्वारा उसकी उपस्थिति माननी चाहिये अथवा सामाजिक ही लौकिक हास एवं जुगुप्सा तथा अलौकिक रसास्वादन दोनों का आश्रय हो सकता है।[1]

लोक जीवन में जो ज्योत्स्ना, उद्यान, नदी तीर, शीतल पवन, प्रेमी-प्रेमिका के हाव-भाव, शारीरिक सौन्दर्य आदि रत्यादि भाव को उद्दीपन करते हैं, वे काव्य नाट्य में वर्णित होने पर **उद्दीपन विभाव** कहलाते हैं। सामाजिक के रत्यादि को उद्बुद्ध करने में इनका भी योगदान होता है।

अनुभाव

साहित्य दर्पणकार ने **अनुभाव** का लक्षण इस प्रकार बतलाया है :--

"उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥"[2]

लोक में यथायोग्य कारणों से स्त्री पुरुषों के हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले जो शारीरिक व्यापार होते हैं, वे लोक मे रत्यादि भावों के कार्य तथा काव्यनाट्य में **अनुभाव** कहे जाते हैं। काव्य-नाट्य में इनकी अनुभाव संज्ञा इसलिये है कि ये विभावो द्वारा रसास्वाद रूप में अंकुरित किये गये सामाजिक के रत्यादि स्थायिभाव को रस रूप में परिणत करने का अनुभवन व्यापार करते हैं।[3]

अनुभावों की चार श्रेणियाँ हैं :--

(१) चित्तारम्भक, जैसे - हाव-भाव आदि

(२) गात्रारम्भक, जैसे - लीला, विलास, विच्छित्ति आदि

---

१. ननु क्रोधोत्साहभयशोकविस्मयनिर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु यथालम्बनाश्रययोः सम्प्रत्ययः न तथा हासे जुगुप्सायां च। तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतेः। पद्यश्रोतुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिकहासजुगुप्सा- श्रयत्वानुपपत्तेः। इति चेत् सत्यम्। तदाश्रयस्य दृष्टपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात्।
तदनाक्षेपे तु श्रोतुः स्वीयकान्तावर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात्।

- रसगंगाधर, प्रथम भाग, पृष्ठ ११२-११३

२. साहित्य दर्पण, ३/१३२

३. "अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम्।" साहित्यदर्पण, वृत्ति ३/१३२

(३) वागारम्भक, जैसे - आलाप, विलाप, संलाप आदि

(४) बुद्ध्यारम्भक, जैसे - रीति, वृत्ति आदि ।[1]

व्यभिचारिभाव

लोक में आलम्बन एवं उद्दीपक कारणों मे रत्यादि भाव के उद्‌बुद्ध होने पर जो ब्रीडा, चपलता, औत्सुक्य, हर्ष आदि भाव साथ में उत्पन्न होते हैं उन्हें लोक में **सहकारी भाव** तथा काव्य-नाट्य में **व्यभिचारिभाव** कहते हैं । इनका दूसरा नाम **संचारी भाव** भी है । काव्य-नाट्य में इनकी यह संज्ञा इसलिए है कि ये विभाव तथा अनुभावों द्वारा अंकुरित एवं पल्लवित सामाजिक के रत्यादि स्थायी भावों को सम्यक् रूप से पुष्ट करने का संचारण व्यापार करते हैं ।[2]

भरत मुनि ने इनकी संख्या ३३ बतलाई है, जो इस प्रकार है :-

निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति ब्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क ।

स्थायिभाव

पूर्व में कहा गया है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव रस के निमित्त कारण हैं, स्थायिभाव उपादान कारण हैं । स्थायीभाव मन के भीतर स्थायी रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है, जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उद्‌बोधक सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त होता है और हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार कर देता है । इस स्थायिभाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वादजनक या रस्यमान होने से रस शब्द से बोध्य होती है ।

व्यवहार दशा में मानव को जिस-जिस प्रकार की अनुभूति होती है उसको ध्यान में रखकर आठ प्रकार के स्थायिभाव साहित्य शास्त्र में माने गये हैं । **काव्यप्रकाशकार** ने उनकी गणना इस प्रकार की है :-

"रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहो भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्तिताः ॥"[3]

---

१. साहित्यदर्पण विमर्श, हिन्दी व्याख्या, पृ० २०१

२. "सञ्चारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक्चारणम्" - साहित्यदर्पण वृत्ति ३/१३

३. काव्यप्रकाश, ४/३०

- रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा (घृणा) और विस्मय ये **आठ स्थायिभाव** कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त निर्वेद को भी नौवाँ स्थायिभाव माना गया है। **काव्यप्रकाशकार** ने लिखा है:-

"निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।"[1]

इस प्रकार नौ स्थायीभाव और उनके अनुसार ही शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त नौ रस माने गये हैं।

ये नौ स्थायिभाव मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से सदा विद्यमान रहते हैं इसलिए "**स्थायिभाव**" कहलाते हैं। सामान्यरूप से अव्यक्तावस्था में रहते हैं किन्तु जब जिस स्थायिभाव के अनुकूल विभावादि सामग्री प्राप्त हो जाती है, तब वह व्यक्त हो जाता है और रस्यमान, आस्वाद्यमान होकर रसरूपता को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभाव ये चार रस सामग्री हैं। काव्य-नाट्य में प्रथम तीन का संयोग होने पर सहृदय सामाजिक का स्थायिभाव उद्बुद्ध होकर रस रूप में परिणत हो जाता है।

विभावनादि व्यापार के कारण विभावादि संज्ञा

उपर्युक्त तत्त्व काव्य-नाट्य में विभावादि क्यों कहलाते है ? कारण यह है कि लोकगत रत्यादि विभावों के कारण-कार्य सहकारी तत्त्व काव्य-नाट्य में अवतरित होते ही विभावन, अनुभावन और संचारण (व्यभिचारण) का अलौकिक व्यापार प्रारम्भ कर देते है। सामाजिक की रत्यादि वासनाओं (स्थायिभावों) को आस्वाद रूप में अंकुरित होने योग्य बनाना, **विभावन व्यापार है**। इस रूप में अंकुरित वासनाओं को तत्काल रसरूप में परिणत करना **अनुभावन व्यापार है**। इस तरह अंकुरित एवं पल्लवित रत्यादि वासनाओं को समग्ररूप से पुष्ट करना **संचारण** या **व्यभिचारण व्यापार है**। इन व्यापारों के कारण ही उनके विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव नाम हैं।[2]

---

१. काव्यप्रकाश, ४/३५

२. (क) "तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्म - परचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यास एव पाटवादधुना नैरेवोद्यानकटाक्षधृत्यादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिमवर्मातिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्ज -कत्वमात्रप्राणैः अतएवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः -------"

- अभिनवभारती, आचार्य विश्वेश्वर, पृ. ४८३

(ख) "तत्र विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वादांकुरणयोग्यतानयनम्। अनुभावमेवम्भू तस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम्। सञ्चारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक् चारणम्।"

- साहित्यदर्पण, वृत्ति, ३/१३

रसोत्पत्ति में तीनों ही कारण हैं

लोक में रत्यादि भावों के जो कारण, कार्य और व्यभिचारि भाव हैं, रसोद्‌बोध में वे तीनों ही सम्मिलित रूप से कारण हैं। जैसा कि **साहित्यदर्पणकार** ने कहा है –

कारणकार्यसञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः॥[1]

एक या दो के उक्त होने पर शेष का आक्षेप द्वारा योग

यहाँ प्रश्न है कि यदि विभावादि तीनों का सम्मिलित रूप ही रसोद्‌बोध में निमित्त है तो ऐसा क्यों होता है कि एक या दो का वर्णन होने पर ही रसोत्पत्ति हो जाती है ? समाधान यह है कि रसोत्पत्ति तो तीनों के योग से ही संभव है। जहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों में से दो या एक ही वर्णित हों और रसोद्‌बोध हो रहा हो तो यह समझना चाहिये कि प्रकरण वैशिष्ट्य के कारण अन्य भी वहाँ द्योतित हो रहे हैं और इस प्रकार वे तीनों वहाँ उपस्थित हैं।[2] उदाहरणार्थ -

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः,
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावुरालङ्गुली,
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः॥[3]

यहाँ मालविका के प्रेमी अग्निमित्र ने तो अपनी आँखों में उतरने वाले मालविका के शारीरिक सौन्दर्य मात्र का वर्णन किया है जो केवल (उद्‌दीपन) विभाव का वर्णन है। किन्तु अग्निमित्र द्वारा अपनी प्रेमिका के सौन्दर्य का वर्णन ऐसा प्रकरण है जिससे इस अवस्था में उसमें स्वभावतः व्यक्त होने वाले औत्सुक्यादि संचारीभावों तथा नेत्र विस्फार आदि अनुभावों का व्यंजना द्वारा आक्षेप हो जाता है।[4]

---

१. साहित्यदर्पण, ३/१४

२. (क) सद्‌भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्। झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते॥
- साहित्यदर्पण, ३/१६

(ख) "अन्यसमाक्षेपश्च प्रकरणवशात्" : वही, वृत्ति

३. मालविकाग्निमित्र, २/३

४. "अत्र मालविकामभिलषितो अग्निमित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽपि सञ्चारिणामौत्सुक्यादीनामनुभावानाञ्च नयनविस्फारादीनामौचित्यादेवाक्षेप. एवमन्याक्षेपेऽप्यूहयम्।"
- साहित्य दर्पण, ३/६

आचार्य मम्मट ने भी निम्नलिखित तीन उदाहरणों द्वारा यह बात स्पष्ट की है :-

वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः ।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥

इस पद्य में केवल नायक-नायिका रूप आलम्बन विभाव एवं वर्षा ऋतु के मेघरूप उद्दीपन विभाव का वर्णन है। किन्तु ये नायक-नायिका के रतिभाव को द्योतित करने वाले असाधारण लिंग हैं। अतः इनसे इस अवस्था में उसमें स्वभावतः व्यक्त होने वाले अनुभावों एवं व्यभिचारिभावों का व्यंजना द्वारा आक्षेप हो जाता है।

इसी प्रकार -

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः,
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥

यहां वियोगिनी नायिका के केवल अनुभावों (अंगम्लान, पाण्डुता आदि) का वर्णन है, किन्तु उससे नायिका के रति भाव का ज्ञापन होता है। अतः रति भाव से अनिवार्यतः सम्बद्ध नायक रूप आलम्बन विभाव एवं उद्दीपन विभावों का तथा इस अवस्था में नायिका में स्वभावतः प्रकट होने वाले व्यभिचारिभावों का वर्णित अनुभावों से व्यंजना द्वारा आक्षेप हो जाता है।

दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं,
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किंचाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानति व्यतिकरे बाष्पाम्बु पूर्णेक्षणं,
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्च चतुरं जातागसि प्रेयसि ॥

इस पद्य में नायिका के केवल औत्सुक्य, व्रीड़ा आदि व्यभिचारिभावों का वर्णन है, किन्तु ये भी रतिभाव के असाधारण लिंग हैं। अतः रतिभाव से अनिवार्यतः सम्बद्ध एवं अनुभावों का इससे व्यंजना द्वारा आक्षेप हो जाता है।

इसे स्पष्ट करते हुए **आचार्य मम्मट** कहते हैं –

"यद्यपि विभावानाम्, अनुभावानाम्, औत्सुक्यव्रीडाहर्षकोपासूयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः तथाप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति।"[१]

---

१. काव्यप्रकाश, ४/२८ की वृत्ति

यद्यपि यहाँ (इन तीनों श्लोकों में से पहले श्लोक में मुग्धा दयिता रूप आलम्बन और वर्षा रूप उद्दीपन) विभावों की, (दूसरे श्लोक में अंगम्लानि आदि) अनुभावों की और (तीसरे श्लोक में) औत्सुक्य, लज्जा, प्रसन्नता, कोप, असूया तथा प्रसाद रूप केवल व्यभिचारि भावों की ही स्थिति है। फिर भी इनके (प्रकृत रति के बोध में) असाधारण (लिंग) होने से उनके द्वारा शेष दो का आक्षेप हो जाने पर (विभाव आदि तीनों के संयोग से रसनिष्पत्ति के सिद्धान्त का) व्यभिचार नहीं होता है।

विभावादि के साधारणीकरण से रसोत्पत्ति

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्य में वर्णित जो सीतादि पात्र रामादि पात्रों के रत्यादि विभावों के उद्बोधक हैं, वे सामाजिक के रत्यादि भावों के उद्बोधक कैसे बन जाते हैं ?[1]

इसका समाधान यह है कि काव्य-नाट्य में साधारणीकरण नाम की शक्ति होती है, उससे विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है और विभावादि के साधारणीकरण से सामाजिक के स्थायिभाव का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय यह है कि काव्य-नाट्य वर्णित राम-सीतादि पात्र अपनी राम सीतादि रूप विशेषतायें छोड़कर सामान्य स्त्री-पुरुष के रूप में उपस्थित होते हैं। अतः उनके रत्यादि भाव, अनुभाव एवं संचारी भाव भी सामान्य स्त्री-पुरुष के भावों में परिवर्तित हो जाते हैं। इससे सामाजिक भी अपना व्यक्तिगत विशिष्ट रूप छोड़कर स्त्री या पुरुष मात्र रह जाता है। अर्थात् काव्य-नाट्य के पात्र तथा उनका साक्षात्कार करने वाला सामाजिक दोनों अपनी वैयक्तिकता से मुक्त होकर स्त्री-पुरुष मात्र रह जाते हैं। फलस्वरूप उनके रत्यादि भाव भी वैयक्तिकता से रहित होकर रत्यादि भाव मात्र शेष रहते हैं। इसे ही साधारणीकरण कहते हैं।[2] इस साधारणीकरण के होने पर काव्य-नाट्य के सीतादि पात्र, सामाजिक की रत्यादि के उद्बोधक हो जाते हैं। यही उनका विभावनादि व्यापार है। डॉ० नगेन्द्र ने इसे रामचरित मानस (बालकाण्ड दोहा २२६-२३१) से जनकवाटिका में गौरीपूजन के लिये आयी हुई सीताजी के प्रति राम के मन में उत्पन्न हुए रतिभाव का उदाहरण देकर इस प्रकार स्पष्ट किया है –

---

१. ननु कथं रामादिरत्याद्युद्बोधककारणैः सीतादिभिः सामाजिकरत्याद्युद्बोध इत्युच्यते ?

- साहित्यदर्पण, वृत्ति ३/९

२. "भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनो पस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन।" – काव्यप्रकाश, टीकाकार - गोविन्द ठक्कुर, "रससिद्धान्त" पृष्ठ १९७ से उद्धृत।

"यहां राम आश्रय है, सीता आलम्बन है, वासन्ती वैभव से समृद्ध जनकवाटिका उद्दीपन है, राम के पुलक आदि अनुभाव हैं, रति स्थायी है और हर्ष, वितर्क, मति आदि संचारी भाव हैं ।"

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग की रसास्वादन प्रक्रिया में साधारणीकरण हो जाता है । आश्रय राम के साधारणीकरण का अर्थ है कि वे राम न रह कर रति मुग्ध सामान्य पुरुष बन जाते हैं -- उनके देश और काल तथा उनसे अनुबद्ध वैशिष्ट्य तिरोभूत हो जाते हैं और नारी के सौन्दर्य से अभिभूत सामान्य किशोर मन उभर कर सामने आ जाता है । आलम्बन सीता के साधारणीकरण का आशय भी बहुत कुछ ऐसा ही है । अर्थात् उनका भी देश, कालावच्छिन्न वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है और सामान्य रूप शेष रह जाता है । अनुभव के साधारणीकरण से अभिप्राय यह है कि राम की चेष्टायें राम से सम्बद्ध न रहकर सामान्य मुग्ध पुरुष की चेष्टायें बन जाती हैं । इसी प्रकार रत्यादि स्थायिभाव और हर्ष, वितर्क आदि संचारी भाव भी एक ओर राम, सीता से और दूसरी ओर सहृदय तथा उसके आलम्बन से सम्बद्ध नहीं रह जाते, वे वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त हो जाते हैं । उपर्युक्त प्रसंग में जो रति स्थायि भाव है वह न राम की सीता के प्रति रति है, न सहृदय की सीता के प्रति और न सहृदय की अपने प्रणयपात्र के प्रति । यह तो निर्मुक्त रतिभाव है जिसमें स्व-पर की चेतना निश्शेष हो चुकी है । मूलतः यह सहृदय का ही स्थायी भाव है, परन्तु साधारणीकरण के कारण व्यक्ति चेतना से निर्मुक्त हो गया है । इस प्रकार रस के अवयवों में जो मूर्त है वे विशेष से सामान्य बन जाते हैं और जो अमूर्तभाव रूप हैं वे व्यक्ति संसर्गों से मुक्त हो जाते हैं -- विभावों की देशकाल के बन्धन से मुक्ति होती है और भावों की स्व-पर की चेतना से।[1]

रसोत्पत्ति सहृदय सामाजिक को ही

इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आलंकारिक धर्मदत्त कहते हैं :-

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः ॥[2]

– रस का स्वाद उन्हीं सामाजिकों को होता है जिन के हृदय में रत्यादि वासनाएँ विद्यमान हैं । जिनमें वासना ही नहीं, उन्हें रसास्वाद कैसे संभव है ? ऐसे लोग तो रंगशाला के स्तम्भ, दीवार और पाषाण के समान हैं ।

१. रस सिद्धान्त, पृष्ठ १९८-१९९
२. साहित्यदर्पण, ३/८ से उद्धृत

रस संख्या

काव्यशास्त्रियों ने नौ स्थायिभावों के अनुरूप नौ ही रस माने हैं -- शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। इन रसों के अतिरिक्त कुछ लोग भक्तिरस[१] एवं वात्सल्यरस[२] को भी रस में परिगणित करते हैं। पर इनका आधारभूत मौलिक स्थायिभाव न होने से इन्हे रस नहीं माना जा सकता। ईश्वर, माता-पिता एवं गुरु वर्ग के प्रति रति ही **भक्ति** कहलाती है तथा बड़ों की छोटो के प्रति रति या स्नेह को **वात्सल्य** कहते हैं। मानव मन में भक्ति का प्रादुर्भाव सामाजिक परिस्थितियों से लोक-परम्परा के अनुसार होता है। इसमें श्रद्धा और स्नेह का सम्मिश्रण होता है। अतः भक्ति का एक निश्चित स्थायिभाव न होने से यह रस नहीं है। साहित्य-शास्त्र में देवता विषयक रति को "**भाव**" कहा जाता है, रस नही। इसी प्रकार बड़ो का छोटों के प्रति वात्सल्य रति का ही रूपान्तर है। अलग तात्त्विक मूल स्थायिभाव नही है। इसलिये साहित्यशास्त्रियो ने भक्ति एवं वात्सल्य को रस नहीं माना है अपितु उनकी गणना भावों में की है। अतः साहित्य-शास्त्र के अनुसार भक्ति एवं वात्सल्य को भाव मानना ही उचित है, रस नहीं।

इस प्रकार रस नौ ही हैं, दस या ग्यारह नहीं।

जयोदय में रस

जयोदय में शृंगार, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक एवं वीभत्स रस की प्रभावशाली व्यंजना हुई है। इनमें शान्तरस काव्य का अंगीरस है, शेष रस उसके अंगभूत है।

शृंगाररस

काव्य-नाट्य में वर्णित उत्तम प्रकृति के परम्परानुरक्त युवक-युवतियों की अनुरागमय चेष्टाओं का साक्षात्कार करने से सामाजिक का जो रतिभाव उद्बुद्ध होकर आनन्दात्मक अनुभति में परिणत हो जाता है वह **शृंगार रस** कहलाता है।[३] शृंगार रस की दो अवस्थायें होती हैं - संभोग और विप्रलम्भ।[४] इन दोनों अवस्थाओं में समान रूप से विद्यमान

---

१. ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः। नैतिभक्तिः सुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥ १९
- रूपस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्वविभागे प्रथमा, सामान्य भक्ति लहरी।

२. साहित्य दर्पण, ३/२५१-२५४ का पूर्वार्द्ध

३. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय

४. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय

नायिकादिगत रति के निमित्त से आस्वाद्यमान हो जाने वाली सामाजिक की रति शृंगार है।[1]

जयोदय में स्वयंवरोत्सव, विवाहोत्सव, सुरतक्रीड़ा, बिहार, पान-गोष्ठी आदि के सन्दर्भ में सम्भोग-शृंगार की सुन्दर व्यंजना हुई है।

स्वयंवर सभा में नायिका सुलोचना स्वयंवरण के लिए राजाओं का निरीक्षण करती है। क्रमशः एक एक राजा को देखती है और आगे बढ़ जाती है। जब जयकुमार के समीप पहुँचती है तो उसके रूपसौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाती है। हृदय में उसके प्रति अनुराग उमड़ आता है। वह वरमाला पहनाना चाहती है किन्तु नारी सुलभ लज्जा उसे संकुचित करती है। उसके नेत्र भी बार-बार जयकुमार की रूपसुधा का पान करने के लिये ऊपर उठते हैं किन्तु लज्जा के वशीभूत हो झुक जाते हैं। अन्ततः लज्जा पराजित हो जाती है और काम विजयी होता है। सुलोचना अपलक नेत्रों से जयकुमार का मुख निहारने लगती है। जयकुमार भी सरागभाव से सुलोचना की आँखों में आँखें डाल देता है और वे अपने हृद्गत अनुराग का आदान-प्रदान करने लगते हैं। सखी की प्रेरणा से सुलोचना काँपते हुए हाथों से जयकुमार के गले में वरमाला पहना देती है तब जयकुमार के स्पर्श से सुलोचना की देह रोमांचित हो उठती है मानो वर की शोभा देखने के लिये रोम-रोम उठकर खड़ा हो गया हो।

यहाँ शृंगार के आलम्बन, उद्दीपन विभावों, अनुभावो और व्यभिचारी भावों के स्वाभाविक वर्णन से शृंगार-रस छलक-छलक पड़ता है। उदाहरण द्रष्टव्य है -

हृद्गतमस्या दयितं न तु प्रयातुं शशाक सहसाऽक्षि।
सम्यक् कृतस्तदानीं तयाऽक्षिणिलज्जेति जनसाक्षी ॥ ६/११८

भूयो विरराम करः प्रियोन्मुखः सन् स्रगन्वितस्तस्याः।
प्रत्याययौ दृगन्तोऽप्यर्थपथाच्चपलताऽऽलस्यात् ॥ ६/११९

तस्योरसि कम्प्रकरा मालां बाला लिलेख नतवदना।
आत्माङ्गीकरणाक्षरमालामिव निश्चलामधुना ॥ ६/१२३

सम्पुलकिताङ्गयष्टेरुद्ग्रीवाणीव रेजिरे तानि।
रोमाणि बालभावाद्वरश्रियं द्रष्टुमुत्कानि ॥ ६/१२४

---

१. अभिनवभारती, पृष्ठ ५४३

जब जयकुमार और सुलोचना को विवाह मण्डप में लाया जाता है तब वे एक दूसरे को सतृष्ण भाव से देखते हैं, वार्तालाप करते हैं और आनन्दित होते हैं। यहाँ सुलोचना के रूपसौन्दर्य और प्रेमी-युगल के रसात्मक अनुभावों के वर्णन से शृंगार-रस की धारा प्रवाहित होती है।

तरलायतवर्तिरागता साऽभव-
दत्रस्मरदीपिका स्वभासा।
अभिभूततमाः सभा जनानां
किमिव स्नेहमिति स्वयं दधाना ॥१०/११४

दृक् तस्य चायात्स्मरदीपिकायां
समन्ततः सम्प्रति भासुरायाम्।
द्रुतं पतङ्गावलिवत्तदङ्गाऽ -
नुयोगिनी नूनमनङ्गसङ्गात् ॥१०/११५

अभवदपि परस्परप्रसादः पुनरुभयोरिह तोषपोषवादः।
उषसि दिगनुरागिणीति पूर्वा रविरपि हृष्टवपुर्विदो विदुर्वा॥१०/११६

नन्दीश्वरं सम्प्रति देवदेव पिकाङ्गना चूतकसूतमेव।
वस्वौकसारार्कमिवात्र साक्षीकृत्याशु सन्तं मुमुदे मृगाक्षी ॥१०/११७

अध्यात्मविद्यामिव भव्यवृन्दः,
सरोजराजिं मधुरां मिलिन्दः।
प्रीत्या पपौ सोऽपि तकां सुगौर-
गात्रीं यथा चन्द्रकलां चकोरः ॥ १०/११८

- चंचल एवं विशाल नेत्रों वाली सुलोचना ज्यों ही मण्डप में प्रविष्ट हुई त्यों ही उसकी कान्ति से मण्डप जगमगा उठा। सौन्दर्य की राशि सुलोचना दर्शकों के लिए कामदेव की दीपिका सी प्रतीत हुई। जयकुमार की दृष्टि सुलोचना पर पड़ी और उसके अंगों से इस प्रकार लिपट गई जैसे दीपक पर पतंगों का समूह लिपट जाता है। वे एक दूसरे को देखने लगे। सुलोचना जयकुमार को देखकर इस प्रकार प्रसन्न हुई जैसे नन्दीश्वर को देखकर इन्द्र प्रसन्न होता है, आम्रमंजरी को देखकर कोयल और सूर्य को देखकर कमलिनी। जैसे मुक्ति के अभिलाषी अध्यात्मविद्या को, भ्रमर कमलपंक्ति को तथा चकोर चन्द्रकला को प्रेम से पीते हैं; उसी प्रकार जयकुमार ने मनोहरांगी सुलोचना को प्रेम से पान किया।

हास्यरस

हास्योत्पादक विभावों, अनुभावों एवं व्यभिचारिभावों के वर्णन से हास्य-रस की अभिव्यंजना होती है। जयोदय में हास्यरस की सृष्टि दो स्थलों पर हुई है। काशी नगरी में जयकुमार की बारात निकलती है तो वहाँ की स्त्रियाँ जयकुमार को देखने के लिए इतनी उतावली हो जाती हैं कि जल्दी-जल्दी में वे उल्टा-सीधा शृंगार कर लेती हैं और आभूषण भी उल्टे-सीधे पहन लेती हैं। कोई स्त्री कस्तूरी का लेप ललाट पर न कर आँख में कर लेती है, कोई अंजन को आँख के बदले कपोल पर आँज लेती है और कोई हार को गले में न पहन कर कमर में बाँध लेती है। नारियों का यह शृंगारविपर्यय हास्यरस की व्यंजना का हेतु बन गया है -

> दृशि चैणमदः कपोलकेऽञ्जनकं हारलतावलग्नके।
> रशना तु गलेऽबलास्विति रयसम्बोधकरी परिस्थितिः॥ 10/59

सुलोचना के विवाह में पंक्तिभोज के अवसर पर बारातियों और भोजन परोसने वाली स्त्रियों के बीच जो हास-परिहास होता है, वह भी हास्यरस का व्यंजक है।

किसी बाराती युवक ने भोजन परोसने वाली एक युवती से कहा है - "मैं तेरे सम्मुख प्यासा हूँ"। युवती इसका अभिप्राय नहीं समझी और जल का कलश उठा कर ले आयी। युवती का यह भोलापन हास्यरस की झड़ी लगा देता है। देखिए -

> तव सम्मुखमस्म्यहं पिपासुः सुदतीत्थं गदितापि मुग्धिकाशु।
> कलशीं समुपाहरत्तु यावत् स्मितपुष्पैरियमञ्चितापि तावत्। 12/119

रौद्ररस

नायकादि के क्रोध को प्रबुद्ध एवं उद्दीपन करने वाले कारणों और उसकी क्रुद्ध दशा के वर्णन से रौद्ररस की अभिव्यक्ति होती है।

जयोदय के सातवें सर्ग में रौद्र रस की अभिव्यंजना हुई है। जब नायिका सुलोचना स्वयंवर सभा में उपस्थित अनेक राजकुमारों को छोड़कर जयकुमार का वरण कर लेती है तो दुर्मर्षण इसे अपने स्वामी अर्ककीर्ति का अपमान समझ लेता है। वह अर्ककीर्ति को जयकुमार के प्रति उत्तेजित करता है। परिणामस्वरूप वह सुलोचना के पति जयकुमार एवं

पिता अकम्पन के प्रति क्रोध से प्रज्वलित हो उठता है। उसकी क्रुद्ध दशा के वर्णन से रौद्ररस की अभिव्यक्ति हुई है -

कल्यां समाकलय्योग्रामेनां भरतनन्दनः।
रक्तनेत्रो जवादेव बभूव क्षीबतां गतः॥ ७/१७॥

दहनस्य प्रयोगेण तस्येत्थं दारुणेङ्गितः।
दग्धश्चक्रिसुतो व्यक्ता अङ्गारा हि ततो गिरः॥ ७/१८॥

अहो प्रत्येत्ययं मूढ आत्मनोऽकम्पनाभिधाम्।
नावैति किन्तु मे कोपं भूभृतां कम्पकारणम्॥ ७/२०॥

गाढमुष्टिरयं खड्गः कवलोपसंहारकः।
सम्प्रत्यर्थी च भूभागे हीयात् सत्त्वमितः कुतः॥ ७/२१॥

राज्ञामाज्ञावशोऽवश्यं वश्योऽयं भो पुनः स्वयम्।
नाशं काशीप्रभोः कृत्वा कन्यां धन्यामिहानयेत्॥ ७/२२॥

- दुर्मर्षण की वाणीरूप तेज मदिरा का पान कर अर्ककीर्ति के नेत्र लाल हो गये। उसकी वाक्रूप अग्नि के कारण अर्ककीर्ति धधक उठा। धधकने के कारण उसके मुख से अंगारवत् वचन निकलने लगे। वह बोला - यह मूर्ख अकम्पन अपने नाम पर विश्वास करता है, किन्तु मेरे क्रोध को नहीं जानता, जो पर्वत से अचल राजाओं को कंपित करता है। यह मेरा खड्ग सुदृढ़ मुष्टि वाला है, यह यमराज की शक्ति की भी चिन्ता नहीं करता फिर इस पृथ्वी पर कोई शत्रु कैसे जीवित रह सकता है ? मेरी यह तलवार मेरे वश में है तथा राजाओं को मेरे आधीन करने वाली है। इसलिये यह स्वयं ही काशी नरेश अकम्पन का नाशकर भाग्यशालिनी कन्या सुलोचना को मेरे पास ले आवेगी।

वीररस

उत्साह से परिपूर्ण नायकादि उनके उत्साह को बढ़ाने वाले कारणों तथा उत्साह को अभिव्यक्त करने वाले अनुभावों और व्यभिचारी भावों के वर्णन से वीररस की अभिव्यक्ति होती है।

जयोदय में युद्ध के सन्दर्भ में वीररस की व्यंजना हुई है। जब जयकुमार को दूत द्वारा यह समाचार मिलता है कि अर्ककीर्ति युद्ध करने का हठ छोड़ने के लिये तैयार नहीं

है तो वह राजा अकम्पन से कहता है - *हे राजन् ! सांप आया, सांप आया "यह सुनकर लोग भले ही आश्चर्य में पड़ जावें, किन्तु वह गरुड़ के मुंह में कमल की नाल के समान कोमल होता है ।"* (अर्थात् आप लोग भले ही अर्ककीर्ति से डरें, पर मैं नहीं डरता) अब चिन्ता करने से क्या लाभ ? आप तो सावधानीपूर्वक सुलोचना की रक्षा करें। उस दुष्ट बन्दर (अर्ककीर्ति) को बाँधकर शीघ्र ही आपके समक्ष उपस्थित करूंगा। आपको चिन्ता हो सकती है कि मेरे पास सैन्यबल नहीं है, पर आप यह स्मरण रखें कि बल की अपेक्षा नीति ही बलवान् होती है। हाथियों को नष्ट करने वाला सिंह भी अष्टापद की नीति के बल पर शीघ्र ही मारा जाता है। इस प्रकार कहते हुए जयकुमार आवेश से भर गया और युद्ध के लिए तैयार हो गया। कवि के शब्द इस प्रकार हैं -

पन्नगोऽयमिह पन्नगोऽन्तरे इत्यवाप्तबहुविस्मयाः परे ।
सन्तु किन्तु स पतत्पतेरलमास्य उत्पलमृणालपेशलः ॥ ७/७५ ॥

किं फलं विमलशीलशोचनाद्रक्ष साक्षिकतया सुलोचनाम् ।
तं बलीमुखबलं बलैरलं पाशबद्धमधुनेक्षतां स्वनम् ॥ ७/७७ ॥

नीतिरेव हि बलाद् बलीयसी विक्रमोऽध्वविमुखस्य को वशिन् ।
केसरी करिपरीतिकृद्रयाद्धन्यते स शबरेण हेलया ॥ ७/७८ ॥

संप्रयुक्तमृदुसूक्तमुक्तया पद्ययेव कुरुभूमिभुक्तया ।
संवृतः श्रममुषा रुषा रयाद्यक्षुषि प्रकटितानुरागया ॥ ७/८२ ॥

यहाँ जयकुमार के युद्धोत्साह को व्यक्त करने वाले वीरतापूर्ण वचन सामाजिक के उत्साह को उद्बुद्ध कर उसे वीररस की अनुभूति कराते हैं।

भयानकरस

भयोत्पादक विभावों तथा भय व्यंजक अनुभावों और व्यभिचारी भावों का वर्णन कर कवि भयानकरस की अनुभूति कराता है।

जयोदय में भयानक रस का यह प्रकरण अत्यन्त प्रभावशाली है। युद्धस्थल में योद्धाओं के विदीर्ण वक्षस्थल से मोतियों के हार टूट कर गिर जाते हैं। उन हारों के बिखरे मोती रक्त से लथपथ हो जाते हैं, जो यमराज के दाँतों के समान दिखायी देते हैं। उस युद्ध भूमि में एक योद्धा ने आवेश के साथ अपने प्रतिपक्षी योद्धा का सिर काट डाला जो तेजी से आकाश में उछला। वह नीचे गिरने ही वाला था कि वहाँ स्थित किन्नरियाँ उस सिर को

देखकर यह समझीं कि यह हमारे मुखचन्द्र को ग्रसने के लिए राहू आ रहा है, और वे भयभीत हो गईं -

> भिन्नेभ्यः आरात्पतिता विकीर्णा वक्षःस्थलेभ्यो मृदुहारचाराः ।
> सरक्तकान्ता दशना इवाभुः परेतराजोऽथ चकेस्तता भूः ॥ ८/३०
>
> विलूनमन्यस्य शिरः सजोवं प्रोत्पत्य खात्संपतदिष्टपीवम् ।
> काकोदुपे किम्पुरुषाङ्गनाभिः क्नृप्तमवलोक्याथ च राहुणा भीः ॥ ८/३४॥

यहाँ युद्ध की भयानकता का वर्णन है जिससे सहृदय का "भय" स्थायि भाव अभिव्यक्त होकर भयानकरस के रूप में परिणत हो जाता है ।

वीभत्सरस

अहृद्य, अप्रिय और अनिष्ट पदार्थों के वर्णन से वीभत्सरस की सृष्टि होती है ।

जयोदय में कवि ने जयकुमार और अर्ककीर्ति के युद्धोपरान्त रणभूमि के जुगुप्सोत्पादक दृश्य का वर्णन कर वीभत्सरस की अनुभूति कराई है -

> अप्राणकैः प्राणभृतां प्रतीकैरमानि वाजिः प्रतता सतीकैः ।
> अभीष्टसंभारवती विशालाऽसौ विश्वसृट्ः खलु शिल्पशाला ॥ ८/३७ ॥
>
> पित्सत्सपक्षाः पिशिताशनायायान्तस्तदानीं समरोर्वरायाम् ।
> चराश्च पूत्कारपराः शवानां प्राणा इवाभुः परितः प्रतानाः ॥ ८/३९ ॥

- युद्ध भूमि योद्धाओं के कटे हुए मस्तक, हाथ, पैर आदि अवयवों से आकीर्ण हो गई । वह ऐसी प्रतीत होती थी मानों विश्वकर्मा की शिल्पशाला हो । गिद्धों का समूह मृतकों का मांस खाने के लिए टूट पड़ रहा था । पंख फड़फड़ाते हुए गिद्ध ऐसे लगते थे जैसे योद्धाओं के फूत्कारपूर्वक निकलते हुआ प्राण हों ।

शान्तरस का स्वरूप

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में शान्तरस का लक्षण इस प्रकार निरूपित किया है -

"अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः ।"[1]

अर्थात् आस्वाद्य अवस्था को प्राप्त शम स्थायिभाव शान्तरस कहलाता है । वह मोक्ष की ओर ले जाने वाला है ।

---

१. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय

शान्तरस के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं -

"यत्र न दुःखं न सुखं द्वेषो नापि च मत्सरः ।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथतो रसः ॥"[१]

जब न दुःख की अनुभूति होती है, न सुख की, न द्वेष की; न ईर्ष्या की; अपितु समस्त प्राणियों के प्रति समभाव की अनुभूति होती है, उस अवस्था का नाम **शान्तरस** है ।

काव्यानुशासनकार **आचार्य हेमचन्द्र** ने शान्तरस का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया है -

"वैराग्यादिविभावस्तृष्णाक्षयरूपः शमः स्थायिभावश्चर्वणां प्राप्तः शान्तो रसः ।"[२]

वैराग्यादि विभावों के निमित्त से चर्वणा (आस्वाद) को प्राप्त तृष्णाक्षयरूप "शम" स्थायिभाव **शान्तरस** कहलाता है ।

शान्तरस के विभाव

तत्त्वज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि शान्तरस के विभाव हैं, जैसा कि **भरत मुनि** ने कहा है :-

"स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभावैः समुत्पद्यते ।"[३]

काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र ने वैराग्य, संसारभीरुता, तत्त्वज्ञान, वीतरागपरिशीलन, परमेश्वरानुग्रहादि को शान्तरस का विभाव बतलाया है -

"वैराग्यसंसारभीरुतातत्त्वज्ञानवीतरागपरिशीलनपरमेश्वरानुग्रहादिविभावो यमनियमाध्यात्मशास्त्रचिन्तनाद्यनुभावो धृतिस्मृतिनिर्वेदमत्यादिव्यभिचारी तृष्णाक्षयरूपः शमः स्थायिभावश्चर्वणां प्राप्तः शान्तो रसः ।"[४]

नाट्यदर्पणकार भी उपर्युक्त तत्त्वों को ही शान्तरस का विभाव मानते हैं -

"संसारभयवैराग्यतत्त्वशास्त्रविमर्शनः ।
शान्तोऽभिनयनं तस्य क्षमा ध्यानोपकारतः" ॥

देवमनुष्यनारकतिर्यग्रूपेण बहुधा परिभ्रमणं संसारः, तस्माद् भयम् । वैराग्यं विषयवैमुख्यम् । तत्त्वस्य जीवाजीवपुण्यपापादिरूपपदार्थशास्त्रस्य मोक्षहेतुप्रतिपादकस्य विमर्शनं पुनः पुनश्चेतसि

---

१. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय
२. काव्यानुशासन
३. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय
४. काव्यानुशासन, २/१६

न्यसनम् । एवमादिभिर्विभावैः कामक्रोधलोभमानमायाद्यनुपरक्ततो परोन्मुखता विवर्जिताक्लिष्ट-चेतोरूपशमस्थायिशान्तो रसो भवतिः ।[१]

अर्थात् देव, मनुष्य, नारक और तिर्यंच के रूप में निरन्तर परिभ्रमण करना संसार कहलाता है । उससे भय होना संसारभय है । विषयों से विमुख हो जाना वैराग्य है । जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि तत्त्वों का तथा मोक्षमार्ग के प्रतिपादक शास्त्र का बार-बार चिन्तन करना तत्त्वशास्त्र का विमर्शन है । इन विभावों से जब काम, क्रोध, लोभ, मान, माया आदि से रहित स्वात्मोन्मुख क्लेशरहित चित्तरूप "शम" स्थायिभाव चर्वणा को प्राप्त होता है, तब वह **शान्तरस** कहलाता है ।

इसप्रकार तत्त्वज्ञान, वैराग्य, संसारभय, चित्तशुद्धि आदि शान्तरस के विभाव हैं.

शान्तरस के अनुभाव

भरत मुनि के अनुसार यम, नियम, अध्यात्मध्यान, धारणा, उपासना, सर्वभूतदया, संन्यासधारण आदि शान्तरस के अनुभाव हैं -

"तस्य यमनियमाध्यात्मध्यानधारणोपासनसर्वभूतदयालिङ्ग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।"[२]

काव्यानुशासनकार **आचार्य हेमचन्द्र** अध्यात्मशास्त्र चिन्तन को भी शान्तरस का अनुभाव मानते हैं ।

शान्तरस के व्यभिचारिभाव

निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ, रोमांच आदि शान्तरस के व्यभिचारिभाव हैं -

"व्यभिचारिणश्चास्यनिर्वेद-स्मृति-धृति-शौच-स्तम्भ-रोमाञ्चादयः ।"[३]

शान्तरस सत्ताविषयक विवाद

शान्तरस की स्थिति के विषय में न केवल आधुनिक विद्वानों में किन्तु प्राचीन विद्वानों में भी मतभेद पाया जाता है । इस मतभेद का मुख्य आधार भरतमुनि का "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः" यह श्लोक है । भरत के इसी वचन के आधार पर प्राचीन आचार्यों में महाकवि कालिदास, अमरसिंह, भामह और दण्डी आदि ने भी नाट्य के आठ ही रसों का उल्लेख किया है तथा शान्तरस का प्रतिपादन नहीं किया है । इसके विपरीत उद्भट,

---

१. नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक

२. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय

३. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय

आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने स्पष्टरूप से शान्तरस का प्रतिपादन किया है। बड़ौदा से प्रकाशित "अभिनवभारती" व्याख्या मे युक्त भरत-नाट्यशास्त्र के द्वितीय संस्करण के सम्पादक श्री रामस्वामी शास्त्री शिरोमणि ने लिखा है कि शान्तरस की स्थापना सबसे पहले भरत नाट्यशास्त्र के टीकाकार उद्भट ने अपने "काव्यालंकार संग्रह" नामक ग्रन्थ में की है। उसके बाद आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त आदि ने उसका समर्थन किया है। उद्भट के पहले शान्तरस की कोई सत्ता नहीं मानी जाती थी। भरत नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में भी शान्तरस का वर्णन पाया जाता है, परन्तु उसके विरोध में उक्त सम्पादक महोदय का मत है कि वह प्रक्षिप्त या बाद का बढ़ाया हुआ है। इस अंश को प्रक्षिप्त मानने के लिये उन्होंने दो हेतु दिये हैं। पहिला हेतु तो यह है कि भरत मुनि ने पहिले तो आठ ही रसों का उल्लेख किया है तब बाद में नवम रस का वर्णन उनके ग्रन्थ में नहीं होना चाहिए था, अतः यह अंश प्रक्षिप्त है। उनकी दूसरी उक्ति यह है कि शान्तरस वाला यह प्रकरण "नाट्य शास्त्र" की कुछ पाण्डुलिपियों में पाया जाता है। इसलिये वे उसको प्रक्षिप्त मानते हैं और शान्तरस की सत्ता न माननेवाले पक्ष के समर्थक हैं। प्राचीन आचार्यों में शान्तरस के सबसे प्रबल विरोधी दशरूपककार धनञ्जय एवं उनके टीकाकार अधिक हैं। उन्होंने दशरूपक तथा उसकी टीका दोनों में बड़ी प्रौढ़ता से शान्तरस का खण्डन किया है।

शान्तरस की सत्ता के विरोध में जो तर्क दिये जाते हैं, उनमें प्रमुख दो हैं :-

(१) शान्तरस उस अवस्था का नाम है जहाँ न दुःख का अनुभव होता है, न सुख का, न कोई चिन्ता होती है, न राग और न द्वेष, न कोई इच्छा। समस्त पदार्थों के प्रति समलोष्टाश्मकाञ्चनवत् समभाव का अनुभव होता है। इस अवस्था का अनुभव केवल परमात्म स्वरूप प्राप्तिरूप मोक्षदशा में ही हो सकता है, जिसमें व्यभिचारी आदि भावों का सर्वथा अभाव होता है तब इस अवस्था को रस कैसे माना जा सकता है ?[1]

(२) धनञ्जय एवं धनिक का कथन है कि शान्तरस का अभिनय संभव नहीं है। क्योंकि शान्तरस का स्थायिभाव "शम" है और "शम" उस अवस्था का नाम है जिसमें सभी प्रकार की चेष्टाओं का उपशम (अभाव) हो जाता है। किन्तु चेष्टा के अभाव का

१ ननु - न यत्र दुःखसुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ॥
इत्येवं रूपस्य शान्तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तत्र सञ्चार्यादीनामभावात् कथं रसत्वमिति ?- साहित्यदर्पण, ३/२४९

अभिनय संभव नहीं है। निद्रा और मूर्च्छा आदि जिसको लोक में चेष्टारहित स्थिति कहा जाता है, उसका भी श्वास-प्रश्वास आदि तथा गिरने या पृथ्वी पर सोने आदि चेष्टाओं द्वारा ही नाटक में प्रदर्शन किया जाता है। इसलिए व्यापार शून्यतारूप "शम" का अभिनय कदापि संभव नहीं है, अतः नाट्य में शान्तरस की सत्ता नहीं मानी जा सकती।

शान्तरस विरोधी तर्कों का खण्डन

(१) उपर्युक्त तर्कों का खण्डन **अभिनवभारतीकार** ने निम्नलिखित तर्क से किया है। वे कहते हैं - "धर्मशास्त्रों में मनुष्य के चार पुरुषार्थ बतलाये गये हैं - धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। मनुष्य में जैसे कामादि (धर्म, अर्थ, काम) पुरुषार्थों की साधक रत्यादि चित्तवृत्तियाँ होती हैं वैसे ही मोक्षपुरुषार्थ की साधक "शम" चित्तवृत्ति भी होती है। जैसे सहृदय सामाजिकों की रत्यादि चित्तवृत्तियाँ कवियों और नटों के व्यापार द्वारा आस्वाद्ययोग्य बना कर रसत्व को प्राप्त करायी जाती हैं, वैसे ही "शम" चित्तवृत्ति भी उनके व्यापार द्वारा रसत्व को क्यों नहीं प्राप्त करायी जा सकती है ? अभिप्राय यह है कि करायी जा सकती है। अतः शान्तरस का अस्तित्व है।[1]

(२) **साहित्यदर्पणकार** शान्तरस का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं - शान्तरस का स्थायिभावभूत ऐसा "शम" है जो युक्त (ब्रह्मध्यानमग्न) तथा वियुक्त (सिद्ध) अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। अतः उसमें व्यभिचारिभावों का परिपोष होता है जिससे वह रसता को प्राप्त होता है।

शान्तरस में जिस सुखाभाव की चर्चा की गई है वह वैषयिक सुखाभाव है, आत्मोत्थ परमसुख का अभाव नहीं, जैसा कि **महाभारत** के निम्न श्लोक से स्पष्ट है -

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

विषयभोग से लौकिक-सुख मिलता है और स्वर्ग में रहने से दिव्य-सुख प्राप्त होता है। ये दोनों सुख तृष्णाक्षय से उत्पन्न होने वाले अतीन्द्रिय आत्मसुख के सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं है।

---

१. **"अत्रोच्यते-इह तावद् धर्मादित्रितयमिव मोक्षोऽपि पुरुषार्थः शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम्। यथा च कामादिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्याः कविनटव्यापारेण आस्वादयोग्यताप्राप्यद्वारेण तथा विशिष्टहृदयसंवादवतः सामाजिकान् प्रति रसत्वं शृंगारादितया नीयन्ते तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्तिः किमिति रसत्वं नानीयते इति वक्तव्यम् ? या चासौ तथाभूताश्चित्तवृत्तिः सैवात्र स्थायिभावः।" - अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय पृ० ६१३**

तात्पर्य यह है कि शान्तरस की अवस्था में अतीन्द्रिय आत्मसुख का अनुभव होता है।

(३) धनञ्जय आदि विद्वानों का यह मत समीचीन नहीं है कि "शम" की अवस्था में चेष्टाओं का उपशम हो जाने से शान्तरस का अभिनय नहीं हो सकता। "शम" की अभिव्यक्ति लौकिक सुख-दुःख के प्रति विराम के प्रदर्शन मात्र से की जा सकती है। पात्र के अन्तःसंघर्ष को प्रकट करते हुए सत्यप्राप्ति अथवा आत्मज्ञान के प्रति किये गये प्रयत्नों का दिग्दर्शन मात्र ही शान्तरस को उपस्थित कर सकता है।

(४) कुछ लोगों का मत है कि शान्तरस सर्वजनसंवेद्य नहीं होता। इसका समाधान यह है कि सभी रस सभी व्यक्तियों के लिये उपयुक्त नहीं होते। शृंगाररस भी सर्वजन संवेद्य नहीं है, फिर भी उसे रसराज स्वीकार किया गया है। शान्तरस भी सर्वजनसंवेद्य नहीं है, किन्तु जिनकी मनोदशा वीतरागता की ओर उन्मुख है, उनके द्वारा संवेद्य है, अतः वह सहृदय संवेद्य है।

शान्तरस स्थायिभावविषयक विवाद

शान्तरस का स्थायिभाव क्या है? इस विषय में सभी विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग "निर्वेद" को शान्तरस का स्थायिभाव मानते हैं तो कुछ लोग "शम" को। जो लोग "निर्वेद" को शान्तरस का स्थायिभाव मानते हैं, वे इसके समर्थन में निम्न तर्क देते हैं -

(१) निर्वेद दो प्रकार का होता है - दारिद्र्यादि से उत्पन्न तथा तत्त्वज्ञानजन्य। तत्वज्ञानजन्य निर्वेद मोक्ष का कारण है, इसलिए वही शान्तरस का स्थायिभाव है।[1]

(२) भरतमुनि ने स्थायिभावों के बाद जब व्यभिचारिभावों की गणना करायी है तब तैंतीस व्यभिचारी भावों में सर्वप्रथम निर्वेद की गणना की है, इससे भी सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद ही शान्तरस का स्थायी भाव है। यदि वह शान्तरस का स्थायिभाव न होता तो अमंगल रूप होने के कारण उसकी सर्वप्रथम गणना न कराते। तात्पर्य यह कि अमंगलरूप होते हुए भी व्यभिचारी भावों में जो उसकी सर्वप्रथम गणना की गई है, उसका कारण यही है कि वह शान्तरस का स्थायिभाव है।

---

१. अभिनव भारती, षष्ठ अध्याय, पृ० ६१४

यद्यपि "निर्वेद" की गणना व्यभिचारी भावों में की गई है किन्तु भरत मुनि का यह मत है कि एक रस का स्थायिभाव दूसरे रस में व्यभिचारी भाव हो सकता है। अतः "निर्वेद" शान्तरस में स्थायिभाव है तथा अन्य रसों में व्यभिचारिभाव।[1]

(३) तत्त्वज्ञानजन्य "निर्वेद" केवल स्थायिभाव ही नहीं है अपितु भरत मुनि का यह मत है कि रत्यादि स्थायिभावों का मर्दन करने वाला भी है। इसलिये वह रति आदि से भी अधिक स्थायिभाव वाला है। अतः तत्त्वज्ञानजन्य "निर्वेद" ही शान्तरस का स्थायिभाव है।[2]

निर्वेद का खण्डन, शम की स्थापना

अभिनवगुप्त ने **अभिनवभारती** में इस मत का खण्डन किया है। वे निर्वेद को शान्तरस का स्थायिभाव नहीं मानते हैं अपितु "शम" को शान्तरस का स्थायिभाव स्वीकार करते हैं।

उनका कथन है कि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को शान्तरस का स्थायिभाव मानने से एकमात्र तत्त्वज्ञान के ही शान्तरस के विभाव होने का प्रसंग आता है। दूसरी बात यह है कि निर्वेद का अर्थ है समस्त विषयों से विरक्ति होना। इस प्रकार वैराग्य का ही दूसरा नाम "निर्वेद" है। वह तत्त्वज्ञान से उत्पन्न नहीं होता अपितु पहिले वैराग्य होता है फिर तत्त्वज्ञान। अतः तत्त्वज्ञान से उत्पन्न वैराग्य या "निर्वेद" को शान्तरस का स्थायिभाव नहीं माना जा सकता। फलस्वरूप शमरूप चित्तवृत्ति ही शान्तरस का स्थायिभाव है।[3]

"निर्वेद" को शान्तरस का स्थायिभाव क्यों नहीं माना जा सकता है ? शम को ही उसका स्थायिभाव क्यों मानना चाहिये, इसका सयुक्तिक प्रतिपादन **काव्यप्रकाश** के **प्रदीप-टीकाकार** ने किया है। वे कहते हैं कि शान्तरस की भावना तो अनिवार्य है, परन्तु

१,२- एतत्तु चिन्त्यं किन्नामां सौ। तत्त्वज्ञानो त्थिनिर्वेद" इति केचित्। तथाहि (१) दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदः स ततोऽन्यहेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात्। स्थायिसञ्चारिमध्ये चैतदर्थमेवायं पठितः"। अन्यथा मांगलिको मुनिस्तथा न पठेत्। जुगुप्सां च व्यभिचारेण शृंगारे निषेधन्मुनिभविनां सर्वेषामेव स्थायित्वसञ्चारित्वेऽनुजानाति। तत्त्वज्ञानश्च निर्वेदः स्थारयन्तरोपमर्दकः। भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमस्थायिशीलः स एव हि स्थारयन्तरोपामुपमर्दकः।

- अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ ६१४-६१५

३. "इदमपि ----- तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायीति वदता तत्त्वज्ञानमेवात्र विभावत्वेनोक्त स्यात्। वैराग्यबीजादिषु कथं विभावत्वम्। तदुपायत्वादिति चेत्, कारणः, कारणेऽयं विभावताव्यवहारः स चारितप्रसङ्गवहः।
किंतु अयं निर्वेदो नाम सर्वत्रानुपादेयता प्रत्ययो वैराग्यलक्षणः स च तत्त्वज्ञानस्य प्रत्युतोपयाभि। विरक्तो हि तथा प्रयतते यथास्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। - अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ ६१५

निर्वेद को उसका स्थायिभाव नहीं माना जा सकता है। उसके स्थान पर "शम" को उसका स्थायिभाव मानना चाहिए। "निर्वेद" सब चित्तवृत्तियों का अभावरूप होता है, अतएव अभावरूप होने से उसको स्थायिभाव नहीं माना जा सकता है। इसके विपरीत निरीहावस्था में आत्मलीन होने से जो आनन्द आता है उसको "शम" कहते हैं। "शम" भावरूप है इसलिए शान्तरस का स्थायिभाव शम ही हो सकता है। निर्वेद को व्यभिचारी भाव माना जा सकता है।[1]

वस्तुतः "निर्वेद" (वैराग्य-रागादि का अभाव) से उत्पन्न अवस्था का नाम "शम" है। "शम" के आस्वाद का नाम ही शान्तरस है। शान्तरस में आस्वादन "निर्वेद" का नहीं होता, शम का होता है इसलिए "शम" ही शान्तरस का स्थायिभाव है, निर्वेद नहीं। निर्वेद कारण है, "शम" कार्य (परिणाम) है।

अभिनवगुप्त, काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र, नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाश आदि काव्यशास्त्रियों ने "शम" को ही शान्तरस का स्थायिभाव माना है।

इस प्रकार "शम" स्थायिभाव के आस्वाद का नाम शान्तरस है। तत्त्वज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि इसके विभाव हैं। यम, नियम, अध्यात्मध्यान, धारणा, उपासना, सर्वभूतदया, तथा संन्यास धारण आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ तथा रोमांच आदि व्यभिचारी भाव हैं।

शान्तरस जयोदय महाकाव्य का अंगीरस है। प्रस्तुत महाकाव्य में २५ वें सर्ग से २८ वें सर्ग तक केवल शान्तरस का ही साम्राज्य है। शृंगारादि रस इसके अंगरस के रूप मे प्रयुक्त हुए हैं। इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

वैराग्योन्मुख जयकुमार संसार की असारता के विषय में चिन्तन करता है। उसके चिन्तन का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन कर कवि ने शान्तरस की हृदयस्पर्शी धारा प्रवाहित की है -

---

१. "अत्र वदन्ति शान्तो नाम रसस्तावदनुभवसिद्धतया दुरपह्नवः। स चैतस्य स्थायी निर्वेदो युज्येते। तस्य विध्येध्वसं प्रत्ययरूपत्वात्। आत्मावमान् रूपत्वाद्वा। शान्तेश्च निखिलविषयपरिहारजनितात्ममात्रविश्रामा-नन्दप्रादुर्भावमयत्वानुभवात्। तदुक्तं (कृष्णद्वैपायनेन) 'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशी कलां" इति। अतएव सर्वचित्तवृत्तिविरामोऽत्र स्थायी इति निरस्तम्। अभावस्य स्थायित्वायोगात्। तस्मात् शमोऽस्य स्थायी। निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः। स च "शमो निरीहावस्थायामानन्दस्वात्मविश्रमात्" इति।

- काव्यप्रकाश, प्रदीप टीका

क्षणरुचिः कमला प्रतिदिङ्मुखं सुरधनुश्चलमैन्द्रियिकं सुखम् ।
विभव एव च सुप्तविकल्पवदहह दृश्यमदोऽखिलमध्रुवम् ॥ २५/३ ॥

नवणिमाब्जदलस्थजलस्थितिस्तरुणिमाप्यमुकोऽरुणिमान्वितिः ।
लसति जीवनमञ्जलिजीवनमिह दधात्ववधिं न सुधीजनः ॥ २५/५ ॥

अपि तु तृप्तिमियाच्छुचिरिन्धनैरथ शतैः सरितामपि सागरः ।
न पुनरेष पुमान् विषयाश्रयैरिति समञ्चति मोहमहागरः ॥ २५/१७ ॥

गणयतीतिचणो विपदां भरं न विषयी विषयैषितया नरः ।
असुहतिष्वपि दीपशिखास्वरं शलभ आनिपतत्यपसम्बरम् ॥ २५/२५ ॥(मूल प्रति)

परिजनाः कुलपादपके क्षणमधिवसन्ति च सन्ति च पक्षिणः ।
फलमवाप्य किमप्यथ ते रयाज्जगति यान्ति महीन्द्र ! यदृच्छया ॥ २५/३० ॥

अपि परेतरथान्तमथाङ्गना पितृवनान्तममी परिवारिणः ।
पुरुष एव हि दुर्गतिगह्वरे स्वकृतदुष्कृतमेष्यति निर्घृणः ॥ २५/४८ ॥

- संसार की सम्पत्तियाँ बिजली के समान क्षणस्थायी हैं, चंचल हैं । इन्द्रिय सुख इन्द्रधनुष के समान क्षणस्थायी हैं । वैभव, पुत्र-पौत्रादि का समागम स्वप्न के समान क्षणभंगुर है । जगत् की प्रत्येक वस्तु अस्थायी है । युवावस्था कमलपत्र पर स्थित जलबिन्दु के समान क्षणस्थायी है । युवावस्था प्रातः एवं सन्ध्या काल की लालिमा के समान क्षणिक है । प्राणी की आयु मनुष्य की अंजलि में स्थित जलवत् प्रतिक्षण क्षीण होती है । प्राणियों की विषयेच्छा समुद्र की वड़वाग्नि के समान है । जैसे समुद्र की वड़वाग्नि सैकड़ों नदियो के जल से तृप्त नही होती, वैसे ही प्राणियों की विषयेच्छा अपरिमित विषयभोगों से भी तृप्त नही होती । संसार के प्राणी विषयों में आसक्त होते हैं । वे विषयाकांक्षा के मार्ग में आने वाली आपत्तियों की उसी प्रकार चिन्ता नहीं करते, जिस प्रकार पतंगे दीपशिखा पर मंडराते समय मृत्यु की चिन्ता नहीं करते । जगत् में कुटुम्ब एक वृक्ष के समान है । जैसे वृक्ष पर पक्षीगण आते हैं, कुछ समय साथ रहते हैं फिर अपनी इच्छानुसार गन्तव्य स्थान पर चले जाते है, उसी प्रकार परिवार में पुत्र-पौत्रादि जन्म लेते हैं, कुछ समय साथ रहते हैं और आयु पूर्ण होने पर नई गति में चले जाते हैं । मनुष्य की मृत्यु होने पर स्त्री केवल घर के द्वार तक साथ जाती है और परिवारजन श्मसान तक । जीव अपने अर्जित पाप-कर्म के कारण अकेला ही दुर्गति को प्राप्त होता है ।

जयकुमार के मुनि-दीक्षा-ग्रहण तथा कठोर मुनि-धर्म के पालन का यह मर्मस्पर्शी वर्णन भी सहृदय को शान्तरस के सागर में डुबा देता है -

सहसा सह सारेणापदूषणमभूषणम् ।
जातरूपमसौ भेजे रेजे स्वगुणपूषणः॥ २८/४ ॥

सदाचारविहीनोऽपि सदाचारपरायणः ।
स राजापि तपस्वी सन् समक्षोऽप्यक्षरोधकः ॥ २८/५ ॥

हरेर्यैवरया व्याप्तं भोगिनामधिनायकः ।
अहीनः सर्पवत्तावत्कञ्चुकं परिमुक्तवान् ॥२८/६ ॥

पञ्चमुष्टि स्फुरद्दिष्टिः प्रवृत्तोऽखिलसंयमे ।
उच्चखान महाभागो वृजिनान्वृजिनोपमान् ॥२८/७ ॥

कृताभिसन्धिरभ्यङ्गनीरागमहितोदयः ।
मुक्ताहारतया रेजे मुक्तिकान्ताकरग्रहे ॥२८/८ ॥

मारबाराभ्यतीतस्सन्नथो नोदलताश्रितः ।
निवृत्तिपथनिष्ठोऽपि वृत्तिसंख्यानवानभूत् ॥२८/११ ॥

रसाभास

जब शृंगारादि रस अनुचित आलम्बन पर आश्रित होते हैं, तब वे रसाभास में परिवर्तित हो जाते हैं ।[1] जैसे विवाहित स्त्री की परपुरुष के प्रति रति अनुचित है । वह जहाँ दर्शायी जायेगी, वहाँ शृंगार रस न रहकर शृंगार रसाभास हो जायेगा । इसी प्रकार गुरु आदि को आलम्बन बनाकर हास्य रस का प्रयोग, वीतराग को आलम्बन बना कर करुण रस का प्रयोग, गुरु अथवा माता-पिता को आलम्बन बना कर रौद्ररस का प्रयोग, अधमपात्रनिष्ठ वीररस का वर्णन तथा चाण्डालादि नीच प्रकृति के पात्रों में शमभाव का प्रदर्शन विभिन्न रसाभासों के हेतु हैं ।[2]

जयोदय में केवल शृंगार रसाभास एवं भयानक रसाभास की व्यंजना हुई है ।

---

१ "तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः" - काव्यप्रकाश, ४/३६

२ साहित्यदर्पण, ३/२६३-२६५

शृंगार रसाभास

आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वाचार्यों के मतों का संग्रह करते हुए निम्नलिखित रतियों को शृंगार रसाभास का हेतु बतलाया है।

(१) परपुरुष के प्रति रति
(२) मुनि-पत्नी एवं गुरु-पत्नी के प्रति रति
(३) बहुनायकनिष्ठ रति
(४) अनुभयनिष्ठरति (एक पक्षीय रति)
(५) प्रतिनायकनिष्ठ रति
(६) अधमपात्रनिष्ठ रति
(७) पशु-पक्षीनिष्ठ रति[१]

जयोदय महाकाव्य में पर-पुरुष के प्रति रति का प्रदर्शन कर शृंगार रसाभास की व्यंजना की गई है। कैलाश पर्वत पर जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन के पश्चात् भ्रमण करते हुए जयकुमार के समीप रविप्रभदेव की पत्नी कांचना नामक देवी आती है। वह जयकुमार को विभिन्न कामचेष्टाओं से अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करती है। एक विवाहिता का परपुरुष के प्रति अभिव्यक्त किया गया रति भाव अनुचित होने से यहाँ शृंगार रसाभास अभिव्यंजित हुआ है।[२]

भयानक रसाभास

आचार्य विश्वनाथ ने उत्तम पात्र में निर्दिष्ट भय को भयानक रसाभास का हेतु माना है।[३] जयोदय में इसी प्रकार के भयानक रसाभास की सृष्टि हुई है। गंगा नदी पार करते समय उसकी विशाल लहरों के कारण आगे बढ़ने में असमर्थ होकर जयकुमार सहायता हेतु पुकारता है। अतएव यहाँ वीर नायक के मन में भय की उत्पत्ति का वर्णन होने से भयानक रसाभास की व्यंजना होती है।[४]

---

१. साहित्य दर्पण, ३/२६३-२६५
२. जयोदय, २४/१०५-१०७, १२७-१३९
३. उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयम्। - साहित्यदर्पण, ३/२६६
४. जयोदय, २०/५१-५२

भाव

देव, मुनि, गुरु, राजा एवं पुत्रादि के प्रति व्यक्त होने वाली रति **भाव** कहलाती है। इसके अतिरिक्त व्यंजना के द्वारा प्रतीत कराये गये व्यभिचारी भाव भी "**भाव**" शब्द से अभिहित होते हैं।[१]

जयोदय में अनेक स्थलों पर देव, गुरु, नृप एवं पुत्रादि के प्रति रतिभाव व्यक्त किया गया है। विस्तारभय से यहाँ केवल देव एवं गुरु विषयक रति के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

देवविषयक रति

काशी नगरी के अधिपति अकम्पन युद्ध में अपने जामाता जयकुमार की विजय के पश्चात् सर्वप्रथम अर्हंतदेव की पूजा करते हैं, जिससे उनकी देव विषयक रति प्रकट होती है -

सपदि विभातो जातो भ्रातर्भवभयहरणविभामूर्तेः।
शिवसदनं मृदुवदनं स्पष्टं विश्वपितुर्जिनसवितुस्ते ॥ ८/८९

मङ्गलमण्डलमस्तु समस्तं जिनदेवे स्वयमनुभूते।
हीराद्या हि कुतः प्रतिपाद्याश्चिन्तामणौ लसति पूते ॥ ८/९१

कलिते सति जिनदर्शने पुनश्चिन्ता काऽन्यकार्यपूर्तेः।
किमिह भवन्ति न तृणानि स्वयं जगति धान्यकणस्फूर्तेः ॥ ८/९२

निःसाधनस्य चार्हति गोप्तरि सत्यं निर्व्यसना भूस्ते।
धुतये किं दीपैरुदयश्चेच्छान्तिकरस्य सुधासूतेः ॥ ८/९३

- हे भाई ! अब प्रभात हो गया। संसार के जन्म-मरणरूपी भय का नाश करने वाले विश्व के पिता जिन-सूर्य का कल्याणकारी मधुर मुख स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जिनेन्द्र देव के दर्शन करने पर समस्त मंगल स्वयमेव सम्पन्न हो जाते हैं। चिन्तामणि रत्न के प्राप्त होने पर हीरा, पन्ना आदि से कोई प्रयोजन नहीं रहता। जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन होने पर कार्य के पूर्ण होने की क्या चिन्ता ? खेत में धान के बीज बोने पर घास स्वयमेव उग आती है। भगवान् अर्हन् जैसे योग्य संरक्षक के रहने यह भूमि समस्त आपत्तियों से शून्य हो जाती

१. काव्यप्रकाश, ४/३५

है । शान्तिप्रदायक अमृतवर्षी चन्द्रमा का उदय होने पर प्रकाश के लिए दीपक की क्या आवश्यकता ?

अ‍ न के इस देव विषयक रतिभाव का अनुभव कर सहृदय का रतिभाव व्यंजित हो जाता है, जिससे उसे भाव की अनुभूति होती है ।

गुरुविषयक रति

उपवन में मुनिराज के दर्शन कर जयकुमार भक्तिभाव से उनकी निम्न शब्दों में स्तुति करता है, जिससे उसकी गुरुविषयक रति प्रकट होती है और इसका साक्षात्कार कर सहृदय का रतिभाव उद्बुद्ध हो भाव में परिणत हो जाता है -

वर्द्धिष्णुरधुनाऽऽनन्दवारिधिस्तस्य तावता ।
इत्थमाह्लादकारिण्यो गावः स्म प्रसरन्ति ताः ॥
कलशोत्पत्तितादात्म्यमितोहं तव दर्शनात् ।
आगस्त्यक्तोऽस्मि संसारसागरश्चुलुकायते ॥
ममात्मगेहमेतत्ते पवित्रैः पादपांशुभिः ।
मनोरमत्वमायाति जगत्पूत निलिम्पितम् ॥
त्वं सज्जनपतिश्चन्द्रवत्प्रसादनिधेऽखिलः ।
पादसम्पर्कतो यस्य लोकोऽयं निर्मलायते ॥ १/१०२-१०५

मुनिराज के दर्शन होने पर जयकुमार का आनन्द समुद्र उमड़ पड़ा, वह उनकी स्तुति करने लगा - हे भगवन् ! आपके दर्शन कर आज मैं निष्पाप हो गया हूँ जिससे मुझे अतीव सुख का अनुभव हो रहा है । अब यह संसाररूपी सागर मुझे चुल्लू के समान प्रतीत होता है । आपकी परम पवित्र चरणरज से अवलिप्त मेरा मन आनन्दित हो रहा है । हे प्रसादनिधे ! आप चन्द्रमा के समान सज्जनों के शिरोमणि हैं। जैसे चन्द्रमा की किरणों से संसार प्रकाशवान् हो जाता है, उसी तरह मुनिराज के चरणों के संसर्ग से जगत् के प्राणी पापरूपी कालिमा को नष्टकर निर्मल हो जाते हैं ।

भावोदय

मानव मन में अनेक भाव सुषुप्तावस्था में विद्यमान रहते हैं जो विशेष परिस्थिति में जागरित हो जाते हैं । सुषुप्तावस्था में विद्यमान भावों का जागरित होना ही भावोदय है।[1]

---

१. काव्यप्रकाश, ४/३६ उत्तरार्ध

जयोदय में भावोदय के अनेक स्थल हैं। उनमें से कुछ के निदर्शन इस प्रकार हैं -

जब राजा जयकुमार अपने श्वसुर अकम्पन से हस्तिनापुर जाने की आज्ञा लेते हैं तो राजा अकम्पन दुखी हो जाते हैं। वे अपने मुख से शुभाशीर्वाद भी नहीं दे पाते। उनके नेत्रों में आँसू आ जाते हैं। मौनपूर्वक ही अपने जामाता के मस्तक पर अक्षत अर्पित करते हैं। इससे राजा अकम्पन का शोक भाव अभिव्यक्त हो उठता है -

न वदन्नपि काशिकापतिर्बलनेतुर्गुणिनो महामतिः।
शिरसि स्फुटमक्षतान् ददौ ह्युपकुर्वन्नपनोदकैः पदौ ॥१३/२

जब दुर्मर्षण अपने तीक्ष्ण वचनों से अर्ककीर्ति को उत्तेजित करता है तो उसके नेत्र लाल हो जाते हैं, जिससे उसका क्रोध भाव उदित हो जाता है -

कल्यां समाकलय्योग्रामेनां भरतनन्दनः।
रक्तनेत्रो जवादेव बभूव क्षीबतां गतः॥७/१७

भावसन्धि

जहां दो भाव एक साथ उदित होते है वहां **भावसन्धि** होती है। जयोदय में भावसन्धि के अनेक उदाहरण हैं। यथा --

विवाह के अनन्तर सुलोचना अपने पति जयकुमार के साथ जाती है तो उसके मन में हर्ष और विषाद युगपत् उत्पन्न होते है -

धवसम्भवसंश्रवादितो गुरुवर्गाश्रितमोहतस्ततः।
नरराजवशादृशात्मसादपि दोलाचरणं कृतं तदा। १३/२०

- एक ओर तो स्वामी के प्रेम तथा दूसरी ओर माता-पिता, गुरुजनों से मोह के कारण सुलोचना की दृष्टि ने झूले का अनुकरण किया, अर्थात् वह कभी हर्ष से जयकुमार की ओर देखती थी और कभी शोक से माता-पिता की ओर।

यहाँ हर्ष और विषाद की सन्धि है।

भावशबलता

जहाँ नायकादि में अनेक भाव एक साथ उदित होते हैं, वहाँ **भावशबलता** होती है

अपने जामाता जयकुमार के विजयी होने पर भी महाराजा अकम्पन प्रसन्न नहीं

होते। भविष्य की आशंका से उनके हृदय में चिन्ता, जड़ता, विषाद, मति, धृति आदि अनेक भाव एक साथ उत्पन्न होते हैं।

परिणता विपदेकतमा यदि पदमभून्मम भो इतरापदि।
पतितुजोऽनुचितं तु पराभवं भणति सोमसुतस्य जयो भवन्॥

जगति राजतुजः प्रतियोगिता नगति वर्त्मनि मेऽभ्ततिं सुताम्।
झगिति संवितरेयमदो मुदे न गतिरस्त्यपरा मम सम्मुदे॥

परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसह इति समेत्य स मेऽत्ययनं रहः।
किमुपयामुपयास्यति नात्र वा किमिति कर्मणि तर्कणतोऽथवा॥९/२-३-४

हे प्रभो ! एक विपत्ति दूर हुई पर दूसरी आपत्ति आ गई। जयकुमार की विजय हो गई किन्तु भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति की पराजय मेरे हृदय को विदीर्ण कर रही है। इस संसार में भरत चक्रवर्ती के पुत्र से विरोध होना, मेरे मार्ग में पर्वत के समान बाधक है। अतएव अर्ककीर्ति की प्रसन्नता के लिए आवश्यक है कि मैं शीघ्र अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमाला का विवाह उससे कर दूँ। मेरी निराकुलता का इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। क्या अर्ककीर्ति अपने प्रतिपक्षी द्वारा हुए दुःसह तिरस्कार के कारण दुःखी नहीं होगा? अथवा वितर्कणा से क्या लाभ ?

अकम्पन के मन में उठने वाला यह भाव-वैभिन्य भावशबलता का अद्वितीय उदाहरण है।

निष्कर्ष यह है कि महाकवि ने जयोदय में विभिन्न रसों की समुचित रस सामग्री का औचित्यपूर्ण संयोजन कर शृंगार, वीर, शान्त आदि रसों एवं भक्ति आदि भावों की प्रभावपूर्ण व्यंजना की है और "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" की कसौटी पर महाकाव्य को निर्दोष सिद्ध किया है।

□□□

नवम अध्याय

वर्णविन्यासवक्रता

वर्णों (व्यंजनों) का ऐसा विन्यास (प्रयोग) जिससे नाद सौन्दर्य (श्रुतिमाधुर्य) की सृष्टि हो, रस का उत्कर्ष हो, वस्तु की प्रभावशालिता, कोमलता, कठोरता, कर्कशता आदि की व्यंजना हो, शब्द और अर्थ में सामंजस्य स्थापित हो, भावविशेष पर बलाधान हो, (जोर पड़े) तथा अर्थ का विशदीकरण हो, **वर्णविन्यास** कहलाता है ।[1] यह कार्य विषय या रस के अनुरूप वर्णों (व्यंजनों) की आवृत्ति तथा माधुर्यादि व्यंजक वर्णविन्यास से सम्पन्न होता है । वर्णों की आवृत्ति को **अनुप्रास**[2] तथा माधुर्यादि व्यंजक वर्णप्रयोग (भले ही आवृत्ति न हो, नये-नये वर्ण का प्रयोग हो) को **उपनागरिका आदि वृत्ति** तथा **वैदर्भी आदि रीति** कहते हैं।[3] इन सबको **कुन्तक** ने **वर्णविन्यास** नाम दिया है ।[4]

जो वर्ण रस के अनुरूप होते हैं उन्हीं की आवृत्ति को **अनुप्रास** कहते हैं - "**रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यासोऽनुप्रासः**"[5] रस प्रतिकूल वर्णों की आवृत्ति रस विघातक होने से अलंकार नहीं कहला सकती । वृत्त्यनुप्रास में "वृत्ति" शब्द का अर्थ है रसविषयव्यापारवती रचना, उसके अनुरूप वर्णों का न्यास **वृत्त्यनुप्रास** कहलाता है ।[6] **कुन्तक** ने वर्णविन्यास को माधुर्यादि गुणों और सुकुमार आदि मार्गों (उपनागरिकादि वृत्तियों) का अनुसरण करनेवाला कहा है ।[7] इससे स्पष्ट है कि अनुप्रास या वर्णों की आवृत्ति माधुर्यादि व्यंजक होनी चाहिये।

---

१. हरदेव बाहरी : "हिन्दी सेमेंटिक्स", पृष्ठ ३०६
२. (क) वर्ण सा .नुप्रासः । - काव्यप्रकाश, ९/७९
   (ख) एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः ।
   स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता ।। वक्रोक्तिजीवित, २/१
   (ग) वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्तलनादयः ।
   शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः ।। वही, २/२
३. (क) माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।
   ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः ।। काव्यप्रकाश, ९/८०
   (ख) केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः । वही, ९/८१
४. वक्रोक्तिजीवित, २/१५
५. साहित्यदर्पण, १०/३ वृत्ति
६. "रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद् वृत्त्यनुप्रासः ।"
   - साहित्यदर्पण,वृत्ति १०/४
७. वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी ।
   वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः । - वक्रोक्तिजीवित, २/५

यदि माधुर्यादि व्यंजक न हो तो उनकी विघातक तो कदापि नहीं होनी चाहिए।

काव्याचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं -

> शषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापि भूयसा।
> विरोधिनः स्युः शृंगारे ते न वर्णा रसच्युतः ॥[1]
>
> त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
> तदा तं दीपयन्त्येवं ते न वर्णा रसच्युतः ॥[2]

अर्थात् श, ष, रेफसंयुक्त वर्ण (यथा र्क, र्ह, द्र) तथा ढकार इन सब का अनेक बार प्रयोग शृंगार रस की व्यंजना में बाधक है, किन्तु वीभत्स आदि रसों के ये उत्कर्षक हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि उन्हीं वर्णों का पुनः पुनः प्रयोग होना चाहिये जो रस के विघातक न हों और यथासंभव रसाभिव्यक्ति में सहायता करें।

रसाभिव्यक्ति में वर्णों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए अभिनव गुप्त लिखते हैं -

"यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की प्रतीति ही रसास्वाद का हेतु है, तथापि विशिष्ट श्रुतिवाले शब्दों से प्रतिपादित होने पर ही वे (विभावादि) रसास्वाद के हेतु बन पाते हैं, यह स्वानुभव सिद्ध है। इसलिए वर्णों का मृदु या परुष स्वभाव, जो उनका अर्थ समझे बिना ही श्रवणकाल में लक्षित होता है तथा केवल श्रोत के द्वारा ग्राह्य है, रसास्वाद में सहकारी ही होता है। मात्र वर्णों से रस की अभिव्यक्ति नहीं होती, विभावादि के संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है। यह अनेक बार कहा जा चुका है, किन्तु वर्णों का श्रोत्रग्राह्य स्वभाव भी रसनिष्पत्ति में व्यापार करता ही है, जैसे पदरहित गीत, ध्वनि अथवा पुष्करवाद्य से नियमित विशिष्ट जातिकरण वाले "द्य" आदि अनुकरण शब्द"।[3]

वस्तुतः मृदु वर्ण वाले पदों से शृंगारादि रसों के जो ललनादि कोमल विभावादि हैं, उनकी कोमलता अभिव्यंजित होती है, जो रसोत्कर्ष में सहायक होती है। इसी प्रकार परुष वर्ण वाले पदों में रौद्रादि रसों के विभावादि की परुषता व्यंजित होती है।

वर्णविन्यासवक्रता के नियम

काव्य मनीषी कुन्तक ने वर्णविन्यास वक्रता के निम्नलिखित नियम बतलाये हैं[4] -

---

१. ध्वन्यालोक - ३/३-४
२. ध्वन्यालोक - ३/३-४
३. ध्वन्यालोकलोचन, ३/३-४
४. नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ॥ वक्रोक्तिजीवित, २/४

१. वर्णों की आवृत्ति बलात् नहीं की जानी चाहिए। जहाँ उपयुक्त हो, प्रस्तुत विषय के औचित्य की हानि न हो, अपितु उसकी शोभा में वृद्धि हो, वहीं की जानी चाहिए।

२. अपेशल (कठोर) वर्णों की भी आवृत्ति नहीं होनी चाहिए जैसे - "**शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्**" इत्यादि (मयूर शतक, ६) पद्य में ण-ण, घ्र-घ्र, घ्न-घ्न आदि श्रुति-कटु वर्णों का पुनः पुनः विन्यास किया गया है। जिससे एक ओर श्रुति कार्कश्य उत्पन्न होता है, दूसरी ओर प्रस्तुत विषय (सूर्य-स्तुति) के औचित्य की हानि होती है।

३. एक वर्ण की आवृत्ति अधिक नहीं होनी चाहिए। पूर्वावृत्त वर्ण का परित्याग कर नये वर्ण की आवृत्ति की जानी चाहिए।

४. वर्णों की आवृत्ति स्वल्पान्तर (परिमित व्यवधान) से करना चाहिए।[1]

वर्णविन्यासवक्रता और अनुप्रास

कुन्तक द्वारा प्रतिपादित वर्णविन्यासवक्रता के अनेक प्रकार छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास में समाविष्ट हो जाते हैं। यथा -

(१) छेकानुप्रास

संयुक्त या असंयुक्त व्यंजन समूह की एक वार सान्तर या निरन्तर आवृत्ति को **छेकानुप्रास** कहते हैं।[2] इसे **कुन्तक** ने निम्नलिखित भेदों में विभाजित किया है :

(क) संयुक्त या असंयुक्त व्यंजनयुगल की एक बार सान्तर आवृत्ति,

(ख) संयुक्त या असंयुक्त व्यंजन समूह (बहु व्यंजनों) की एक बार सान्तर आवृत्ति,

(ग) संयुक्त या असंयुक्त व्यंजनयुगल की एक बार निरन्तर आवृत्ति,

(घ) संयुक्त या असंयुक्त व्यंजन समूह की एक बार निरन्तर आवृत्ति।

उदाहरण --

आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान्।

---

१. "स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता" वक्रोक्तिजीवित, २/१
"स्वल्पान्तराः परिमितव्यवहिता इति सर्वेषामभिसम्बन्धः।" वही, वृत्ति २/२

२. (क) "छेको व्यंजनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा।" - साहित्यदर्पण, १०/३
(ख) "अनेकस्य व्यंजनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः"। - काव्यप्रकाश, ९/७९

३. साहित्यदर्पण, १०/३ की वृत्ति

अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः ॥[१]

यहाँ "**गन्धानन्धी**" में संयुक्त व्यंजनयुगल "न्ध" की एक बार सान्तर (व्यंजनव्यवधानसहित) आवृत्ति हुई है। "**कावेरीवारि**" में असंयुक्त व्यंजन युगल "व - र" की एक बार निरन्तर (व्यंजनव्यवधानरहित) आवृत्ति हुई है। "**मन्दमन्दं**" में संयुक्त व्यंजन समूह "मन्द" (बहुत से व्यंजनों) की तथा "**पावनः पवनः**" में असंयुक्त व्यंजन समूह की एक बार निरन्तर आवृत्ति हुई है।[१]

"**सरलतर-लतालासिका**"[२] यहाँ असंयुक्त व्यंजनसमूह "रलत" की एक बार निरन्तर आवृत्ति हुई है।

"**चकितचातकमेचकितवियति**"[३] में असंयुक्त वर्ण समूह "चकित" का एक बार सान्तर आवर्तन हुआ है।

"**स्वस्थाः सन्तु वसन्त ते रतिपतेरग्रेसरावासराः**"[४] यहाँ "तेर" (असंयुक्त व्यंजन युगल) की एक बार सान्तर आवृत्ति है तथा "सन्त" (संयुक्त व्यंजन समूह) का एक बार सान्तर आवर्तन हुआ है।

"**पायं पायं कलाचीकृतकदलदलं**"[५] तथा "**कुहकुहाराव**"[६] में क्रमशः "प-य," "द-ल" एवं "क-ह" इन असंयुक्त व्यंजन युगलों की एक-एक बार निरन्तर आवृत्ति हुई है।

"**भवति हरिणलक्ष्मा येन तेजोदरिद्रः**"[७] यहाँ "दरिद्रः" में "द-र" की एक बार निरन्तर आवृत्ति हुई है।

(ङ) कहीं कहीं वर्णसमुदाय निरन्तर (व्यंजन व्यवधान रहित) आवृत्ति में स्वरों की असमानता से वर्णविन्यासवक्रता होती है, जो अपूर्व चमत्कार की सृष्टि करती है। यथा -

"**राजीवजीवितेश्वरे**"[८] यहाँ "जीवजीवि" में "ज-व" वर्ण युगल की आवृत्ति हुई है जिसमें प्रथम "व" में "अ" तथा द्वितीय "व" में "इ" होने से स्वरों में असमानता है।

---

१. वक्रोक्तिजीवित २/१, : "भग्नैला" इत्यादि श्लोक का अंश
२. वही, २/१३, पृष्ठ १८३
३. वही, २/१३, पृष्ठ १८२
४. वही, २/१३ पृष्ठ १८२
५-६ "ताम्बूलीनद्ध" इत्यादि श्लोक का अंश। वक्रोक्तिजीवित २/१०
७. वही, २/११/१८१, "अयि पिबति चकोरा" का अंश
८. वही, २/१५,

"धूसरसरिति"[1] में "सरसरि" इस आवृत्त वर्ण समुदाय में स्वरों का असारूप्य है।

(२) वृत्त्यनुप्रास

संयुक्त या असंयुक्त व्यंजन समूह (अनेक व्यंजनों) की अनेक बार सान्तर या निरन्तर आवृत्ति तथा एक व्यंजन की एक या अनेक बार सान्तर या निरन्तर आवृत्ति को **वृत्त्यनुप्रास** कहते हैं।[2] इसके निम्न प्रभेद किये जा सकते हैं :-

(क) संयुक्त या असंयुक्त वर्णयुगल की अनेक बार सान्तर आवृत्ति,

(ख) संयुक्त या असंयुक्त वर्णयुगल की अनेक बार निरन्तर आवृत्ति,

(ग) एक वर्ण की एक बार सान्तर आवृत्ति,

(घ) एक वर्ण की एक बार निरन्तर आवृत्ति,

(ङ) एक वर्ण की अनेक बार सान्तर आवृत्ति,

(च) एक वर्ण की अनेक बार निरन्तर आवृत्ति।

उदाहरण :

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर -
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वरः।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण -
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः॥[3]

यहाँ द्वितीय चरण में "**काकलीकलकलैः**" में असंयुक्त वर्णयुगल "क-ल" की अनेक बार निरन्तर आवृत्ति हुई है।

प्रथम चरण में एक व्यंजन "त्" की, तृतीय में "ध" की एक बार सान्तर आवृत्ति हुई है।

प्रथम चरण में एक व्यंजन "म्" की, द्वितीय में "ल्" की, तृतीय में "क्" की तथा चतुर्थ में "स्" और "म्" की अनेक बार सान्तर आवृत्ति हुई है।

"**वामं कज्जलवद्विलोचनमुरो रोहद्विसारिस्तनम्**"[4] यहाँ "कज्जल" में एक व्यंजन "ज्"

---

१. वक्रोक्तिजीवित, २/१६
२. अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते। साहित्यदर्पण, १०/४
३. वही, १०/४
४. वक्रोक्तिजीवित, २/२/१८०

की, तथा "उरोरोह" में एक व्यंजन "र" की एक बार निरन्तर आवृत्ति हुई है।

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि॥[१]

यहाँ संयुक्त व्यंजन युगल "ङ्ग" तथा "न्त" की अनेक बार सान्तर आवृत्ति हुई है।

"अलिकुललकोकिलललिते"[२] यहाँ एक व्यंजन "ल्" की अनेक बार निरन्तर आवृत्ति हुई है।

(३) माधुर्य व्यंजक वर्णविन्यासवक्रता

निम्नलिखित वर्ण माधुर्य के व्यंजक हैं। उनके आवृत्ति रहित या आवृत्ति सहित प्रयोग से माधुर्य की व्यंजना होती है :-

(१) ट, ठ, ड, ढ को छोड़ कर "क" से लेकर "म" तक के वर्ण जब वे पूर्व भाग में अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से संयुक्त होते हैं (वर्गान्तयोगी ट, ठ, ड, ढ वर्जित स्पर्श वर्ण)।[३]

(२) ह्रस्वस्वरयुक्त रकार और णकार।[४]

(३) द्विरुक्त त, ल, न आदि।[५]

(४) र-ह आदि से संयुक्त य-ल आदि।[६] उपर्युक्त वर्णों की आवृत्ति स्वल्पान्तर से (अल्पव्यवधान पूर्वक) तथा प्रस्तुत विषय की शोभा बढ़ाने वाली (रसोत्कर्ष) होनी चाहिए।[७]

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गभङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि॥[८]

यहाँ अनङ्ग, तदङ्ग, भङ्गी आदि में गकार का आवर्तन तथा स्वान्त, शान्त, चिन्तन

---

१. काव्यप्रकाश ८/७४
२. "गुरुजनपरतन्त्रतया" इत्यादि पद्य का अंश। काव्यप्रकाश, ९/
३. काव्यप्रकाश ८/७४,
४. वही, ८/७४
५,६. वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्तलनादयः।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः॥ वक्रोक्तिजीवित, २/२
७. पुनः पुनर्बध्यमाना स्वल्पान्तरा परिमितव्यवहिता इति सर्वेषामभिसम्बन्धः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः।
- वही, वृत्ति
८. काव्यप्रकाश, ८/७४

आदि पदों में तकार अपने-अपने वर्ग के अन्तिम व्यंजन से युक्त हैं और वह व्यंजन पूर्व में है, पर में नहीं। तथा "रङ्ग" "शान्तापर" आदि में ह्रस्व स्वरयुक्त रेफ है । इन वर्णों की आवृत्ति से यहाँ माधुर्य की व्यंजना होती है ।

> **उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गः,**
> **गुञ्जन्ति मञ्जुमधुपाः कमलाकरेषु ।**
> **एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव -**
> **पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बिबिम्बम् ॥** [१]

यहाँ भी वर्गान्तयोगी स्पर्श "ङ्ग" "ञ्ज", तथा "म्ब" की आवृत्ति हुई है ।

"सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणाम्" [२]

यहाँ भी "न्द" (वर्गान्तयोगी द) की आवृत्ति हुई है, जो माधुर्य गुण की व्यंजिका है ।

"**विरहोत्ताम्यत्तन्वी**"[३] में द्विरुक्त" "त्त" का दो बार प्रयोग है ।

"**सौन्दर्यधुर्यस्मितम्**"[४] में रेफ संयुक्त "य" का तथा "**कह्लारह्लाद**"[५] में ह-संयुक्त "ल" का अनेक बार प्रयोग हुआ है ।

माधुर्यगुण शृंङ्गार, करुण तथा शान्तरस में होता है । संभोग शृंगार से अधिक करुण में, करुण से अधिक विप्रलम्भ शृंङ्गार में तथा विप्रलम्भ शृंङ्गार से अधिक शान्तरस में होता है ।[६] अतः इन्हीं कोमल रसों के उत्कर्ष के लिए माधुर्यव्यंजक वर्णों की आवृत्ति की जाती है । चित्त को द्रवित या आर्द्र कर देनेवाला आह्लादमयत्व **माधुर्य** कहलाता है।[७]

(४) ओजोव्यंजक वर्णविन्यासवक्रता

दीप्ति अर्थात् चित्त के विस्तार को उत्पन्न करने वाला रस-धर्म **ओज** कहलाता है। सहृदय के हृदय का प्रज्वलित सा हो जाना **दीप्ति** है, इसे ही चित्त का विस्तार कहते हैं ।

---

१. वक्रोक्तिजीवित, २/२
२. वही, २/२
३. "प्रथममरुण" इत्यादि पद्य का अंश । - वक्रोक्तिजीवित, २/६ तथा १/४१
४. "धम्मिलो" इत्यादि पद्य का अंश । वही, २/१
५. वही, २/२
६. "करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्" – काव्यप्रकाश, ८/६९
७ "आह्लादकत्व माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्" । वही, ८/६८

ओज गुण वीर, वीभत्स, रौद्र एवं भयानक रस में होता है। वीर रस से अधिक वीभत्स में, वीभत्स से अधिक रौद्र में होता है।[१] इन परुष रसों के धर्मभूत ओजगुण की व्यंजना निम्नलिखित वर्णों के आवृत्ति रहित या आवृत्ति सहित प्रयोग से होती है :-

(१) वर्ग के प्रथम एवं तृतीय वर्ण के साथ क्रमशः द्वितीय एवं चतुर्थ वर्ण का योग।[२] जैसे - पुच्छ, बद्ध आदि में।

(२) रेफ के साथ किसी भी वर्ण का पूर्व में, पर में अथवा दोनों ओर योग।[३] जैसे वक्त्र, निर्ह्राद आदि में।

(३) दो तुल्य वर्णों का योग (द्विरुक्त वर्ण)।

(४) संयुक्त या असंयुक्त ट, ठ, ड, ढ तथा श, ष।[४]

उदाहरण :

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा -
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनत जयजगज्जात मिथ्यामहिम्नाम् ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणाम्,
दोष्णां चैषा किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ॥[५]

यहाँ "मूर्ध्नाम्" "उत्सर्पिदर्प" में ऊपर तथा "अङ्घ्रि" एवं "द्रक्त" में नीचे रेफ का योग है। "उद्वृत्त" तथा "कृत्त" में तुल्य वर्णों का योग है। "ईश" एवं "पिशुन" में शकार तथा "दोष्णाम्", "एषाम्" में षकार है। इनके द्वारा वीररस के धर्मभूत ओजगुण की व्यंजना होती है।

कुन्तक ने परुष रसों के धर्मभूत ओजगुण के व्यंजक वर्णों के पुनः पुनः प्रयोग का निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है :-

उत्ताम्यत्तालवश्च प्रतपति तरणावांशवीं तापतन्द्री -
मद्रि द्रोणीकुटीरे कुहरिणि हरिणारातयो यापयन्ति ।[६]

यहाँ कवि को भयानकरस की सृष्टि करना अभिप्रेत है, जो एक परुषरस है।

---

१. "वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्य क्रमेण च", काव्यप्रकाश, ८/७०
२ वही, ८/७५
३-४. वही, ८/७५
५. वही, ८/७५
६. वक्रोक्तिजीवित २/८, पृष्ठ १७९

इसलिए कवि ने भयानक सिंह के भयावह निवास का वर्णन करते समय उसी के योग्य त, प, व, र, ह एवं ण आदि परुण वर्णों को पुनः पुनः आवृत्त किया है ।

मम्मट, साहित्यदर्पणकार आदि काव्यशास्त्रियों ने माधुर्यादि गुणों का वर्णन अनुप्रास के प्रकरण में न कर पृथक् से किया है । इससे तथा उनके प्रतिपादन से स्पष्ट होता है कि माधुर्यादि की व्यंजना के लिए उपयुक्त वर्णों की आवृत्ति अनिवार्य नहीं है, उस प्रकार के विभिन्न वर्णों के प्रयोग से भी माधुर्यादि की व्यंजना होती है ।

साहित्यदर्पणकार ने श्रुत्यनुप्रास एवं अन्त्यानुप्रास का भी वर्णन किया है जिनका स्वरूप इस प्रकार है :-

(५) श्रुत्यनुप्रास

जिन व्यंजनों का उच्चारण स्थान समान होता है, उनके प्रयोग से उच्चारण स्थान की दृष्टि से जो व्यंजन साम्य उत्पन्न होता है; उसे श्रुत्यनुप्रास कहते हैं । वह सहृदयों को अतीव श्रुतिसुखोत्पादक होता है ।[1] यथा -

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ॥[2]

यहाँ "जीवयन्ति", "याः" तथा" "जयिनीः" जकार, यकार का उच्चारण स्थान तालु की समानता के कारण साम्य है ।

(६) अन्त्यानुप्रास

पूर्वपद या पाद के अन्त में जैसा अनुस्वार-विसर्ग स्वरयुक्त संयुक्त या असंयुक्त व्यंजन आता है, उसकी उत्तर पद या पाद के अन्त में आवृत्ति अन्त्यानुप्रास कहलाती है । इससे काव्य में लयात्मकताजन्य श्रुतिमाधुर्य उत्पन्न होता है । यथा -

"मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः[3]

तथा

"धीरसमीरे यमुनातीरे"

तथा

"सुजलां सुफलां मलयजशीतलां
सस्य श्यामलां मातरम् ।"

---

१. साहित्यदर्पण - १०/५ तथा वृत्ति
२. वही, १०/५
३. वही, १०/६

इन उदाहरणों में पदान्त अनुप्रास है ।

तथा

केशः काशस्तबकविकासः कायः प्रकटितकरभविलासः ।
चक्षुर्दग्धवराटककल्पं त्यजति न चेतः काममनल्पम् ॥[1]

अथवा

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥

इन दोनों श्लोकों में पादान्त अनुप्रास है ।

लाटानुप्रास भी अनुप्रास का एक भेद है किन्तु उसमें वर्णों की आवृत्ति न होकर पदों की आवृत्ति होती है और अभिव्यंजना की दृष्टि से उसमें वर्णों का कोई चमत्कार नहीं होता,[2] इसलिए लाटानुप्रास में वर्णविन्यासवक्रता का प्रायः अभाव होता है ।

यमक

सार्थक वर्णसमुदाय की भिन्न अर्थ में आवृत्ति, निरर्थक वर्णसमुदाय की अर्थपूर्ण वर्णसमुदाय के रूप में आवृत्ति, अर्थरहित वर्णसमुदाय की अर्थयुक्त वर्णसमुदाय के रूप में आवृत्ति तथा अर्थरहित वर्णसमुदाय की अर्थरहित वर्णसमुदाय के रूप में आवृत्ति **यमक** कहलाती है । **आचार्य कुन्तक** के अनुसार इसे प्रसादगुणयुक्त अर्थात् शीघ्र ही अर्थ का बोध करानेवाला, श्रुतिपेशल (अकठोरशब्द विरचित) तथा औचित्ययुक्त (प्रस्तुत वस्तु की शोभा बढ़ाने वाला) होना चाहिए । इसमें श्रुति माधुर्य तथा लयात्मकता का ही गुण रहता है । इसलिए यह वर्णविन्यासवक्रता का ही एक रूप है ।[3]

उदाहरण :

"नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम् ।
मृदुल-तान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥"[4]

---

१. साहित्यदर्पण, १०/६

२ "शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः"
"पदानां सः" । काव्यप्रकाश ९/८१-८२.

३ समानवर्णमन्यार्थे प्रसादि श्रुतिपेशलम् । औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभियत् ॥
यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते । स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते ।
- वक्रोक्तिजीवित, २/६-७

४ साहित्यदर्पण, १०/८

यहाँ "पलाश-पलाश" तथा "सुरभि-सुरभि" दोनों सार्थक है। "लतान्त लतान्त" में प्रथम "लतान्त" निरर्थक है क्योंकि वह यथार्थतः "मृदुल-तान्त" है। इसी प्रकार "पराग-पराग" में दूसरा पराग निरर्थक है क्योंकि वह "परागत" का अंश है।

वर्णविन्यासवक्रता के प्रयोजन

जैसा कि पूर्व में कहा गया है वर्णविन्यासवक्रता का प्रयोग नाद सौन्दर्य की सृष्टि, रसोत्कर्ष, वस्तु की प्रभावशालिता, कोमलता, कठोरता आदि की व्यंजना, शब्द और अर्थ में सामञ्जस्य के स्थापन तथा भाव-विशेष पर बलाधान के लिये किया जाता है। इसके कुछ उदाहरण हिन्दी साहित्यकार प्रेमचन्द की कृतियों से प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

प्रेमचन्द ने अनेक स्थलों पर अनुप्रास का प्रयोग ध्वनि सौन्दय की सृष्टि के लिए ही किया है। यथा

"उन्हीं के सत्य और सुकीर्ति ने उसे बचाया है। (सेवासदन, ६३)

"कभी सरोद और सितार, कभी पिकनिक और पार्टियाँ, नित्य नये जलसे, नये प्रमोद होते रहते है।" (प्रेमाश्रम, १०१)

कुछ प्रसंगों में अनुप्रास का प्रयोग प्रसंग की अभिव्यंजकता बढ़ाने के लिए हुआ प्रतीत होता है। वहाँ व्यजनों की आवृत्ति से जो एक ध्वनिगत वातावरण बनाता है, वह अभिव्यक्ति को पुष्ट करता है। "सेवासदन" में वैश्याओं के जिस जुलूस को देखकर सदन आश्चर्यचकित रह जाता है, उसकी मोहनी और बाँध लेने वाली शक्ति को प्रेमचन्द ने अनुप्रास के सहारे प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त किया है -

- "सौन्दर्य, सुवर्ण और सौरभ का ऐसा चमत्कार उसने कभी न देखा था। रेशम, रंग और रमणीयता का ऐसा अनुपम दृश्य, शृंङ्गार और जगमगाहट की ऐसी अद्भुत छटा उसके लिये बिल्कुल नयी थी।" (सेवासदन, १५०)

यहाँ "स" और "र" के अनुप्रास जुलूस की शक्ति को जैसे घनीभूत रूप में व्यक्त कर रहे हैं। यही घनीभूत शक्ति निम्नलिखित उदाहरण में "क" के अनुप्रास से प्रकट होती है -

"वे आँखें जिनसे प्रेम की ज्योति निकलनी चाहिये थी, कपट, कटाक्ष और कुचेष्टाओं से भरी हुई हैं।" (सेवासदन, १५१)

प्रभाव की बलात्मकता की निष्पत्ति के लिए "द" की आवृत्ति का सफल प्रयोग इन वाक्यों में मिलता है -

"मुझ जैसा दुष्ट, दुरात्मा, दुराचारी मनुष्य उसके योग्य न था।" (सेवासदन, १५८)

"जाति का द्रोही, दुश्मन, दंभी, दगाबाज और इससे भी कठोर शब्दों में उसकी चर्चा हुई।" (रंगभूमि, ५३६)

इनमें बलात्मक प्रभाव को निष्पन्न करने के लिए "द" का घोषत्व जो योगदान करता है, वह ध्यान देने योग्य है। घोष ध्वनियों की गूँज प्रभाव को द्विगुणित करने की सामर्थ्य रखती है।

तीखेपन की अभिव्यंजना के लिए अनुप्रास का शक्तिशाली प्रयोग इन उदाहरणों में दिखाई देगा :

"फिर पुत्री की पैनी पीक भी कानों को चुभी।" (गोदान, ४६)

"अभी जरा देर पहले धनिया ने क्रोध के आवेश में झुनिया को कुलटा, कलंकिनी, और कलमुँही न जाने क्या क्या कह डाला था।" (गोदान, १२६)[1]

"प" और "क" का स्पर्शत्व इस तीखेपन को पुष्ट रूप से अभिव्यक्त करने में सहायक प्रतीत होता है। यह स्पर्शत्व आवृत्तिचक्र में पड़कर किस प्रकार कोमल से तीक्ष्ण हो गया है, यह द्रष्टव्य है।

कोमलता का गुण अन्य ध्वनियों में भी है जो अपनी कोमलता से भावात्मकता की निष्पत्ति करने में सफल हुई है :

-"सिलिया, सांवली, सलोनी छरहरी बालिका थी।" (गोदान, २५१)

-"नैना समतल, सुलभ और समीप" (कर्मभूमि, ४७)

"स" के अनुप्रास से नैना की कोमलता हमारे इतने निकट आ जाती है कि हम मानो उसे छू सकते हैं और उसी "स" का अनुप्रास सिलिया की सूरत की चिकनाई से मानों हमारी आँखों को आंज देता है।

भावात्मक और बलात्मक प्रभाव की निष्पत्ति में अनुप्रास के योगदान का प्रमाण इस वाक्य में मिलता है :

- मेरे लिए तुमने अब तक त्याग ही त्याग किये हैं, सम्मान, समृद्धि, सिद्धान्त एक की भी परवाह नहीं की। (रंगभूमि, २८८)

---

१. शैलीविज्ञान और प्रेमचन्द की भाषा, पृष्ठ २५-२६

व्यंग्य की प्रभावशाली निष्पत्ति के रूप में अनुप्रास की सफलता देखिए :

- जेवर चाहिए, जरदा चाहिए, जरी चाहिए, कहाँ से आना ? (रंगभूमि, ४१०)

इन सभी स्थलों में ऐसे शब्दों का चयन हुआ है जिनमें सदृश व्यंजनों का प्रयोग मिलता है । सन्दर्भ के प्रभाव से ये व्यंजन अभिव्यंजक हो उठते हैं तथा शब्दार्थ और वाक्यार्थ के प्रभाव को घनीभूत कर देते हैं । साहित्यिक संरचना के सब घटकों में इनका अवकाश है, तथापि उपर्युक्त उदाहरण कथावर्णन तथा चरित्रचित्रण के सन्दर्भ में आये हैं।[१]

संस्कृत साहित्य में भी वर्णविन्यासवक्रता के ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे उपर्युक्त प्रयोजनों की सिद्धि होती है । यथा -

सुजलां सुफलां मलयजशीतलां
सस्य श्यामलां मातरम्
वन्दे मातरम् ।

यहाँ "स" की आवृत्ति भारत भूमि की समृद्धि और सरसता के भाव को घनीभूत कर देती है ।

सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति,
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषदयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां ,
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥[२]

यहाँ "न्ति" के बहुशः प्रयोग से श्रुतिमाधुर्य की उत्पत्ति के साथ वामनयनाओं के शक्तिबाहुल्य एवं चरित वैविध्य का भाव सघन हो गया है ।

भक्तिः कातरतां क्षमा समयतां पुज्यस्तुतिर्दीनतां,
धैर्यं दारुणतां मतिः कुटिलतां विद्याबलं शोभताम् ।
ध्यानं बञ्चकतां तपः कुदृकतां शीलव्रतं षण्ढतां,
पैशुन्यमलिनां गिरां किमिव वा नायाति दोषार्हताम् ॥[३]

यहाँ भी "तां" के पुनः पुनः प्रयोग द्वारा पिशुनों की गुणों को अवगुण रूप से ग्रहण करने की प्रवृत्ति उत्कर्ष को छूने लगती है । लयात्मक माधुर्य भी उत्पन्न होता है ।

---

१. शैलीविज्ञान और प्रेमचन्द की भाषा, पृष्ठ २६-२७
२. भर्तृहरि, शृंगारशतक
३. मुनिमत मीमांसा

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्य -
मार्याः समर्यादिमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बा किमु भूधराणा -
मुत स्मरस्मेर विलासिनीनाम् ॥[1]

इस पद्य में "र्य" की अनेकशः आवृत्ति से लयात्मक श्रुतिमाधुर्य की सृष्टि होती है ।

एको देवः केशवो वा शिवो वा,
एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा ।
एको वासः पत्तने वा वने वा,
एका नारी सुन्दरी वा दरी वा ॥[2]

यहाँ केशव और शिव, भूपति और यति, पत्तन और वन, तथा सुन्दरी और दरी का वर्णसाम्य (यमक) उनको अलग-अलग दृष्टियों से समकक्षता के भाव को साकार करने में अभूतपूर्व योगदान करता है ।

यही बात निम्न पद्य में भी है :

भक्तिर्भवेन विभवं व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥

भर्तृहरि के शृंगार-शतक का यह श्लोक यमकजन्य श्रुतिमाधुर्य से मण्डित है :

आवासः क्रियतां गाङ्गे पापवारिणि वारिणि ।
स्तनमध्ये तरूण्या वा मनोहारिणि हारिणि ॥

जयोदय में वर्णविन्यासवक्रता

महाकवि ज्ञानसागर ने जयोदय में वर्णविन्यासवक्रता के द्वारा विविध प्रभावों की सृष्टि की है । काव्य में नादसौन्दर्य एवं लयात्मक श्रुतिमाधुर्य की उत्पत्ति, माधुर्य एवं ओज गुणों की व्यंजना, वस्तु की कोमलता, कठोरता आदि के द्योतन एवं भावों को घनीभूत करने में कवि ने वर्णविन्यासवक्रता का औचित्यपूर्ण प्रयोग किया है । वर्णविन्यासवक्रता के निम्न प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य में प्रयुक्त किये गये हैं :- छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास, यमक तथा माधुर्यव्यंजक एवं ओजोव्यंजक वर्णविन्यास निदर्शन प्रस्तुत हैं :

---

१. भर्तृहरि, शृंगार शतक
२. भर्तृहरि, नीति शतक, ६९

अनुप्रास

छेकानुप्रासरूप वर्णविन्यास से उत्पन्न नाद सौन्दर्य निम्न उदाहरणों में देखा जा सकता है :

वनभूमिरुपागता गता जनभूमिर्ननु जानता नता ।
फलितैः फलितैर्गताङ्गताऽप्युचितेन प्रभुणा सता सता ॥ १३/४२

X X X

सुन्दरि कलिङ्गजनानां कलिङ्गजानां शिरःश्रिया श्रयतात् ।
पीवरपयोधरद्वयरमेण येन स्थितोदयता ॥ ६/२२

X X X

चतुराणां चतुराणामतुच्छतुष्टिं नयन्नयन्तु सभाम् ।
तनुतेऽनुतेजसा स्वां कलिङ्गराजाभिधां सुलभाम् ॥ ६/२३

X X X

मनसि मनसिजमितायां वनितायां विरहदग्धहृदयायाः ।
तल्लिङ्गानि तदानीं स्फुलिङ्गानीति निरगच्छन् ॥ १६/६५

अधोलिखित उक्ति में नियोजित वर्ण नगाड़े की ध्वनि का बिम्ब उपस्थित कर देते है :

"उपांशुपांसुले व्योम्नि ढक्काढक्कारपूरिते ।" ३/१११ **(पूर्वार्ध)**

वृत्यनुप्राम के द्वारा निम्न पद्य में सोमरसपानजनित मत्तदशा के द्योतन की अद्भुत मामर्थ्य आ गई है । वर्णों के बहुशः आवर्तन मे जिह्वा का लड़खड़ाना सूचित होता है, जो मत्तदशा का लक्षण है -

ततत्त्यजेदं भभभाजनन्तु दुद्रुतं ते मुमुखासवन्तु ।
वचनं ददेदेहि पिपिप्रियेति मदोक्तिरेषाऽलि मुदे निरेति ॥ १६/५०

अधोलिखित पद्य में "न" वर्ण की आवृत्ति से हस्तिनापुर नरेश जयकुमार की सभा का सर्वथा दोषरहितत्व प्रकाशित होता है -

न वर्णलोपः प्रकृतेर्न भङ्गः कुतोऽपि न प्रत्ययवत्प्रसङ्गः ।
यत्र स्वतो वा गुणवृद्धिसिद्धिः प्रसत्त यवीयस्पदुरीतिवृद्धिम् ॥ १/२१

वृत्यनुप्रास के द्वारा कहीं कहीं केवल श्रुतिमाधुर्य की ही सृष्टि की गई है -

शशिहरो भविता सविता पिता तदुदयेन हसिष्यति पङ्कजम् ।
अलिनि चिन्तयतीति विसस्थिते द्रुतमिहोद्भवतेऽम्बुजिनीं गजः ॥२५/३७

श्रुत्यनुप्रास का प्रयोग भी इसी दृष्टि से किया गया है -

अर्कस्तूदर्कचिच्चिर्ती० मेंयश्च विजयान्वितः ।
जनोऽभिजनसम्प्राप्तो वर्धमानाभिधानतः ॥ ८/८३

x x x

निःसार इह संसारे सहसा मे सप्तार्चिषः ।
नाथसोमाभिधे गोत्रे भवेतां भस्मसात्कृते ॥ ७/२४

वृत्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास के मेल से तो कवि ने नाद सौन्दर्य एवं लयात्मक माधुर्य को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। निम्न उदाहरणों में यह स्पष्ट हो जाता है -

स्वपाणिपात्रं पुनरल्पमात्रं स्थित्वात्तिकात्रं परतन्त्रसात्रम् ।
मुनेरघात्रस्तविजन्तुमात्रं क्व भोजनं भो जनरञ्जनात्र ॥ २७/४४

x x x

कचेषु तैलं श्रवसोः फुलेलं ताम्बूलमास्ये हृदि पुष्पितेऽलम् ।
नासाधिवासार्थमसौ समासात् समस्ति लोकस्य किलाभिलाषा ॥ २७/१५

x x x

अञ्चति रजनिरुदञ्चति सन्तमसं तन्वि वञ्चति च मदनः ।
युक्तमयुक्तं तत्यज रक्तमयुक्तिमिमंस्तु रचय मनः ॥ १६/६४

x x x

सदेह देहं मलमूत्रगेहं ब्रूयां सुरामत्रमिवापदेऽहम् ।
तद्योगयुक्त्या निबदेहपांशु याति स्रवत्स्वेदनिपातिपांशु ॥ २७/४२

छेकानुप्रास और अन्त्यानुप्रास के योग से भी कवि ने संगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न किया है -

हे छिन्नमोह जनमोदनमोदनाय,
तुभ्यं नमोऽशमनसंशमनोद्यमाय ।
निर्वृत्यपेक्षितनिवेदनवेदनाय ,
सूर्याय ते हृदरविन्दविनोदनाय ॥ १०/१६

यमक

जयोदय में यमक के अनेक रूप मिलते हैं - यथा आद्ययमक, युग्मयमक एवं अन्त्ययमक। इन सभी के द्वारा लयात्मकता एवं श्रुतिमाधुर्य की सृष्टि की गई है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

आद्य यमक

प्रतीहारमतः कश्चित् प्रतीहारमुपेत्य तम्।
नमति स्म मुदा यत्र न मतिः स्मरतः पृथक्॥ ३/२१

x x x

विपल्लवानामिह सम्भवोऽपि न विपल्लवानामुत शाखिनामपि।
सदारमन्तेऽस्य विहाय नन्दनं सदा रमन्ते रुचितस्ततः सुराः॥ २४/५१

इन श्लोकों में प्रथम चरण के आदि भाग की आवृत्ति द्वितीय चरण के आदि भाग में तथा तृतीय पाद के प्रारम्भिक पद की आवृत्ति चतुर्थ पद के प्रारम्भ में होने से एकदेशज आद्ययमक है।[1]

युग्मयमक

आशा सिता सुरभि-तानव-कौतुकेन,
वा शासिता सुरभिता नवकौतुकेन।
पुण्याहवाचनपरा समुदर्कसारा,
पुण्याहवाचनपरा समुदर्कसारा॥ १८/७१

प्रस्तुत पद्य में प्रथम चरण की आवृत्ति द्वितीय चरण में और तृतीय चरण की आवृत्ति चतुर्थ चरण में हुई है, अतः **युग्मयमक** है।[2]

अन्त्य यमक

सौष्ठवं सममिवीक्ष्य सभाया यत्र रीतिरिति सारसभायाः।
वैभवेन किल तञ्जनतायाः मोदसिन्धुरुदभूज्जनतायाः॥ ५/१४

यहाँ प्रथम पाद के अन्त्य भाग की आवृत्ति द्वितीय पाद के अन्त्य भाग में तथा

---

१. पादं द्विधा वा त्रिधा विभज्य तत्रैकदेशजं कुर्यात्।
आवर्तयेत्तमंश तत्रान्ययाति वा भूयः॥ रुद्रट् काव्यालंकार, ३/२०

२. रुद्रट्कृत काव्यालंकार, ३/१३

तृतीय चरण के अन्त्य भाग की आवृत्ति चतुर्थ चरण के अन्त्य भाग में हुई है. अतः **अन्त्य-यमक है** ।[1]

माधुर्यगुणव्यंजक वर्णविन्यासवक्रता

जयोदय शान्तरस प्रधान महाकाव्य है । गौणरूप से उसमें शृंगारादि रसों की भी छटा है । अतएव इसमें माधुर्यगुण व्यंजक वर्णविन्यासवक्रता सहज उपलब्ध होती है । निम्न उदाहरण दर्शनीय है -

> **अपि परे तरथान्तमथाङ्ग ना पितृ वनान्तमभी परिवारिणः ।**
> **पुरुष एष हि दुर्गतिगह्वरे स्वकृतदुष्कृतमेष्यति निर्घृणः ॥** २५/४८

यहाँ "न्त," "ङ्ग," "र," "रि," रु," "ण" आदि वर्णों का प्रयोग माधुर्यव्यंजक है । इनके प्रयोग से श्रुतिमाधुर्य की सृष्टि के साथ शान्तरस की व्यजना सशक्त हो उठी है।

ओजोगुणव्यंजक वर्णविन्यासवक्रता

महाकवि ने अपने काव्य में गौणरूप से वीर, भयानक एवं वीभात्स रसों का निवेश भी किया है । इन रसों के उत्कर्ष हेतु उन्होंने ओजोगुणव्यंजक वर्णविन्यासवक्रता का प्रयोग किया है । यथा-

> **पित्सत्सपक्षाः पिशिताशनायायान्तस्तदानीं समरो वं रायाम् ।**
> **चराश्च पूत्कारपराः शवानां प्राणा इवाभुः परितः प्रतानाः** ॥८/३९

युद्धस्थल शवों से आकीर्ण है । शवों पर पक्षियों का समूह मांस भक्षण के लिए टूट पड़ रहा था, जो ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे फूत्कार पूर्वक निकलते उनके प्राण ही हों ।

कवि ने इस वीभत्स दृश्य का वर्णन कर वीभत्सरस की व्यंजना की है । उसके उत्कर्ष हेतु "त," "प," "व," "र," "श" आदि असंयुक्त परुष वर्णों का, "त्स," "न्त," "श्च," "त्क" संयुक्त व्यंजनों एवं "र्व," "प्र" इत्यादि रेफयुक्त वर्णों का प्रयोग किया है । ये ओजोगुण व्यंजक हैं ।

निम्न पद्य में वीररस की व्यंजना हेतु ओजोगुण व्यंजक "द्धि," "क्त," "द्य," "श," "प्र," "र्ज," "र्त" आदि वर्णों का प्रयोग किया गया है –

> **एके तु खड्गान् रणसिद्धिशिक्षाः परे स्म शूलांस्तु गदाः समूलाः ।**
> **केचिच्च शक्तीर्निजनाथभक्तियुक्ता जयन्तीं प्रति नर्तयन्ति** ॥ ८/१५

निष्कर्षतः कवि ने श्रुतिमाधुर्य की सृष्टि, रसोत्कर्ष तथा विभिन्न भावों की व्यंजना के लिए वर्णविन्यासवक्रता का सफल प्रयोग किया है और जयोदय के काव्यत्व को उत्कर्ष पर पहुँचाया है ।

---

१. रुद्रट्कृत काव्यालंकार, ३/२०

दशम अध्याय

चरित्रचित्रण

काव्य और नाट्य का विषय मानव चरित ही हुआ करता है। उसी के माध्यम से कवि रस व्यंजना करता है। **आचार्य भरत** ने नाट्य के विषय का वर्णन करते हुए कहा है -

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥[1]

- मैंने नाना भावों से समन्वित तथा विविध अवस्थाओं से युक्त लोकवृत्त का अनुकरण करने वाले नाट्य की रचना की है।

आचार्य भरत की इस उक्ति से सम्पूर्ण साहित्य के विषय का निर्देश हो जाता है। लोकवृत्त ही समग्र साहित्य का विषय है। मानव का समस्त मनोवैज्ञानिक पक्ष मानव की प्रवृत्तियाँ, मनोभाव एवं साध्य "लोकवृत्त" शब्द से अभिहित होता है।

वामन ने अपने **काव्यादर्श** में "लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि" उक्ति के द्वारा लोक अर्थात् "लोकवृत्त"[2] को काव्य का अंग (विषय) प्रतिपादित किया है।

"लोकचरित का अनुकरण ही नाट्य है। लोक मे व्यक्तियों का चरित्र न तो एक समान होता है और न उनकी अवस्थाएँ ही एकाकार होती है।हम किसी व्यक्ति को सांसारिक सौख्य की चरम सीमा पर विराजमान पाते है, तो किसी को दुःख, के तमोमय गर्त में अपना भाग्य कोसते हुए पाते हैं। सुख तथा दुःख, वृद्धि तथा ह्रास, हर्ष तथा विषाद, प्रसाद तथा औदासीन्य इन नाना प्रकार के भावों की संज्ञा लोक है। इन्ही भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थाओं के चित्रण से युक्त लोकवृत्त ही **नाटक** है।"[3]

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का कथन है - *"काव्य में वही वस्तु उपादेय मानी जा सकती हैं जो मनुष्य की समग्र मानवता को प्रकट करने की क्षमता रखे।*[4]

जयोदय का विषय भी मानव चरित है। राजा जयकुमार और राजकुमारी सुलोचना के प्रणय, स्वयंवरण, सुखमय दाम्पत्य जीवन, जयकुमार की वीरता, प्रजाप्रेम, धर्मवत्सलता,

---

१. भरत नाट्यशास्त्र, १/११२

२. काव्यादर्श, १३१

३. लोकवृत्तं लोकः, लोकः स्थावरजंगमात्मा च। तस्य वर्तनं वृत्तमिति। - काव्यादर्श, १३२

४. भारतीय साहित्यशास्त्र, १/३७८

वैराग्य, तपश्चरण तथा मोक्ष-प्राप्ति, सुलोचना का उत्कृष्ट शील, धर्मानुराग, वैराग्य तथा आर्यिका दीक्षा से लेकर आत्मोत्थान की साधना, यह भोग और योग से समन्वित आदर्श मानव चरित जयोदय का प्रमुख प्रतिपाद्य है।

जयोदय के विशद अनुशीलन के लिए इसका विश्लेषण भी आवश्यक है, जो यहाँ प्रस्तुत है। जयोदय के पात्रों का परिचय निम्नांकित विभाजन द्वारा एक दृष्टि में हो जाता है-

जयोदय के पात्र

पुरुष पात्र	स्त्री पात्र
ऋषभदेव	सुलोचना
मुनि	अक्षमाला
जयकुमार	बुद्धिदेवी
अर्ककीर्ति	कांचनादेवी
अकम्पन	व्यन्तरदेवी (सर्पिणी)
भरत चक्रवर्ती	गंगादेवी
अनन्तवीर्य	
अनवद्यमति मन्त्री	
दुर्मति मन्त्री	
दुर्मर्षण सेवक	
सुमुख दूत	
महेन्द्रदत्त कंचुकी	
चित्रांगद देव	
रविप्रभ देव	
व्यंतरदेव (सर्प)	

इन्हें पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: ऋषिवर्ग, राजवर्ग, राजसेवक - वर्ग, देववर्ग तथा व्यन्तरवर्ग। ऋषभदेव एवं मुनि ऋषिवर्ग के पात्र हैं। जयकुमार, अर्ककीर्ति, अकम्पन, भरत चक्रवर्ती, अनन्तवीर्य, सुलोचना तथा अक्षमाला राजवर्ग से सम्बद्ध हैं। अनवद्यमति मन्त्री, दुर्मति मन्त्री, दुर्मर्षण सेवक और महेन्द्रदत्त कंचुकी राजसेवक वर्ग के अन्तर्गत हैं। देव वर्ग के पात्र हैं - चित्रांगद देव, बुद्धिदेवी, रविप्रभदेव व कांचनादेवी। व्यंतरदेव, व्यंतरदेवी एवं गंगादेवी को व्यन्तरवर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। जयोदय के प्रत्येक पात्र का चरित्र समाज के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है।

यहाँ प्रमुख पात्रों के चरित्र का विश्लेषण किया जा रहा है ।

जयकुमार

जयकुमार इस महाकाव्य के धीरोदात्त नायक हैं । वे हस्तिनापुर के शासक एवं भरत चक्रवर्ती के सेनापति हैं । सौन्दर्य में कामदेव तथा ज्ञान में बृहस्पति के समान हैं । शौर्य में भी कोई उनकी समान नहीं कर सकता है । काशी नरेश की पुत्री सुलोचना जयकुमार के गुणों से अत्यधिक प्रभावित होती है और स्वयंवर सभा में उपस्थित सभी राजाओं को छोड़कर उनका वरण करती है ।

जयकुमार अप्रतिम योद्धा हैं । वीरश्री सदैव उनका ही वरण करती है । जयकुमार के युद्ध कौशल एवं असाधारण व्यक्तित्व की प्रशंसा भरत चक्रवर्ती भी करते हैं । स्वयंवर समारोह के अनन्तर युद्धोन्मुख अर्ककीर्ति को उसका अनवद्यमति मन्त्री युद्ध न करने हेतु समझाता है और जयकुमार के विषय में कहता है -

चक्रञ्च कृत्रिमं चक्रे चक्रिणो दिग्जये जयम् ।
जय एवायमित्यस्मात् तस्यापि स्नेहभाजनम् ॥ ७/४१

- आपके पिता भरत चक्रवर्ती की षट्खण्ड दिग्विजय में चक्र तो नाम मात्र का (कृत्रिम) था, वास्तविक चक्र तो जयकुमार ही था, जिसके कारण उन्हें षट्खण्डों पर विजय प्राप्त हुई है । जयकुमार आपके पिता के स्नेह का पात्र है ।

उक्त कथन जयकुमार के असाधारण व्यक्तित्व का द्योतक है ।

जब अर्ककीर्ति युद्ध के लिए तत्पर हो जाता है तो जयकुमार भी काशी नरेश अकम्पन को धैर्य बँधाता है और अपने प्रतिद्वन्द्वी अर्ककीर्ति से वीरता-पूर्वक युद्ध करता है। अर्ककीर्ति को पराजित कर उसे बन्दी बना लेता है ।

जयकुमार की जिनदेव, जिनशास्त्र और जिनगुरु में दृढ़ श्रद्धा है । वे प्रतिदिन नियम पूर्वक सुबह-शाम देव-शास्त्र-गुरु की पूजा-उपासना करते हैं ।[1] नगर या उपवन में मुनि के आगमन का समाचार मिलते ही उनके दर्शनार्थ जाते हैं, श्रद्धापूर्वक गुणस्तवन करते हैं और उनसे धर्मोपदेश श्रवण करते हैं ।[2] इन उपदेशों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं । युद्धोपरान्त वे जिनालय में जाते हैं तथा प्रायश्चित के रूप में जिनस्तवन

---

१. जयोदय, सर्ग-१९
२. वही, १/८८-११२, २/१-१४१

करते हैं ।[१] जब उन्हें पूर्वजन्म का स्मरण होता है तब जिनेन्द्र वन्दना के उद्देश्य से तीर्थयात्रा पर जाते हैं ।[२] वैराग्यभाव के जागरित होने पर राज्य त्यागकर प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की शरण लेते हैं । उनसे जिनदीक्षा अंगीकार कर तपस्या करते हैं।[३]

जयकुमार निरन्तर धर्म, अर्थ एवं काम साधना में रत रहते हैं । वे श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ भी हैं । उनकी सभा में प्रजा के हितेच्छु मन्त्री, पुरोहित, विद्वान्, दूत, वैद्य एवं चारण हैं। वे सभी अपने-अपने कार्य में कुशल हैं । जयकुमार विनम्र राजा हैं । वे अपनी सभा में पधारे अकम्पन के दूत का स्वागत करते हैं । वे व्यवहार कुशल एवं मिलनसार हैं । अपने द्वारा पराजित अर्ककीर्ति से शीघ्र मित्रता कर लेते हैं । विवाहोपरान्त सम्राट् भरत से मिलने अयोध्या जाते हैं और उनके पुत्र अर्ककीर्ति को पराजित करने के अपराध की क्षमायाचना करते हैं।[४]

संयम जयकुमार का आभूषण है । उनका मन कभी धर्म-विरुद्ध कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता । एक बार हिमालय पर स्थित मन्दिर में जिनपूजन कर बाहर आते हैं । आते समय स्वर्ग से काञ्चना नामक देवी आकर उनके शील की परीक्षा करती है । मधुर वार्तालाप एवं विविध कामचेष्टाओं द्वारा उन्हें आकृष्ट करने का प्रयास करती है, किन्तु विफल हो जाती है । तब अपने पति के साथ पुनः आकर जयकुमार की पूजा करती है ।[५]

इस प्रकार नायक जयकुमार के चरित्र में धीरता और उदात्तता का मञ्जुल समन्वय है ।

अर्ककीर्ति

यह भरत चक्रवर्ती का पुत्र है। प्रस्तुत काव्य में अर्ककीर्ति का चित्रण प्रतिनायक के रूप में किया गया है । दशरूपक में प्रतिनायक को लोभी, दर्पी, मात्सर्ययुक्त, मायावी, कपटी, अहंकारी, क्रोधी, आत्मश्लाघापरक, हठी, पापशील, व्यसनी एवं नायक का शत्रु बतलाया गया है।[६] अर्ककीर्ति में उक्त सभी विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं । उसकी सारी चेष्टायें नायक के प्रतिकूल, सुलोचना की प्राप्ति के लिए होती हैं ।

---

१. जयोदय, ८/८९-९५
२. वही, २४/५८-८५
३. वही, २६ से २८ सर्ग
४. वही, २०/१-३९
५. वही, २४/९८-१४३
६. दशरूपक - २/५

उसे अपने मानापमान की परवाह नहीं है। वह आमन्त्रित न किये जाने पर भी सुलोचना के स्वयंवर में पहुँच जाता है। इस विषय में वह अपने मन्त्री के परामर्श की भी उपेक्षा कर देता है।[1]

अर्ककीर्ति के काशी पहुँचने पर, स्वयंवर समारोह के पूर्व उसके छल-कपट का परिचय मिलता है। अर्ककीर्ति विचारता है कि यदि स्वयंवर मण्डप में सुलोचना ने मेरा वरण नहीं किया तो मेरा अपमान होगा। इस स्थिति में मैं उसका अपहरण करूँगा। वह अपने साथियों के साथ ऐसी योजनायें बनाता है, जिनसे सुलोचना उसका वरण करने के लिए विवश हो जाय। इसके लिये वह सुलोचना के कञ्चुकी को प्रलोभन भी देता है किन्तु उसे सफलता नहीं मिलती।[2]

स्वयंवर सभा में सुलोचना अर्ककीर्ति के गले में वरमाला न डाल कर आगे बढ़ जाती है तो वह निराश हो जाता है और अपने मित्र दुर्मर्षण के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर जयकुमार से युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है। वह अपने मन्त्री अनवद्यमति के युद्ध न करने के परामर्श और अकम्पन के दूत द्वारा लाये गये सन्धि प्रस्ताव को ठुकरा देता है तथा दुर्वचन कहकर उनका अपमान करता है।[3]

अर्ककीर्ति दम्भी एवं मदोन्मत्त है। वह दूसरों के कहने पर चलता है। स्वयं अपनी बुद्धि से कोई निर्णय नहीं लेता। यही कारण है कि वह युद्ध में जयकुमार द्वारा पराजित हो जाता है। वह उचित-अनुचित के विवेक से रहित है। यह जानते हुए भी कि जयकुमार उसके पिता भरत चक्रवर्ती के सेनापति एवं महान् पराक्रमी हैं, उनसे युद्ध कर बैठता है। वह स्वाभिमानहीन है। पराजित एवं अपमानित होने के बाद भी काशी नरेश अकम्पन की द्वितीय पुत्री अक्षमाला के साथ विवाह करने के लिए तैयार हो जाता है।[4]

अर्ककीर्ति में अनेक दुर्गुणों के साथ कुछ सद्गुण भी दृष्टिगोचर होते हैं। वह युद्ध में हुए नरसंहार से दुःखी हो जाता है और पश्चाताप करते हुए जिनेन्द्रदेव की स्तुति वन्दना करता है।[5] नृपति अकम्पन जब पराजित अर्ककीर्ति को समझाते हैं तो वह अपनी भूल स्वीकार कर लेता है अपने मन्त्री अनवद्यमति के कथन को न मानने का पश्चाताप करता

---

१. जयोदय, ४/१-१६
२. वही, ४/२८-४७
३. वही, ७/१-७२
४. वही, ९/१९-२३
५. वही, ८/९४

है। अकम्पन की बातों का आदर करते हुए वह पुनः जयकुमार से मित्रता कर लेता है और उसे निभाता है।[1]

इस प्रकार अर्ककीर्ति में एक विवेकहीन, ईर्ष्यालु, अहंकारी और छलकपट से परिपूर्ण किन्तु ठोकर खाकर अन्त में सन्मार्ग पर आ जाने वाले खलनायक का चरित्र सजीव हो उठा है।

अकम्पन

अकम्पन भरत चक्रवर्ती के अधीनस्थ काशी के राजा हैं। इनकी रानी का नाम सुप्रभा है। इनके हेमांगद आदि एक हजार वीर पुत्र एवं सुलोचना तथा अक्षमाला दो पुत्रियाँ हैं। जयोदय में अकम्पन का चित्रण वात्सल्य से परिपूर्ण पिता के रूप में किया गया है। वे अपनी पुत्री सुलोचना के युवा होने पर उसके विवाह के विषय में चिन्तित होते हैं। इस सम्बन्ध में अपने मन्त्रियों से विचार विमर्श कर स्वयंवर का आयोजन करते हैं। वे दूतों के द्वारा विभिन्न नगरों एवं राज्यों में स्वयंवर विधान का आमन्त्रण भेजते हैं। स्वयंवर हेतु आये राजकुमारों का वे अपने द्वार पर जाकर स्वागत करते हैं, आदरपूर्वक अपने साथ लाते हैं और उचित स्थान में ठहराते हैं।

राजा अकम्पन न्यायप्रिय एवं शान्तिप्रिय राजा हैं। वे अपने शासन में सर्वप्रथम सामनीति का ही प्रयोग करते है। यही कारण है कि जब स्वयंवर में सुलोचना द्वारा वरण न किये जाने पर अर्ककीर्ति युद्ध के लिए तत्पर हो जाता है, तब अकम्पन यह जानते हुए कि अर्ककीर्ति उनकी बात नहीं मानेगा, उसके समीप एक शान्तिदूत भेजते हैं। जब अकम्पन की सामनीति का प्रयोग सफल नहीं होता, तब वे युद्ध के लिए तत्पर होते हैं। युद्ध में विजयी होने पर वे सर्वप्रथम जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं। अनन्तर जिनेन्द्रदेव के चरणों में बैठी अपनी पुत्री सुलोचना को जयकुमार की विजय का शुभ समाचार देते हैं और स्नेह पूर्वक उसे घर ले जाते हैं।

राजा अकम्पन समदर्शी हैं। वे शत्रु और मित्र को समान भाव से देखते है। वे अपने जामाता की विजय पर प्रसन्न नहीं होते अपितु युद्ध में हुए नरसंहार से दुःखी और अर्ककीर्ति की पराजय से चिन्तित हो जाते हैं। वे पराजित अर्ककीर्ति को शान्त करने के लिए उसके समक्ष अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमाला के विवाह का प्रस्ताव रखते हैं। जब

1. जयोदय, ९/२५-५०

अर्ककीर्ति उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है, तब राजा उन दोनों का विवाह कर देते हैं। राजा अकम्पन अर्ककीर्ति और जयकुमार में मित्रता करा देते हैं।

अकम्पन अत्यन्त विनम्र हैं। स्वयंवर में सम्मिलित होने हेतु पधारे अर्ककीर्ति का स्वागत करने जब अकम्पन अपने द्वार पर जाते हैं तो अर्ककीर्ति का दुर्मति मन्त्री उनसे कटु वचन कहता है। वे उसके वचन को सुनकर भी कोई प्रत्युत्तर नहीं देते।

अकम्पन के स्वभाव में किंचित् भीरुता के भी दर्शन होते हैं। अर्ककीति के पराजित होने पर अकम्पन विचारते हैं कि मैं अर्ककीर्ति को तो प्रसन्न कर लूँगा, किन्तु यदि उसके पिता भरत चक्रवर्ती क्रुद्ध हो गये तब क्या होगा ? समुद्र में रहकर मगर से वैर करने वाला व्यक्ति कभी भी सुख से नहीं रह सकता। ऐसा विचार कर क्षमा-याचना के लिए भरत चक्रवर्ती के समीप अपने सुमुख दूत को भेजते है।

काशी नरेश अकम्पन अपने सारे कर्त्तव्यों मे निवृत्त होकर अन्त में तीर्थंकर ऋषभदेव के चरणों में जाकर जिनदीक्षा अंगीकार कर लेते है।

इस प्रकार अकम्पन के रूप में हमें वात्सल्यमय पिता, न्यायशील एवं शान्तिप्रिय राजा तथा एक धर्मप्राण मोक्षाभिलाषी मानव के दर्शन होते हैं।

चक्रवर्ती सम्राट् भरत

सम्राट् भरत आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र हैं। वे चक्रवर्ती हैं। इन्हीं के नाम मे इस देश का नाम "**भारत वर्ष**" प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। चक्रवर्ती होते हुए भी अत्यन्त विनम्र हैं। जब काशी नरेश अकम्पन का दूत सुलोचना के स्वयंवरण का समाचार लेकर उनके पास आता है, तब वे उसका स्वागत करते हैं। सुलोचना के स्वयंवर का समाचार पाकर हर्षित हो वे सुलोचना की विलक्षण बुद्धिमत्ता एवं स्वयंवर परम्परा के प्रवर्तक काशी नरेश अकम्पन की महती प्रशंसा करते हैं। वे सद्गुणों और सत्कार्यों के प्रशंसक हैं और अनुचित कार्य के निन्दक। उनके पुत्र अर्ककीर्ति ने जयकुमार के साथ जो अनुचित रूप से युद्ध किया उसकी वे निन्दा करते हैं।

जब राजा जयकुमार सम्राट् भरत से मिलने अयोध्या पहुँचते हैं तब वे उसका स्वागत करते हुए अपना स्नेह प्रकट करते हैं। जयकुमार एवं सुलोचना को अनेक वस्त्राभूषण प्रदान कर विदा करते हैं।

सुलोचना

सुलोचना जयोदय की नायिका है। वह काशीराज अकम्पन एवं रानी सुप्रभा की ज्येष्ठ पुत्री है। वह हस्तिनापुर नरेश जयकुमार के गुणों का श्रवणकर उन पर अनुरक्त हो जाती है और पिता द्वारा आयोजित स्वयंवर सभा में उनका पति के रूप में वरण करती है।[१]

वह बुद्धिमती एवं विवेकशील है। स्वयंवर सभा में बुद्धिदेवी द्वारा राजाओं का परिचय देने के लिए प्रयुक्त उक्ति-वैचित्र्य को वह तुरन्त समझ लेती है।[२]

नायिका सुलोचना को माता-पिता से धार्मिक संस्कार मिले हैं। जब वह जयकुमार के गुणों एवं रूप सौन्दर्य के विषय में सुनती है, तो उन्हें प्रेम-सन्देश प्रेषित न कर जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों में ध्यान लगाती है। पति, पिता एवं भाईयों के युद्ध भूमि में जाने पर वह उपवास धारणकर जिनालय में बैठती है। जब पति के विजयी होने का समाचार पाती है तभी पिता के साथ घर आती है।

सुलोचना साहसी एवं पतिव्रता नारी है। जब वह गंगा नदी में अपने पति जयकुमार को संकटग्रस्त स्थिति में देखती है, तो घबराती नहीं है; अपितु णमोकार मन्त्र का जाप करती हुई गंगा में प्रविष्ट होती है। उसके शील के प्रभाव से संकट टल जाता है।[३] इसी प्रकार कैलाश पर्वत की यात्रा से लौटते समय जब एक देवी जयकुमार के समक्ष आकर प्रणय निवेदन करती है और जयकुमार के द्वारा निवेदन को ठुकरा दिये जाने पर उन्हें लेकर भागने लगती है, तब सुलोचना किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं होती, अपितु देवी को इस प्रकार ललकारती है कि वह जयकुमार को छोड़कर भाग जाती है।[४]

इस प्रकार सुलोचना में हमें एक सुशील, पतिव्रता, धर्मप्राण, बुद्धिमती एवं साहसी नारी के दर्शन होते हैं।

बुद्धिदेवी

राजकुमारी सुलोचना को स्वयंवर सभा में आये राजकुमारों का परिचय देने के लिए बुद्धिदेवी का अवतरण हुआ है। कवि ने उसके स्त्री सुलभ स्वभाव का यथावसर सुन्दर

---

१. जयोदय, ६/५-१२७
२. वही, सर्ग ६
३. वही, २०/४८-६५
४. वही, २४/१०५-१४६

चित्रण किया है। साथ ही सुलोचना सौन्दर्य की तरह बुद्धिदेवी के सौन्दर्य का वर्णन भी महाकवि ने किया है। बुद्धिदेवी राजा अकम्पन के लिए चिन्ताहरण देवी बन कर आती है। राजा अकम्पन इस बात से चिन्तित हैं कि सुलोचना को स्वयंवर में आये राजकुमारों के गुणों का समुचित रूप से परिचय कौन करा सकेगा ? बुद्धिदेवी आते ही इस कार्य का उत्तरदायित्व लेकर राजा को आश्वस्त कर देती है।[1]

बुद्धिदेवी नारी सुलभ वात्सल्य से ओतप्रोत है। जब सुलोचना स्वयंवर मण्डप में आकर अगणित राजकुमारों को देखती है तो उनमें से किसी एक का सम्मान तथा शेष का निरादर होने के भय से चिन्तित हो जाती है। उस समय बुद्धिदेवी सुलोचना को बड़े स्नेह से अनेक युक्तियों एवं दृष्टान्तों से समझाकर चिन्तामुक्त करती है।

स्वयंवरसभा में राजपरिचय देते समय बुद्धिदेवी की प्रगल्भता दर्शनीय है। वह सुलोचना को आगन्तुक राजकुमारों का परिचय आलंकारिक भाषा में करती है। वह सुलोचना के हाव-भावों के द्वारा उसकी रुचि-अरुचि को ताड़ लेती है और उसी के अनुसार राजाओं का परिचय विस्तार या संक्षेप में देती है।[2] जब वह सुलोचना को जयकुमार के प्रति अनुरक्त देखती है, तो उसके गुणों का वर्णन अत्यन्त विस्तार से करती है और अन्त में कहती है -

यदि भो जयैषिणी त्वं दृकुशरविद्धं ततशिथिलमेनम् ।
अयि बालेऽस्मिन् काले स्रजा बधानाविलम्बेन ॥ ६/११६

- हे बाले ! यदि तू जयकुमार के प्रति अनुरक्त है तो इसे शीघ्र ही माला के बन्धन से बाँध ले। क्योंकि यह तेरे कटाक्ष बाणों से घायल होने के कारण शिथिल हो रहा है।

संक्षेप में बुद्धिदेवी हमारे सामने एक वात्सल्य से परिपूर्ण, हितैषिणी मार्गदर्शिका के रूप में आती है।

ऋषभदेव

ये प्रथम तीर्थंकर है। देवलोक एवं मध्यलोक के मध्य देवों द्वारा रचित समवशरण में दिव्य सिंहासन से चार अंगुल ऊपर स्थित हैं। जब आत्मकल्याण का इच्छुक जयकुमार तीर्थंकर देव की शरण में पहुँचता है, तो वे धर्मोपदेश द्वारा यथार्थ मार्ग प्रदर्शित करते हैं। जयकुमार उनके द्वारा दर्शाये मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त करता है।

---

१. जयोदय, सर्ग-५
२. वही, सर्ग-६

अनवद्यमति मन्त्री

अनवद्यमति भरत चक्रवर्ती के पुत्र राजकुमार अर्ककीर्ति का मन्त्री है। वह न्यायप्रिय है। जयकुमार के पराक्रम से भली भाँति परिचित है। अतः अपने स्वामी अर्ककीर्ति को जयकुमार से युद्ध न करने की सलाह देता है। वह युद्धोन्मुख अर्ककीर्ति से कहता है -

संजाय जायते नैषा सती दारान्तरोत्थितिः।
जये तेऽप्यजयत्वेन त्वेनः कल्पान्तसंस्थिति॥ ७/४३

- युद्ध में आपकी विजय होना निश्चित नहीं है। यदि आप विजयी हो भी गये तो सुलोचना सती है, वह आपकी न हो सकेगी। उल्टे आप परस्त्रीहरण के पाप के भागीदार होंगे।

अनवद्यमति अर्ककीर्ति को आमन्त्रण के बिना सुलोचना के स्वयंवर में जाने से रोकता है। इस प्रकार अनवद्यमति समय समय पर उचित सलाह देकर अपने भूपति का मार्गदर्शन करता है।

दुर्मति

यह अर्ककीर्ति का मन्त्री है। नाम के अनुरूप ही इसका कार्य है। यह अपने स्वामी अर्ककीर्ति को सदैव अनुचित कार्य करने के लिये प्रोत्साहित करता है। आमन्त्रण न मिलने पर भी अर्ककीर्ति का सुलोचना स्वयवर में जाना उचित ठहराता है।

दुर्मर्षण

यह अर्ककीर्ति का धूर्त सेवक है, जो सदैव अपने नाम को सार्थक बनाने वाले कार्य करता है। दुर्मर्षण द्रोहकारक वचनों से अर्ककीर्ति को जयकुमार एवं अकम्पन से युद्ध करने के लिए उत्तेजित करता है। वह बात करने में चतुर है। अनुचित बात को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि साधारण व्यक्ति को उस पर सहज विश्वास हो जाता है।

इस प्रकार कवि ने पात्रों के कुशल चरित्र-चित्रण द्वारा मानव-चरित की वैयक्तिक विभिन्नताओं का मनोवैज्ञानिक पक्ष बड़ी निपुणता से उद्घाटित किया है तथा उनकी कोमल और उग्र, उदात्त एवं क्षुद्र, रमणीय एवं वीभत्स भावनाओं का कलात्मक उन्मीलन कर सहृदयों को रससागर में अवगाहन का अवसर प्रदान किया है।

एकादश अध्याय

जीवन-दर्शन और जीवन-पद्धति

महाकाव्य के माध्यम से सम्यक् जीवनदर्शन और आदर्श जीवनपद्धति पर प्रकाश डालना कवि का मुख्य ध्येय रहा है। इसलिए उन्होंने काव्य के लिए ऐसा पौराणिक कथानक चुना है जिसके नायक-नायिका धर्म से अनुप्राणित हैं और जिनके जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि सम्यक् जीवन-दर्शन और समीचीन जीवन-पद्धति से ही सम्भव है। इसीलिये आत्महित और लोकहित में निरत सन्त कवि इन्हीं से परिचित कराने के लिए काव्य और नाट्य को माध्यम बनाते हैं, क्योंकि काव्य और नाट्य कान्तासम्मित उपदेश के अद्वितीय साधन हैं।

मनुष्य की जीवन पद्धति उसके जीवनदर्शन पर आश्रित होती है। यदि मनुष्य की दृष्टि में आत्मा अनित्य है, मृत्यु के बाद सब कुछ खत्म हो जाता है, तो उसकी जीवनपद्धति निश्चित ही "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" वाली होगी। इसके विपरीत यदि उसे आत्मा एक शाश्वत तत्त्व प्रतीत होता है, मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है, यह विश्वास उसे होता है तो उसकी जीवनपद्धति का स्वरूप कुछ और ही होगा।

जयोदय में जो जीवनदर्शन प्रतिबिम्बित हुआ है उसके मान्य तथ्य हैं - सृष्टि की अनादि अनन्ता, आत्मा की नित्यता एवं स्वतन्त्रता, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म एवं मोक्ष। इस जीवनदर्शन से अनुप्रेरित जीवनपद्धति के विभिन्न अंगों को कवि ने मुनिराज द्वारा जयकुमार को दिये गये उपदेश के माध्यम से प्रकट किया है। जो इस प्रकार है-

पुरुषार्थ चतुष्टय

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; ये चार पुरुषार्थ भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन के लक्ष्य माने गये हैं। इनमें धर्म, अर्थ और काम गृहस्थ के करने योग्य हैं। यद्यपि ये एक साथ परस्पर विरुद्धता लिये हुए हैं, तथापि गृहस्थ उन्हें अपने विवेक से परस्पर अनुकूल करते हुए सिद्ध करे।[1] अर्थ-पुरुषार्थ और काम-पुरुषार्थ लौकिक सुख के लिए हैं और जन्मान्तरीय आगामी सुख के लिए मोक्ष-पुरुषार्थ है। किन्तु धर्म-पुरुषार्थ की तो कौए की आँख में स्थित कनीनिका के समान दोनों ही जगह आवश्यकता है।[2] संसार में एक मात्र घर ही गृहस्थ के लिए भोगों का समुचित स्थान है। उस भोग का साधन धन है। वह धन

---

१ जयोदय, २/१९

२ वही, २/१०

सबसे सौहार्द रखने पर प्राप्त होता है । इसलिए गृहस्थ ही त्रिवर्ग का संग्राहक होता है ।[१] अन्तिम मोक्ष-पुरुषार्थ कर्मों के अभाव का कारण रूप उद्यम है । वह तपस्वियों के लिए तो स्वकृत कर्मों का विनाशक है, किन्तु श्रावकों (गृहस्थ साधकों) के लिए निश्चय ही पापों का नाशक है ।[२]

देवपूजन

प्रात:काल गृहस्थ का मन और इन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं, अतः उस समय प्रधानतया सब अनर्थों का विनाश करने वाला देव-पूजन करना चाहिए, ताकि सारा दिन प्रसन्नता से बीते । प्रसिद्ध है कि दिन के आरम्भ में जैसा शुभ या अशुभ कर्म किया जाता है, वैसा ही सारा दिन बीतता है ।[३] भगवान् अरहन्त देव ही पूजनीय हैं क्योंकि वे मंगलों में उत्तम और शरणागतवत्सल हैं । वे देवों के भी देव हैं । प्राणियों का हित करनेवाला उनके समान और कोई नहीं है ।[४] जैसे धनवानों के द्वारा उतार कर फेंके गये वस्त्रादि निर्धनों के लिए अलंकार के समान आदरणीय हो जाते हैं, वैसे ही भगवान् अरहन्तदेव के चरणों की रज हम जैसों के भवरोगों को दूर करती है । उनके स्नान (अभिषेक) का जल सज्जनों के मस्तक को पवित्र करता है।[५] भक्तों की पूजा पद्धतियाँ उनकी स्वाभाविक अभिरुचि के वश भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं । किन्तु जैसे नर्तकी मूलसूत्र का सहारा लेकर तरह-तरह से नाचती है, इससे उसका नर्तन दोषपूर्ण नहीं होता, वैसे ही पूजा पद्धतियों का मूल उद्देश्य भगवान् की पूजा ही है, अतः पद्धति भेद में कोई दोष नहीं है ।[६]

गृहस्थ को अपने अव्यक्तदेव का स्वरूप उनकी प्रतिमा के द्वारा समझ लेना चाहिए। बालक को हाथी, घोड़े आदि का परिज्ञान उनके आकारवाले खिलौनों के द्वारा ही होता है।[७] जिनेन्द्र भगवान् के बिम्ब की प्रतिष्ठा संसारी आत्माओं के लिए शान्तिदायक होती है । किसान फसल को पशु-पक्षियों से बचाये रखने के लिए ही एक मनुष्याकार पुतला बनाकर खेत के बीच खड़ा कर देता है । इससे वह अपने उद्‌देश्य में सफल ही होता है ।[८] मन्त्रों के द्वारा जिन-भगवान् के प्रतिबिम्ब में जो उनके गुणो का आरोपण किया जाता है, वह सर्वथा निर्दोष ही है । क्या युद्ध में मंत्रित कर फेंके गये उड़द आदि शत्रु के लिए मरण, विक्षेप आदि उपद्रव करने वाले नहीं होते ?[९]

---

१. वही, २/२१
२. वही, २/२२
३. वही, २/२३
४. वही, २/२७
५. जयोदय, २/२८
६. वही, २/२९
७. वही, २/३०
८. वही, २/३१
९. वही, २/३२

गृहस्थ किसी कार्य के आरम्भ में भगवान् जिनेन्द्र का नाम लेकर अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण करें, तो निश्चय ही उसका कार्य सिद्ध होगा किन्तु सदाचार का उल्लंघन करने पर सिद्धि प्राप्त न होगी।[१] अरहन्त भगवान् के नामोच्चार मात्र से ही सारी विघ्नबाधायें टल जाती हैं। जैसे सूर्य का आतप किसान के अन्न को पकाता है, वैसे ही अप्रकटरूप से भी भगवान् का चिन्तन अवश्य इष्टसिद्धि करता है। इसलिए भक्तजन तीनों सन्ध्याओं में जिन भगवान् का स्मरण करते रहें।[२] गृहस्थ को चाहिए कि वह मन से सदैव भगवान् का स्मरण किया करे। पर्व के दिनों में तो उनकी विशेष रूप से भक्ति करे, क्योंकि गृहस्थ के लिए निर्दोष रूप से की गयी जिन-भगवान् की भक्ति ही मुक्ति दिलाने वाली होती है।[३]

स्वाध्याय

बुद्धिमान् मनुष्य को अपनी बुद्धि परिष्कृत करने के लिए सरस्वती (जिनवाणी) की आराधना करनी चाहिए, क्योंकि शस्त्रधारी पुरुष अपने शस्त्र को शाण पर चढ़ाकर ही उसके प्रयोग में सफल होता है।[४]

शास्त्र प्रधानतया दो प्रकार के होते हैं - **संहिताशास्त्र और सूक्तिशास्त्र**। संहिता जन साधारण के विचारों को लक्ष्य में रखकर सांगोपांग वर्णन करने वाली होती है, इसलिये वह अपने विषय को, चाहे वह प्रशस्त हो या अप्रशस्त, सदैव स्पष्ट करती है।[५] सूक्तशास्त्र वह है जो सर्वसम्मत होता है। वह सदैव हितकर बातें ही कहता है और परमोपयोगी होता है। अतः वह अपने विषय के अप्रशस्त अंश को गौण करते हुए सदैव प्रशस्त अंश का ही वर्णन किया करता है।[६] गृहस्थ व्यक्ति को चाहिए कि वह सबसे पहले जिसमें अपने करने योग्य कुलागत रीति रिवाजों का वर्णन हो, ऐसे उपासकाध्ययन-शास्त्रों का ही अध्ययन करे। क्योंकि अपने घर की जानकारी न रखते हुए दुनियाँ को खोजना अज्ञता ही होगी।[७] इस भूतल पर श्रेष्ठ प्रसिद्धि को प्राप्त सत्पुरुषों के जीवनचरित का स्तवन करने पर गृहस्थ का दुःख दूर होता है और सुख प्राप्त होता है, क्योंकि अपना स्वच्छ या मलिन मुख दर्पण में देखा जा सकता है।[८] मनुष्य समीचीन अवस्था, काल के नियम, अपनी संगति, शुभगति या शुभाशुभ परिवर्तन का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए करणानुयोग-शास्त्रों का अध्ययन करे। क्योंकि सुवर्ण के खरे-खोटेपन की परीक्षा कसौटी पर ही की जाती है।[९] इसके बाद

---

१. जयोदय, २/३५
२. जयोदय, २/३६
३. जयोदय, २/३८
४. जयोदय, २/४१
५. जयोदय, २/४३
६. जयोदय, २/४४
७. जयोदय, २/४५
८. जयोदय, २/४६
९. जयोदय, २/४७

चरणानुयोग का अध्ययनकर सन्मार्ग को न छोड़ता हुआ सदैव सदाचरण करे । क्योंकि सन्मार्ग पर चलने वाले को क्या कष्ट होगा ?[१] जगत् में क्या-क्या चीजें हैं और किस-किस चीज का कैसा सुन्दर या असुन्दर परिणाम होना है, यह जानने के लिए द्रव्यानुयोग-शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि वस्तु की वस्तुता वितर्क का विषय नहीं है।[२] इन उपर्युक्त प्रथमानुयोगादि शास्त्रों में कथन की अपनी-अपनी शैली के भेदों से आत्मकल्याण की ही बातें कही गयी हैं ।

हम पृथ्वी पर देखते हैं कि सीने की मशीन से सीना और कसीदा निकालना ये सब कारीगरियाँ उस वस्त्र को पहनने योग्य बनाने के लिए ही होती हैं ।[३] बिना कुछ विचार किये सब पर विश्वास पर बैठना अपने आपको ठगाना है । किन्तु सब जगह शंका ही शंका करनेवाला भी कुछ नहीं कर सकता । इसलिये समझदार मनुष्य योग्यता से काम ले, क्योंकि अति सर्वत्र दुःखदायी ही होता है ।[४]

तत्पश्चात् मनुष्य को चाहिए कि शब्द-शास्त्र पढ़कर निरुक्ति के द्वारा पदों की सिद्धि जानते हुए व्याकरण-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करे । क्योंकि वचन की शुद्धि ही पदार्थ की शुद्धि की विधायक होती है ।[५] बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है कि वह काव्यशास्त्र का अध्ययन करके उपमा, अपह्नुति, रूपक आदि अलंकारों का भी ज्ञान प्राप्त करे । चूँकि वाणी प्रायः प्रसंगानुसारिणी होती है, अतः अलंकारों द्वारा ही वह अपने अभिप्राय का यथोचित बोध करा पाती है ।[६] गृहस्थ उत्तम व्याकरणशास्त्र, अलंकारशास्त्र और छन्दशास्त्र जो कि परस्पर वाच्य-वाचक के समन्वय को लिए हुए होते हैं और जो वाङ्मय के नाम से कहे जाते हैं, उनका अच्छी तरह से अध्ययन करे ।[७] गृहस्थ मनुष्य को आयुर्वेदशास्त्र का भी अध्ययन करना चाहिए जिससे अपनी सुख-सुविधा के मार्ग में स्वास्थ्य से किसी तरह की बाधा न होने पाये और अपने सहयोगियों का मन भी प्रसन्न रहे । क्योंकि शरीर ही सभी तरह के सौख्यों का मूल है ।[८] जैसे कि घोड़े को उछल-कूद भी सीखनी पड़ती है, वैसे ही गृहस्थाश्रम में रहने वाले मनुष्य को कामशास्त्र का अध्ययन भी यत्नपूर्वक करना चाहिए । अन्यथा फिर अनेक प्रसंगों में धोखा खाना पड़ता है ।[९] गृहस्थ को निमित्तशास्त्र या ज्योतिषशास्त्र का भी अध्ययन करना चाहिए, जिससे यथोचित भविष्य का दर्शन हो सके । फिर उसके सहारे

---

१. जयोदय, २/४८
२. वही, २/४९
३. वही, २/५०
४. वही, २/५१
५. जयोदय, २/५२
६. वही, २/५४
७. वही, २/५५
८. वही, २/५६
९. वही, २/५७

असम्भव को भी सम्भव बनाया जा सकता है। कारण सांगड़े (साधन) के द्वारा बड़ी से बड़ी शिला को भी हिलाया-चलाया जाता है।[१] सज्जन पुरुष अर्थशास्त्र का भी अध्ययन करे, जिससे वह आम लोगों में रहते हुए कुशलतापूर्वक जीवन-यापन कर सके और प्रतिष्ठा पा सके। अन्यथा धनहीनता मरण से भी बढ़कर भयंकर दुःखदायिनी होती है।[२]

इसके बाद जिन भगवान् की कीर्तन कला के लिए ताल, लय, मूर्च्छना आदि संगीत के अंगों के साथ गीति के प्रकार भी संगीत शास्त्र से सीख ले। क्योंकि मधुर वाक्यता विश्व को वश में करने वाली होती है।[३] यद्यपि मन्त्रशास्त्र कष्ट साध्य प्रतीत होता है, फिर भी उतना ही उपयोगी, शोभन कार्यकारी भी है। पुरुष यदि स्वतन्त्रचेता हो तो उसे चाहिए कि अपने कार्यों में आयी बाधाओं को दूर करने के लिए मन्त्रशास्त्र के जानकार पुरुषों के पास रहकर परिश्रमपूर्वक उसकी भी जानकारी प्राप्त करे।[४] गृहस्थ को वास्तुशास्त्र का भी अध्ययन कर लेना चाहिए, ताकि उसके द्वारा अपने निवास स्थान को बाधारहित बना सके। इसके अतिरिक्त और भी जो लौकिक कला-कुशलता के शास्त्र हैं, उनका भी अध्ययन करने वाला मनुष्य सब में चतुर कहलाकर अपने जीवन को सम्पन्नता से बिता सकता है।[५] यद्यपि ये सब शास्त्र ऋषियों की भाषा में दुःश्रुति नाम से कहे गये हैं अर्थात् न पढ़ने योग्य माने गये हैं फिर भी इन्हें गृहस्थ भी न पढ़े, ऐसा नहीं। क्योंकि अति मात्रा में भोजन करना आमरोगकारक होने से निषिद्ध कहा गया है, फिर भी जिसे भस्मकरोग हो गया हो, उसके लिए तो वह हितकर ही होता है।[६] यद्यपि निमित्तशास्त्र आदि भी भगवान् की वाणी से निःसृत हुए हैं, फिर भी वे प्रथमानुयोगादि शास्त्रों के समान आदरणीय नहीं हैं। देखो मस्तक भी शरीर का अंग है और पैर भी, फिर भी मस्तक के समान पैरों की सदंगता नहीं होती।[७] समझदार पुरुष को याद रखना चाहिए कि भगवान् अरहन्त की वाणी में भी जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य और छोड़ने योग्य; ऐसा तीन तरह का कथन आता है।[८] जो शास्त्र यहाँ लौकिक कार्यों में हितकर न हो और सज्जनों के मन को तत्त्व के मार्ग से भ्रष्ट करने वाला हो (अतः परलोक के लिए भी अनुपयोगी हो), वह दोनों लोकों को बिगाड़ने वाला कुशास्त्र है। उसे नहीं पढ़ना चाहिए। जिससे कोई लाभ नही, उसे कौन समझदार पुरुष स्वीकार करेगा ?[९]

१. जयोदय, २/५८
२. वही, २/५९
३. वही, २/६०
४. वही, २/६१
५. जयोदय, २/६२
६. वही, २/६३
७. वही, २/६४
८. वही, २/६५
९. वही, २/६६

गुरुजनों का आदर

मनुष्य महापुरुषों के प्रति नियमतः भक्तिमान् बने। महापुरुषों के अनुग्रह का बिन्दु भी हो तो यहाँ उससे बढ़कर भव्यता क्या है ? कारण, इन महापुरुषों द्वारा आदृत पाषाण भी इस भूतल पर पूजा जाता है।[१] सांसारिक विषयों के सेवन से सर्वथा दूर रहने वाले और मोक्षमार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ने वाले, जिनका मन काम-वासना से दूर रहता है, उन गुरुदेव का मंगलमय दर्शन सदा करते रहना चाहिए।[२] जो लोग ज्ञान, चारित्र, आयु और कुल परम्परा में बड़े हों, उन लोगों का भी लौकिक मार्ग में हित चाहने वाला पुरुष यथायोग्य रीति से आदर करता रहे।[३] मनुष्य को चाहिए कि जिस राजा के राज्य में निवास करता है, उसको प्रसन्न बनाये रखने की चेष्टा करे। उसके विरुद्ध कोई काम न करे, क्योंकि उसके विरुद्ध चलना शल्य के समान हर समय दुःख देता रहता है। समुद्र में रहकर मगरमच्छ से विरोध करना हितावह नहीं होता।[४] इन उपर्युक्त पारलौकिक और लौकिक गुरुओं के अतिरिक्त जो विषय-वासना के फन्दे में फँसे हुए हैं, विविध आरम्भ-परिग्रहों में आसक्त हैं तथा व्यर्थ ही स्वयं को गुरु कहलवाना चाहते हैं, अपने तथा औरों के भी सुख को नष्ट करने वाले हैं; उन गुरुओं का आदर नहीं करना चाहिए।[५]

विनय और सदाचार

भूतल पर अपने कार्य को कुशलतापूर्वक करने के इच्छुक मनुष्य को चाहिए कि यथायोग्य रीति से दान, सम्मान और विनय द्वारा न केवल समानधर्मी लोगों को सन्तुष्ट रखे, बल्कि विधर्मी लोगों को भी अपने अनुकूल बनाये रहे और इस तरह अपने गृहस्थ धर्म के द्वारा विजय प्राप्त करे। धर्म का मूल विनय ही है।[६] अपने अन्तरंग को शुद्ध रखने के लिये आस्तिक्य (नरक, स्वर्गादि हैं, ऐसी श्रद्धा) भक्ति (गुणों में अनुराग), धृति, सावधानता, त्यागिता (दानशील होना), अनुभविता (प्रत्येक बात का विचार करना), कृतज्ञता, और नैष्प्रतीच्छ्य (किसी का भी भला करके उसका बदला नहीं चाहना), आदि गुणों को प्राप्त करना चाहिए।[७] यद्यपि भावना की पवित्रता सदा कल्याण के लिए ही कही गई है फिर भी भोगाधीन मन वाले गृहस्थ को चाहिए कि वह कम से कम सदाचार का अवश्य ध्यान रखे अर्थात् भले पुरुषों को अच्छी लगनेवाली चेष्टा, आचरण किया करे। क्योंकि देशना करने वाले भगवान् सर्वज्ञ ने सदाचार को ही प्रथम धर्म बतलाया है।[८]

---

१. जयोदय, २/६७
२. वही, २/६८
३. वही, २/६९
४. वही, २/७०
५. जयोदय, २/७१
६. वही, २/७२
७. वही, २/७४
८. वही, २/७५

दान

विश्वहित की पवित्र भावना को रखनेवाला और स्थितिकारी मार्ग का आदर करनेवाला गृहस्थ यथाशक्ति अपने न्यायोपार्जित द्रव्य का दान भी करता रहे। यों पेट तो कुत्ता भी शीघ्र भर ही लेता है।[१] मधुर संभाषणपूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार योग्य अन्न और जल का दान करते हुए अपने घर आये अतिथि का समीचीनरूप से विसर्जन करना अर्थात् उसे प्रसन्नकर भेजना गृहस्थ के धर्म कार्यों में सबसे मुख्य है।[२] सृष्टि के लिए किया हुआ दान ही अपने अभीष्ट के पोषण के लिए होता है। जैसे जमीन में सींचा हुआ जल वृक्ष के संवर्धन के लिए ही होता है।[३] गृहस्थ अपने संचित पापकर्म को दूर हटाने के लिए धर्मपात्र (दिगम्बर साधु आदि) का संतर्पण करे और ऐहिक जीवन प्रसन्नता से बिताने के लिए कार्यपात्रों (भृत्यादि) की आवश्यकतायें भी यथोचित पूरी करता रहे। इसके अतिरिक्त अपना यश भूमण्डल पर फैले, इसके लिए दान भी देता रहे, क्योंकि अपयशी पुरुष जीवन ही कैसे बिता सकेगा ?[४] कुशल और शुद्धचित्त गृहस्थ, मुनियों में श्रद्धा रखते हुए नवधा भक्ति द्वारा उनके लिए भोजन, वस्त्र, पात्रादि उपकरण, औषधि और शास्त्र का दान करे क्योंकि यतियों का सान्निध्य तो विनयादि गुणों से ही प्राप्त होता है।[५] गृहस्थ को चाहिए कि वह जिस प्रकार गुणवान् ऋषिवरों का आदर करे उसी प्रकार समीचीन मार्ग को अपनाने वाले मध्यम साधुओं और तटस्थ साधुओं को भी संतर्पित करता रहे। क्योंकि लज्जावान् राजा धनवानों तथा गरीबों दोनों को अपनी प्रजा का अंग मानता है।[६]

गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि यथायोग्य मकान आदि उपयोगी वस्तुयें देकर सबकी संभाल करता रहे जिससे जीवन निर्वाह में सुविधा बनी रहे। क्योंकि रात्रि में दीपक के बिना गति ही क्या है ? अर्थात् रात्रि में दीपक के बिना जैसे निर्वाह कठिन होता है, वैसे ही ऐसा न करने पर गृहस्थ जीवन भी दूभर बन जाता है।[७] ऐहिक जीवन सुख-सुविधा से बिताने की इच्छा वाले गृहस्थ को आवश्यक है कि अपने त्रिवर्ग के साधन में सहायता करने वाले लोगों को भी सन्तुष्ट करते हुए उन्हें निराकुल बनाये। अगर कुम्भकार न हो तो हमें बर्तन कौन देगा और फिर हम अपने पीने का पानी किसमें लायेंगे ?[८] निश्चय ही प्राणीमात्र का कष्ट दूर हो जाय, इस प्रकार करुणा की कोमल भावना रखते हुए गृहस्थ समय-समय

---

१. जयोदय, २/९१
२. वही, २/९२
३. वही, २/९३
४. वही, २/९४
५. जयोदय, २/९५
६. वही, २/९६
७. वही, २/९७
८. वही, २/९८

पर लोगों को अन्न-वस्त्रादि देता रहे। क्योंकि भले पुरुषों का वैभव परोपकार के लिए ही हुआ करता है।[१] गृहस्थ को अवसर के अनुसार समान-धर्मा गृहस्थ को उसके लिए आवश्यक और गृहस्थोचित कार्यों में सुविधा उत्पन्न करने वाले कन्या, सुवर्ण, कम्बल आदि धन-सम्पत्ति भी देना चाहिए क्योंकि संसार में जीवों का जीवन-निर्वाह परस्पर के सहयोग से ही होता है।[२]

यहाँ तो सुवर्ण का ही दान देना चाहिए, तभी पुण्य होगा, इस तरह की विचारधारा लेकर दस प्रकार के दान जो लोक में प्रसिद्ध हैं, संसार से पार होना चाहनेवाले मनुष्य को उनसे दूर ही रहना चाहिए। क्योंकि पुण्य का कारण तो योग्यता ही होती है।[३] जो सन्मार्ग की हँसी उड़ाता और उससे द्वेष करता है, जो उद्धत स्वभाव और कृतघ्न है; ऐसे पुरुष को कभी कुछ भी नहीं देना चाहिए। देखो, अपने प्राणों का नाश करने वाला सांप को कौन समझदार स्वयं जा कर दूध पिलायेगा ?[४] यहाँ जो वस्तु अनुपयोगी है, प्रत्युत हानिकारक है, वहाँ उसे देना भी पापकारी होता है। क्योंकि जिसकी जठराग्नि प्रज्वलित है, उसी को विचारपूर्वक दिया गया घी ठीक होता है। रोगी के लिये दिया वही घृत हानिकर ही होता है।[५] अपने कुल का सुख से निर्वाह होता रहे और स्वयं इस संसार में निराकुल हो कर परमात्मा की आराधना कर सके, यह ध्यान में रखकर मनुष्य जीवन भर सुयोग्य पुरुष के लिए आवश्यक वस्तु देता रहे। क्योंकि सत्पुरुषों की चेष्टायें तो अपने और पराये दोनों के कल्याण के लिए ही होती हैं।[६] इसके अतिरिक्त गृहस्थ को चाहिए कि अपना तो यश हो और पूर्वजों की स्मृति बनी रहे तथा सर्व साधारण में सद्भावना की जागृति हो, इसलिए जिनमन्दिर, धर्मशाला आदि परोपकार के अनेक साधन भी जुटाता रहे, जिससे सन्मार्ग की प्रतिष्ठा बनी रहे।[७] इस प्रकार परमार्थ की श्रद्धा रखने वाले और शील, संयम से युक्त तथा भली आजीविका वाले मनुष्य के लिए आचार्यों ने यह देव-पूजन और दानरूप जो दो काम बताये हैं, वे नित्य ही करने चाहिए। फिर पर्व आदि विशेष अवसरों पर तो इन दोनों कार्यो का विशेष रूप से सम्पादन करना चाहिए।[८]

निरामिष आहार

दान और पूजा के अनन्तर गृहस्थ को चाहिए कि वह मनुष्योचित (जिसका कि

१. जयोदय, २/९९
२. वही, २/१००
३. वही, २/१०१
४. वही, २/१०२
५ जयोदय, २/१०३
६ वही, २/१०४
७. वही, २/१०५
८ वही, २/१०६

समर्थन आयुर्वेदशास्त्र से होता हो) तथा स्वयं के लिए रुचिकर निरामिष भोजन अपने कुटुम्ब वर्ग के साथ एक पंक्ति में बैठकर किया करे। थाल में कुछ छोड़कर ही सब के साथ उठे। यह गृहस्थ की सामाजिक सभ्यता है।[१] इन्हीं गृहस्थों में जो आर्षमार्ग का आदर करने वाला हो, जिसका हृदय सुदृढ़ हो और त्रिवर्ग मार्ग की ओर से हटकर जिसका झुकाव मोक्षमार्ग की ओर हो गया हो, ऐसा व्यक्ति पंक्ति भोज न करके अकेला ही शुद्ध भोजन करे और झूँठन न छोड़े।[२] तामसिक राक्षसाशन (मद्य मांसादिरूप भोजन) मानवता का नाशक है और पाशविक भोजन जो इन्द्रिय लम्पटता को लिये होता है, वह भी बिगाड़ करने वाला है। इन दोनों तरह के भोजन को मनुष्य दूर से ही छोड़ दे, क्योंकि समझदार मनुष्य अयोग्य स्थान में प्रवृत्ति कैसे कर सकता है ?[३]

न्यायपूर्वक धनार्जन

जो मनुष्य की सब तरह की अभिलाषाओं का साधन है, अतएव जिसने अपने "अर्थ" नाम को सार्थक कर बताया है और जो (१) कृपणता, (२) अर्जित करते ही व्यय कर देना, (३) मूल को भी नष्ट कर देना; इन तीनों दोषों से रहित है तथा तीर्थस्थानों के लिए सहज से लगाया जाता है, ऐसे अर्थ का मनुष्य अर्थानुबन्ध द्वारा अपने कुलयोग्य आजीविका चलाते हुए अर्थ उपार्जन करे। निश्चय ही ऐसा करने वाला मनुष्य दुनियाँ में निरन्तर प्रतिष्ठा का पात्र बनकर सर्वथा प्रसन्नता का अनुभव करता है।[४]

सायंकाल परमात्मा का ध्यान

देशकाल के अनुसार सायंकाल तक समुचित प्रवृत्ति करनेवाले गृहस्थ को सायंकाल के समय चित्त को स्थिर करके परमात्मा का स्मरण करना चाहिये क्योंकि चित्त की स्थिरता ही पापों से बचाने वाली होती है।[५]

सप्तव्यसन त्याग

मनुष्य को द्यूतक्रीड़ा, मांसाहार, मद्यपान, परस्त्रीसंगम, वेश्यागमन, शिकार, चोरी तथा नास्तिकता भी त्याग देना चाहिए, अन्यथा यह सारा भूमण्डल आपदाओं से घिर जायेगा।[६] निःशंक होकर कुत्सित आचरण करने को विद्वानों ने नास्तिकता कहा है। जो सभी प्रकार के व्यवहारों का लोप कर देती है। वह अनेक संकटों की परम्परा खड़ी कर

---

१. जयोदय, २/१०७
२. वही, २/१०८
३. वही, २/१०९
४. जयोदय, २/११०
५. वही, २/१२२
६. वही, २/१२५

देती है अतः उससे सदैव दूर रहना चाहिए।[१]

शर्त लगाकर कोई भी काम करना द्यूत है। इसमें हारने और जीतने वाले दोनों संक्लेश पाते हुए नाना प्रकार के कुकर्मों में प्रवृत्त होते हैं।[२] चर जीवों का शरीर मांस नाम से प्रसिद्ध है, जिसका खाना तो दूर, नाम लेना भी सज्जनों के बीच सर्वथा निषिद्ध है। इसलिए उत्तम शाक-फलादि के रहते हुए मांस खाना महापाप है।[३] इस भूतल पर भांग, तमाखू, सुलफा, गाँजा, आदि वस्तुओं को निर्लज्ज हो स्वीकार करनेवाला मानव बुद्धि-विकार, परवशता और अत्यन्त दीनता प्राप्त करता है। इसीलिए जो इन मदकारी पदार्थों से मत्त हो जाता है, वह धन्य नहीं, अपितु निन्द्य है।[४] मधु (शहद) मधुमक्खियों के मेदे की धाराओं से भरा होता है और मक्खियों के छत्ते को निर्दयतापूर्वक निचोड़कर निकाला जाता है, अतः वह भी अभक्ष्य है।[५]

वैश्या मानो सम्पूर्ण पापों का हाट है, चौराहे पर रखी जल की मटकी के समान सभी के लिए भोग्या है। उसके उपभोग में कल्याण लेशमात्र भी नहीं होता। किन्तु इसके विपरीत वह शरीर की शोषक है, अनेक प्रकार के उपदंश आदि रोग होकर शरीर का नाश करती है। अतः उसके साथ प्रणय सर्वथा अनैतिक है।[६] जो लोग शिकार खेलते हैं, वे विनोदवश निरपराध प्राणियों का संहार करते हैं। वे यमराज के निकट कठोर दण्ड के भागी बनते हैं।[७] धन संसार भर के प्राणियों को प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है। उसका अपहरण करने वाले का चित्त स्वयं ही भयभीत हुआ करता है। अपनी शीघ्र मृत्यु के लिए अपने हाथों खोदे गये गड्ढे के समान इस चौर्यकर्म को करना श्रेयस्कर नहीं है।[८]

यह जीवनपद्धति परम्परया मोक्ष का कारण है। आर्यजन इसका आश्रय लेते हैं। इसके विरुद्ध जो स्वेच्छाचरण, है वह अनार्यपुरुषों की जीवनपद्धति है।[९] वह संसार में ही भ्रमण कराती है। उससे मनुष्य नरकादि गतियों के भयंकर दुःखों का पात्र बनता है।

□□□

१. जयोदय, २/१२६
२. वही, २/१२७
३. वही, २/१२८
४. वही, २/१२९
५. जयोदय, २/१३०
६. वही, २/१३३
७. वही, २/१३४
८. वही, २/१३५
९. वही, २/१३६

द्वादश अध्याय

उपसंहार

जयोदय के प्रणेता महाकवि, बालब्रह्मचारी भूरामलजी जैन, जो आगे चलकर दिगम्बर जैन आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के नाम से प्रसिद्ध हुए, यथार्थतः ज्ञान के अगाध सागर थे। वे धर्म, दर्शन, व्याकरण और न्याय के वेत्ता एवं मूलाचार की साकार प्रतिमा थे। निष्परिग्रहिता, निर्ममत्व, निरभिमानिता उनके भूषण थे। कवित्व उनका स्वाभाविक गुण था।

महाकवि ने जयोदय, वीरोदय आदि महाकाव्यों एवं दयोदय जैसे चम्पूकाव्य की रचनाकर संस्कृत साहित्य की समृद्धि में अभूतपूर्व योगदान किया है। उनके द्वारा हिन्दी साहित्य की भी श्रीवृद्धि हुई है।

जयोदय की कथा का स्रोत आचार्य जिनसेन एवं आचार्य गुणभद्ररचित आदिपुराण है। इसी को आधार बनाकर महाकवि ने जयोदय महाकाव्य का सृजन किया है। इसकी संस्कृत टीका भी कवि ने स्वयं लिखी है। प्रस्तुत महाकाव्य में २८ सर्ग एवं ३१०१ श्लोक हैं।

धर्मसंगत अर्थ और काम का आवश्यकतानुसार उपार्जन और भोग करने के उपरान्त जीवन को मोक्ष की साधना में लगाना मानव-जीवन का प्रयोजन है, यह सन्देश जयोदय महाकाव्य की रचना का लक्ष्य है।

राजा जयकुमार स्वयंवर सभा में राजकुमारी सुलोचना के द्वारा वरण किये जाते हैं। दोनों का विवाह होता है। जीवन को धर्म से अनुशासित रखते हुए भौतिक सुखों का संयमपूर्वक भोग करते हैं, लौकिक कर्त्तव्य को बड़ी वीरता और कुशलता से निवाहते हैं और अन्त में आत्म-कल्याण हेतु मोक्ष-मार्ग ग्रहण कर लेते हैं। इस कथावस्तु से काव्यरचना का उक्त उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।

जीवन में जो स्पृहणीय और अस्पृहणीय है, करणीय और अकरणीय है, हेय और उपादेय है; उसका प्रभावशाली सम्प्रेषण मानवीय चरित्र-चित्रण के माध्यम से ही सम्भव है। मानव-चरित्र का चित्रण ही रसानुभूति का स्रोत बनता है। अतः कवि का महत्त्वपूर्ण कार्य होता है काव्य में स्पृहणीय और अस्पृहणीय चरित्रवाले पात्रों को निबद्ध करना तथा उनकी चारित्रिक प्रवृत्तियों का प्रभावशाली ढंग से चित्रण करना। जयोदय के महाकवि ने इस कार्य में अद्भुत सफलता प्राप्त की है।

महाकाव्य का रूप देने तथा काव्य को रसात्मक बनाने के लिए कथा में आवश्यक परिवर्तन किये हैं तथा इसमें विविध रोचक प्रसंगों का विन्यास किया है। किन्तु कथावस्तु के परिष्कार और पात्रों के चरित्र वर्णन या घटनाओं के उपन्यास मात्र से काव्यत्व घटित नहीं होता। काव्यत्व आता है उक्ति की वक्रता से। कवि जब काव्य वस्तु को वक्रभाषा में प्रस्तुत करता है तब काव्य का जन्म होता है। उक्ति की वक्रता के बिना कोई भी कथन इतिहास या पुराण बनकर रह जाता है। काव्य का जितना सम्बन्ध अर्थ से है उतना ही शब्द से अर्थात् भाषा से है, बल्कि भाषा से कहीं अधिक है। क्योंकि काव्य की उत्पत्ति के लिए कवि को अपना कौशल प्रधानतया भाषा में ही दिखलाना होता है। वस्तुतः अभिव्यक्ति की हृदयस्पर्शी एवं रमणीय शैली का नाम ही काव्य है। इसीलिए कर्पूरमंजरीकार राजशेखर ने कहा है - "उत्तिविसेसो कव्वं (उक्ति विशेष ही काव्य है) और कुन्तक ने तो वक्रोक्ति को काव्य का प्राण ही बतलाया है। उक्ति की वक्रता से ही भाषा काव्यात्मक बनती है।

जयोदयकार ने उक्ति को वक्र अर्थात् भाषा को काव्यात्मक बनाने का पूर्ण प्रयास किया है। उन्होंने वक्रोक्ति के प्रायः सभी प्रकारों का प्रयोग किया है जैसे - वर्णविन्यासवक्रता, उपचारवक्रता, रूढिवैचित्र्यवक्रता, पर्यायवक्रता, विशेषणवक्रता, संवृतिवक्रता, वृत्तिवैचित्र्यवक्रता, लिंगवैचित्र्यवक्रता, क्रियावैचित्र्यवक्रता, कारकवक्रता, संख्यावक्रता, पुरुषवक्रता, उपसर्गवक्रता, निपातवक्रता, वस्तुवक्रता आदि।

ये लाक्षणिक एवं व्यंजक प्रयोगों के विभिन्न भेद हैं। ध्वनि, अलंकार, प्रतीक, बिम्ब, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ आदि अभिव्यक्ति के सभी प्रकार इनमें समाविष्ट हो जाते हैं। लक्षणामूलक ध्वनि का अन्तर्भाव उपचारवक्रता में तथा अभिधामूलक ध्वनि का रूढिवैचित्र्यवक्रता एवं पयार्यवक्रता में है। वर्णादिमूलक असंलक्ष्यक्रमध्वनि वृत्ति, भाव, लिंग, क्रिया, काल, कारक, संख्या, पुरुष, उपसर्ग, निपात आदि की वक्रताओं में अन्तर्भूत है। वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत अलंकार, बिम्ब, लोकोक्तियाँ एवं सूक्तियाँ आ जाती हैं। उपचारवक्रता, प्रतीक एवं मुहावरे लाक्षणिक प्रयोगों के रूप हैं।

जयोदयकार ने इन समस्त शैलीय तत्त्वों से उक्ति को वक्र (लाक्षणिक एवं व्यंजक) अर्थात् भाषा को काव्यात्मक बनाया है, जिससे अभिव्यक्ति में हृदयस्पर्शिता एवं रमणीयता का आधान होने के फलस्वरूप एक उच्चकोटि के काव्य की सृष्टि संभव हुई है।

उक्त शैलीय तत्त्वों की विशेषता यह कि वे कथन को प्रभावपूर्ण, हृदयस्पर्शी एवं आह्लादक बनाते हैं। वे व्यक्ति, वस्तु एवं भावों के स्वरूप की जानकारी नहीं देते अपितु अनुभूति कराते हैं।

कोई वस्तु कितनी सुन्दर या कुरूप है, किसी मनुष्य का चरित्र कितना उत्कृष्ट या निकृष्ट है, किसी व्यक्ति की प्रकृति कितनी मधुर या कटु, सरल या कुटिल है, किसी का क्रोध कितना तीव्र, प्रेम कितना उत्कट, घृणा कितनी गहन, मनोदशा कितनी द्वन्द्वात्मक, परिस्थिति कितनी विडम्बनापूर्ण, पीड़ा कितनी मर्मान्तक, सुख कितना असीम है, इसकी प्रतीति उपचारवक्रता, अलंकार विधान, प्रतीकयोजना आदि वक्रोक्तियों से ही संभव होती है। सौन्दर्य की अलौकिकता अथवा असौन्दर्य की पराकाष्ठा, मानवचरित्र की पराकाष्ठा या उसकी निष्कृष्टता, प्रेम की उत्कटता, घृणा की गहनता, हर्ष के अतिरेक, विषाद की सघनता आदि के अनुभव मे हृदय उद्वेलित एवं रसमग्र होता है, दूसरी ओर उक्ति के वैचित्र्य से कथन में रमणीयता की अनुभूति होती है।

जयोदयकार ने उक्त शैलीय तत्त्वों के समुचित प्रयोग से सौन्दर्यादि तत्त्वों की अलौकिकता, प्रेमादि भावों की उत्कटता, क्रोधादि विकारों की उग्रता, मानवचरित्र की उदात्तता आदि को आस्वादन का विषय बनाकर सहृदय हृदय को रसमग्र एवं भावमग्र करने और उक्तिवैचित्र्यजनित रमणीयता का अनुभव कराने में पर्याप्त सफलता पायी है।

उपचारवक्रता के अन्तर्गत कवि ने मुख्यतः मानव पर तिर्यञ्च के धर्म का आरोप अचेतन पर चेतन के धर्म का, चेतन पर अचेतन के धर्म का, अमूर्त पर मूर्त के धर्म का, तथा एक चेतन पर दूसरे चेतन एवं एक अचेतन पर दूसरे अचेतन का आरोप किया है, अर्थात् उनमे अभेद दर्शाया है। इस उक्तिवैचित्र्य मे उन्होंने क्रोध, प्रेम, सन्ताप, भक्ति आदि मनोभावों के अतिशय की व्यंजना का चमत्कार दिखलाया है। वस्तु की सुन्दरता, सुखदता एवं दुःखदता की पराकाष्ठा के द्योतन में निपुणता प्रदर्शित की है एवं रूपादि के अवलोकन एवं वचनादि के श्रवण में मनुष्य जो कभी-कभी तल्लीनता की चरम अवस्था में पहुँच जाता है, उसका साक्षात्कार कराने में कवि अद्‌भुत रूप से सफल हुआ है।

कवि के द्वारा प्रयुक्त मुहावरों को निम्न वर्गों में रखा जा सकता है : वक्रक्रियात्मक, वक्रविशेषणात्मक, निदर्शनात्मक, अनुभावात्मक, उपमात्मक एवं रूपकात्मक मुहावरों के प्रयोग द्वारा महाकवि ने अभिव्यक्ति को रमणीय बनाते हुए पात्रों के मनोभावों एवं मनोदशाओं के स्वरूप, चारित्रिक विशेषताओं, वस्तु के गुण-वैशिष्ट्य, कार्य के औचित्य-अनौचित्य के स्तर तथा घटनाओं एवं परिस्थितियों की गम्भीरता को अनुभूतिगम्य बनाया है और इसके द्वारा सहृदय को भावमग्र एवं रससिक्त करते हुए जयोदय में काव्यत्व के प्राण फूँके हैं।

जयोदय में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया गया है वे प्रकृति, इतिहास, पुराण तथा प्राणिवर्ग से लिये गये हैं। प्रतीक-विधान द्वारा वस्तु और भावों का अमूर्त एवं सूक्ष्म स्वरूप हृदयंगम तथा हृदयस्पर्शी बन पड़ा है, अभिव्यक्ति आह्लादक तो बनी ही है।

कवि का अलंकार विन्यास अपूर्व है। अर्थालंकारों में महाकवि ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, ससन्देह, समासोक्ति, व्यतिरेक, भ्रान्तिमान्, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, विभावना, विशेषोक्ति, विरोधाभास एवं दीपक का आश्रय लिया है। वस्तु की स्वाभाविक रमणीयता, उत्कृष्टता एवं विशिष्टता, मनोभावों की कोमलता तथा उग्रता एवं चारित्रिक वैशिष्ट्य को चारुत्वमयी अभिव्यक्ति देने के लिये उपमा को माध्यम बनाया गया है। रूपक के द्वारा वस्तु के सौन्दर्य, भावातिरेक तथा अमूर्त तत्त्वों के अतीन्द्रिय स्वरूप का मानस साक्षात्कार कराया है। उत्प्रेक्षा के प्रयोग से भावात्मकता एवं चित्रात्मकता की सृष्टि हुई है तथा चरित्र एवं वस्तु वर्णन में प्रभावोत्पादकता आई है। अपह्नुति, ससन्देह एवं व्यतिरेक ने वस्तु के सौन्दर्यातिशय तथा लोकोत्तरता की प्रतीति में हाथ बटाया है। समासोक्ति शृंगाररस की व्यंजना में सहायक है। भ्रान्तिमान् अलंकार वस्तु के गुणातिशय की व्यंजना में अग्रणी रहा है। कार्य के औचित्य-अनौचित्य के स्तर को निदर्शना ने भली भाँति उन्मीलित किया है। अर्थान्तरन्यास ने मनोवैज्ञानिक, धार्मिक एवं नैतिक तथ्यों के बल पर मानवीय आचरण एवं कर्त्तव्य विशेष के औचित्य की सिद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके द्वारा जीवन की सफलता के लिए आवश्यक निर्देश देने का प्रयोजन भी सिद्ध किया गया है। कथन के औचित्य की सिद्धि, उसके स्पष्टीकरण तथा भावातिरेक की व्यंजना में दृष्टान्त एवं प्रतिवस्तूपमा ने चमत्कार दिखाया है। वस्तु के गुणवैशिष्ट्य की व्यंजना में विभावना तथा वस्तु के उत्कर्षादि के द्योतन में विरोधाभास का औचित्यपूर्ण प्रयोग किया गया है। दीपक के द्वारा महाकवि ने स्त्री सौन्दर्य की अत्यन्त प्रभावशालिता तथा पुरुषों के चित्त की नितान्त दुर्बलता के प्रकाशन में वचनातीत सफलता पायी है।

बिम्ब योजना में भी सन्तकवि सिद्धहस्त हैं। कवि ने ऐन्द्रिय-संवेदनाश्रित बिम्बों में स्पर्श, दृष्टि, श्रवण तथा स्वाद इन्द्रियों से सम्बन्धित बिम्बों की योजना की है। अभिव्यक्ति-विधा के आधार पर जयोदयगत बिम्बों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है - अलंकाराश्रित, लक्षणाश्रित, मुहावराश्रित तथा लोकोक्ति-आश्रित। भाषिक अवयवों की दृष्टि से उनमें वाक्याश्रित, संज्ञाश्रित, विशेषणाश्रित, एवं क्रियाश्रित भेद दृष्टिगोचर होता है। कवि ने चेतन-अचेतन तत्त्वों की इन्द्रियगोचर अवस्थाओं के वर्णन द्वारा उनका बिम्ब (मानसिक चित्र) निर्मित करते हुए एक ओर उनकी प्रत्यक्षवत् अनुभूति कराई है, दूसरी ओर सादृश्यादि सम्बन्ध के आधार पर प्रस्तुत वस्तु या पात्र की अतीन्द्रिय और सूक्ष्म अवस्था, गुण या भाव को हृदयंगम बनाया है। अभिव्यंजना की इस शैली ने काव्य रोचकता भर दी है।

कवि ने लोकोक्तियों और सूक्तियों का यथास्थान प्रयोगकर अभिव्यक्ति में चार चाँद लगा दिये हैं। इनके द्वारा कवि ने सिद्धान्तों की पुष्टि, जीवन और जगत् की घटनाओं का समाधान तथा उपदेश और आचरणविशेष के औचित्य की सिद्धिकर अभिव्यक्ति में प्राण फूंके हैं। लोकोक्तियों ने अनेकत्र तथ्यों के मर्म को उभारकर उन्हें गहन और तीक्ष्ण बना दिया है, जिससे कथन में मर्मस्पर्शिता आ गई है। पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य की अभिव्यक्ति में सूक्तियाँ बड़ी कारगर सिद्ध हुई हैं। कहीं प्रसंगवश नीति-विशेष के प्रतिपादन हेतु सूक्तियों का प्रयोग किया गया है। इन सभी सन्दर्भों में लोकोक्तियों और सूक्तियों ने अभिव्यक्ति के रमणीय बनाने का चामत्कारिक कार्य किया है।

रसात्मकता काव्य का प्राण है। रसानुभूति के माध्यम से ही सामाजिकों को कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश हृदयगम कराया जा सकता है। जयोदयकार इस तथ्य से पूरी तरह अवगत रहे हैं। इसीलिए उन्होंने अपने काव्य में शृंगार से लेकर शान्त तक सभी रसों की मनोहारी व्यंजना की है और विभिन्न स्थायिभावों के उद्‌बोधन द्वारा सहृदयों को रसविभोर करते हुए धर्मपूर्वक अर्थ और काम तथा अन्तत: मोक्ष की सिद्धि के लिए प्रेरित किया है। शान्तरस जयोदय महाकाव्य का अंगीरस है, क्योंकि प्रस्तुत महाकाव्य की रचना का मूल उद्देश्य संसार की असारता और दु:खमयता तथा मोक्ष की सारभूतता एवं सुखमयता की ओर ध्यान आकृष्टकर मनुष्य को मोक्ष की ओर उन्मुख करना है। किन्तु कवि ने इस उद्देश्य की सिद्धि सरसतापूर्वक कान्ता-सम्मित रीति से करनी चाही है, इसीलिए शृंगारादि लौकिकरसों से काव्य में मधुरता की पुट दी है, किन्तु वे सब शान्तरस के दास हैं, स्वामी तो शान्तरस ही है।

रस के अतिरिक्त रसाभास, भाव, भावोदय, भावसन्धि, और भावशबलता का उन्मीलन भी प्रस्तुत महाकाव्य में किया गया है। भाव के अन्तर्गत देवविषयक एवं गुरुविषयक रति की अजस्र धाराओं से जयोदय प्लावित है।

वर्णविन्यासवक्रता में गुण, रीति और शब्दालंकारों का अन्तर्भाव है। इसके द्वारा महाकवि ने विविध प्रभावों की सृष्टि की है। नाद सौन्दर्य एवं लयात्मक श्रुति माधुर्य की उत्पत्ति, माधुर्य एवं ओज गुणों की व्यंजना द्वारा रसोत्कर्ष, वस्तु की कोमलता, कठोरता आदि के द्योतन एवं भावों को घनीभूत करने में कवि ने वर्णों का औचित्यपूर्ण विन्यास किया है। वर्णविन्यासवक्रता के निम्न प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य में प्रयुक्त किये गये हैं - छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास, यमक तथा माधुर्य व्यंजक एवं ओजोव्यंजक वर्णविन्यास।

काव्य और नाट्य का विषय मानव-चरित ही हुआ करता है। उसी के माध्यम से कवि रसव्यंजना करता है। इसीलिये **आचार्य भरत** ने कहा है "मैंने नाना भावों से समन्वित

तथा विविध अवस्थाओं से युक्त लोकवृत्त का अनुकरण करने वाले नाट्य की रचना की है।" जयोदय का विषय भी मानव-चरित है। राजा जयकुमार और राजकुमारी सुलोचना का प्रणय, स्वयंवरण, सुखमय दाम्पत्यजीवन, जयकुमार की वीरता, प्रजा-प्रेम, धर्म-वत्सलता, वैराग्य, तपश्चरण तथा मोक्षप्राप्ति, सुलोचना का उत्कृष्टशील, धर्म वत्सलता, वैराग्य, तथा आर्यिका दीक्षा लेकर आत्मोत्थान की साधना, यह भोग और योग से समन्वित आदर्श मानवचरित्र जयोदय का प्रमुख प्रतिपाद्य है। कवि ने पात्रों के कुशल चरित्र-चित्रण द्वारा मानव-चरित की वैयक्तिक विभिन्नताओं का मनोवैज्ञानिक पक्ष बड़ी निपुणता से उद्घाटित किया है तथा उनकी कोमल और उग्र, उदात्त एवं क्षुद्र, रमणीय एवं वीभत्स भावनाओं का कलात्मक उन्मीलन कर सहृदयों को रस सिन्धु में अवगाहन का अवसर प्रदान किया है।

महाकाव्य के माध्यम से सम्यक् जीवनदर्शन और आदर्श जीवनपद्धति पर प्रकाश डालना कवि का मुख्य ध्येय रहा है। इसीलिये उन्होंने काव्य के लिए ऐसा पौराणिक कथानक चुना है, जिसके नायक-नायिका धर्म से अनुप्राणित है और जिनके जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि सम्यक् जीवनदर्शन और समीचीन जीवन-पद्धति से ही संभव है। इसलिए आत्महित और लोकहित में निरत सन्तकवि इन्हीं से परिचित कराने के लिए काव्य और नाट्य को माध्यम बनाते है, क्योंकि काव्य और नाट्य कान्तासम्मित उपदेश के अद्वितीय साधन है।

जयोदय में जो जीवनदर्शन प्रतिबिम्बित हुआ है, उसके मान्य सिद्धान्त है सृष्टि की अनादि-अनन्तता, आत्मा की नित्यता एवं स्वतन्त्रता, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म एवं मोक्ष। इस जीवनदर्शन से अनुप्रेरित जीवनपद्धति के विभिन्न अंगों को कवि ने मुनिराज द्वारा महाराज जयकुमार को दिये गये उपदेश के माध्यम से प्रकट किया है। वे मुख्यतः निम्नलिखित है पुरुषार्थ चतुष्टय, देवपूजन, स्वाध्याय, गुरुजनों का आदर, विनय और सदाचार, दान, निरामिष आहार, न्यायपूर्वक धनार्जन एवं सप्त-व्यसन त्याग। ये सभी भारतीय जीवन पद्धति के प्रमुख अंग हैं।

इस प्रकार एक उदात्त कथानक एवं अभिव्यक्ति की हृदयस्पर्शी रमणीय शैली ने "जयोदय" महाकाव्य को काव्यत्व के भव्य सौन्दर्य से मण्डित कर दिया है। विभिन्न प्रकार की उक्तिवक्रताओं, प्रतीकों, मुहावरों, अलंकारों, बिम्बों, लोकोक्तियों एवं सूक्तियों के प्रयोग ने जयोदय की भाषा को अनुपम काव्यात्मकता प्रदान की है। तन्मय कर देने वाली रसध्वनि, कुशल चरित्रचित्रण एवं कान्तासम्मित हितोपदेश ने महाकाव्य के आत्मपक्ष को संवारा है। ये गुण जयोदय को बृहत्त्रयी की श्रेणी में प्रतिष्ठित करते हैं।

ררר

प्रथम परिशिष्ट

महाकवि आचार्य ज्ञानसागर की अप्रकाशित संस्कृत रचनाये

महाकवि आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की दो मौलिक कृतियों की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हुई है - वीरशर्माभ्युदय और भक्तियाँ। यहाँ अतिसंक्षेप में इनकी जानकारी मात्र दी जा रही है, जिससे उत्कृष्ट साहित्यकार की साहित्य सम्पदा का परिचय मिल सके -

वीरशर्माभ्युदय

जयोदय, वीरोदय के समान ही वीरशर्माभ्युदय भी एक महाकाव्य है। वीरोदय के समान ही इसका कथानक तीर्थंकर महावीर के त्याग तपस्या स परिपूर्ण जीवन पर आधारित है।

प्रस्तुत महाकाव्य के मात्र छह सर्ग उपलब्ध हुए है। जयोदय के समान ही कवि ने इसकी स्वोपज्ञ टीका भी लिखी है। उपलब्ध सर्गों का प. पन्नालालजी साहित्याचार्य ने सम्पादन एवं अनुवाद भी कर दिया है। शेष सर्गों का अन्वेषण किया जा रहा है। सर्गो का वर्ण्यविषय इस प्रकार है -

प्रथम सर्ग मे कवि ने मंगलाचरण कर अपनी लघुता प्रदर्शित की है। अनन्तर सज्जनों की प्रशंसा तथा दुर्जनो के स्वरूप का निदर्शन, विदेहदेश भरतक्षेत्र, कुण्डलपुर नगर, वहाँ स्थित जिनालय, भवनो का मनोहारी वर्णन किया है। द्वितीय सर्ग कुण्डलपुरनरेश सिद्धार्थ की शारीरिक सुषमा, विजययात्रा, प्रताप और विशुद्ध कीर्ति का द्योतक है। तृतीय सर्ग राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के अग-प्रत्यंग के सौन्दर्यनिरूपण के लिए समर्पित है। चतुर्थ सर्ग मे कवि ने श्लेषोपमा अलंकार के द्वारा राजा सिद्धार्थ की सभा एव राजा के गुणवैशिष्ट्य का विशद विवेचन किया है। इसी सर्ग मे इस तथ्य कि 'त्रिशला के गर्भ मे तीर्थंकर आयेंगे' इन्द्र अवधिज्ञान के द्वारा गर्भ में आने के छह माह पूर्व जान लेता है, को मनोहारी ढंग से चित्रित किया गया है। इन्द्र देवियों को तीर्थंकर की होने वाली माता की सेवा करने अन्तःपुर में भेजता है। देवियाँ वहाँ जाकर रानी के प्रति मंगल कामना करती है और निरन्तर उनकी सेवा में तत्पर रहती है। एक दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में रानी सोलह स्वप्न देखती है - ऐरावत हाथी, वृषभ, सिंह, गजलक्ष्मी, दो मालाएं, चन्द्रमा, सूर्य।

पाण्डुलिपि में सात स्वप्नों के उपरान्त के पृष्ठ उपलब्ध नहीं है, अत. यह सर्ग अपूर्ण है। इन अनुपलब्ध पृष्ठों में सोलह में से शेष स्वप्न, उनका फल एवं गर्भकल्याणक का वर्णन होना चाहिए। पञ्चम सर्ग में तीर्थंकर के जन्माभिषेक और षष्ठ सर्ग में उनकी बाल्यावस्था, बालक्रीड़ाओं की आलंकारिक भाषा में प्रभावशाली अभिव्यंजना हुई है। इन सर्गों में क्रमशः ९१, ७१, ८५, ७८ एवं १०० पद्य हैं।

यह पाण्डुलिपि अन्वेषण एवं प्रकाशन की प्रतीक्षा में है।

संस्कृत-भक्तियाँ

'पूज्यानां गुणेष्वनुरागो भक्तिः' पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग होना भक्ति है। मन की चंचल चित्तवृत्तियों को रोकने, उन्हें शान्त करने, मन को एकाग्र करने के लिए भक्त पूज्य पुरुषों की भक्ति किया करते हैं। महाकवि ने इसी प्रयोजन से भक्तियों का सृजन किया है। उनके द्वारा रचित उपलब्ध भक्तियाँ इस प्रकार हैं - चैत्यभक्ति, शान्तिभक्ति, तीर्थकरभक्ति, चतुर्विंशतिस्तुति, सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, चारित्रभक्ति, आचार्यभक्ति, श्रुतभक्ति, योगिभक्ति, परमगुरुभक्ति, कायोत्सर्गभक्ति तथा समाधिभक्ति। आपने इन्हीं संस्कृत भक्तियों का हिन्दी पद्यानुवाद भी सरल किन्तु मनोहारी भाषा में किया है। सिद्धभक्ति, चतुर्विंशति जिनस्तुति, चैत्यभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, आचार्यभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, तीर्थकरभक्ति का पद्यानुवाद उपलब्ध हुआ है। आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर मुनि एवं आर्यिकाएँ दैवसिक चर्या और क्रियाकलापों के अवसर पर निश्चित भक्तिपाठ करते हैं।

महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी के द्वारा विरचित भक्तियों में आत्मसमर्पण, आत्मनिवेदन और तीर्थकर, आचार्य आदि का गुण स्तवन है। निम्न पद्य में कवि का आत्मालोचन दर्शनीय है

अतोऽधुना हे जिनप ! त्वदग्रे प्रमादतोऽज्ञानितयासमग्रे।

कृत्ये ममाभूच्च्यवनं तदेतत्सम्प्रार्थ्यते नाथ ! मृषा क्रियेत ॥

चराचराणामपि स प्रपञ्चं कृतं मया कारितमामतं च।

विध्वंशनायत्रधरातले यत् सम्प्रार्थ्यते नाथ ! मृषा क्रियेत ॥ - प्रतिक्रमणभक्ति, २-३

भक्ति के द्वारा भक्त एक ओर स्वकृत पापों का प्रायश्चित कर आत्मशान्ति प्राप्त करता है, वहीं दूसरी ओर वह पूज्य पुरुष के गुण स्तवन द्वारा उनके समान बनने की भावना भी रखता है-

सिद्ध्यन्ति सेत्स्यन्ति पुरा च सिद्धाः स्वाभाविकज्ञानतया समिद्धाः।

भव्यानितस्तात्त्विकवर्त्मनेतुं नमामि ताँश्चिद्गुणलब्धये तु ॥

सिद्धान्प्रसिद्धान्वसुकर्ममुक्तान्सम्यक्त्वबोधादिगुणप्रयुक्तान्।

भवाब्धितोनिस्तरणैकसेतून् नमामि ताँश्चिद्गुणलब्धये तु ॥ - सिद्धभक्ति, १-२

लोक में गुरु/आचार्य का महत्त्व गोविन्द/भगवान् से भी अधिक है, क्योंकि वे ही हमारे सत्पथप्रदर्शक हैं -

मुमुक्षुवर्गस्य पथीद्धितेन ये दुष्पथस्य प्रतिषेधनेन।

प्रवर्तनायोद्यतचित्तलेशाः संघस्य ते सन्तु मुदे गणेशाः ॥ आचार्य भक्ति, २

भक्तियों में भक्त कवि के हृदय से निःसृत रस सरिता से प्रस्फुटित काव्यधारा का स्पर्शमात्र मद को विगलित कर देता है, दिग्भ्रमित मानव को नम्रता और विनयशीलता से भर देता है। राजसिक, तामसिक चित्तवृत्तियों को शान्त करता है तो सात्विक वृत्ति का स्वयमेव ही उदय हो जाता है और हृदय की विशुद्धि बढ़ती है। इस धारा में अवगाहन कर प्रत्येक सहृदय अलौकिक आनन्द की मस्ती में डूब जाता है।

महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के द्वारा रचित भक्तियों में सर्वत्र प्रसाद का प्रसार, अनुप्रास की झंकार, निश्छल आत्मनिवेदन एवं गुणस्तवन दिखलाई देता है। यह कृति सम्पादन, प्रकाशन एवं पर्याप्त प्रचार-प्रसार की प्रतीक्षा में है।

द्वितीय परिशिष्ट

जयोदय में राष्ट्रीय चेतना

साहित्यकार संसार, शरीर और भोगों से असंपृक्त भले ही हो पर वह स्वयं राष्ट्रीय चेतना से अछूता नहीं रह सकता। राष्ट्र भक्ति में, राष्ट्र के विकास में, साहित्यिक परिवेश में उसका प्रदेय उपेक्षित नहीं हो सकता। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। कारण कवि देश काल, परिस्थिति, वातावरण आदि से प्रभावित होता है। उसका प्रभाव उसके साहित्य पर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। जयोदय भी इसका अपवाद नहीं है। जयोदय का सृजन ऐसे समय में हुआ जब देश स्वतन्त्र हो गया था और भारत में गांधीजी, नेहरू परिवार, राजगोपालाचार्य, डॉ राजेन्द्रप्रसाद, सरोजिनी नायडू, सुभाषचन्द्र बोस, जिन्ना आदि राजनेता प्रसिद्ध हो रहे थे। महाकवि ने जयोदय महाकाव्य के अठारहवें सर्ग के चार पद्यों में प्रमुख नेताओं के नाम का उल्लेख बड़ी श्रद्धा से श्लेष के द्वारा किया है। **डॉ. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी के** 'वागीश शास्त्री' अनुसार राष्ट्रीय सुधारस से परिपूर्ण ये चार पद्य शाकुन्तलम् के चार पद्यों के समान स्मरणीय रहेंगे।[1]

देश के स्वतन्त्र होने और अंग्रेजों के भारत से गमन करने पर प्राप्त आनन्दानुभूति को निम्न पद्यों में देखा जा सकता है -

सत्कीर्तिरञ्चति किलाभ्युदयं सुभासा,
स्थानं विनारि-मृदुवल्लभराट् तथा सः।
याति प्रसन्नमुखतां खलु पद्मराजो,
निर्याति साम्प्रतमितः सितरुक्समाजः॥[2]
यद्वा सुगां धियमिता विनतिस्तु राज -
गोपाल उत्सवधरस्तव धे नु रागात्।
इष्टा सरोजिनि अथो विषमेषु जिन्ना -
नुष्ठानमेति परमात्मविदेकभागात्॥[3]

- हे देव! इस समय (वि. सं. २००९) **सुभाषचन्द्र बोस** की उज्जवल कीर्ति अभ्युदय को प्राप्त हो रही है। अजात शत्रु तथा कोमल प्रकृति वालों को प्रिय **डॉ. राजेन्द्र प्रसाद** राष्ट्रपति

---

१ जयोदय उत्तरार्ध भूमिका, पृष्ठ-२१

२. वही, १८/८१

३ वही, १८/८३

के पद पर विराज रहे हैं। **पद्मराज** प्रसन्न मुखता को प्राप्त हैं अर्थात् देश स्वतन्त्र होने से हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। **सितरुक्समाज-अंग्रेज** यहाँ से जा रहे हैं।[1]

हे जन् ! आपकी विनम्रता या शिक्षा **गाँधीजी** की विनम्रता या शिक्षा का अनुभव कर रही है। आपके गोप्रेम से **राजगोपालाचार्य** आनन्द का अनुसरण कर रहे हैं। **सरोजिनी नायडू** प्रसन्न हैं। सिर्फ एक ओर **जिन्ना** नामक यवन नेता परकीय भारत को अपना मानते हुए पारस्परिक विरोध के कार्यों में **हिन्दुस्तान-पाकिस्तान** के विभाजन का अनुष्ठान कर रहा है।[2]

निम्न पद्यों में महाकवि ने राष्ट्र के लिए मंगल कामना की है जिससे सत्य और अहिंसा के बल पर प्राप्त स्वतन्त्रता चिरस्थायी बनी रहे -

गान्धीरुषः प्रहर एत्वमृ तकमाय,
सत्सूत नेहरुचयो बृहदुत्सवाय।
राजेन्द्र-राष्ट्र - परिरक्षणकृत्तवाय -
मत्राभ्युदेतु सहजेन हि सम्प्रदायः ॥
मञ्जु- स्वराज्य -परिणामसमर्थिका ते,
सम्भावितक्रमहिता लसतु प्रभाते ।
सूत्रप्रचालनतयोचित-दण्डनीतिः,
सम्यम्महोदधिषणासुघटप्रणीतिः ॥[3]

- **गांधीजी** के रोष को दूर करनेवाला नेहरू परिवार सज्जनों में महान् उत्सव के लिए तत्पर है और **डॉ. राजेन्द्रप्रसाद** आदि राष्ट्र नेताओं का परिकर अभ्युदय को प्राप्त हो।

हे महोद ! हे तेज/प्रताप को देनेवाले ! आपकी बुद्धि ऐसी हो जो मनोहर **गणतन्त्र** की सफलता का समर्थन करनेवाली हो, जो असेम्बली में अच्छी तरह विचारित कार्यप्रणाली से सहित हो, जो राज्यतन्त्र के संचालन की दृष्टि से उचित दण्डनीति से सहित हो और सुघट प्रतीति/सुसंगत प्रतीति से युक्त एवं व्यवहार कार्य करने वाली हो।[4]

जयोदय के अन्तिम सर्ग के अन्त में कामना पञ्चक श्लोकों में भी महाकवि की राष्ट्र के प्रति मंगल भावना अभिव्यक्ति हुई है -

---

१,२,श्लेषालंकार से दो अर्थ निकलते हैं। यहाँ मात्र एक अपेक्षित अर्थ दिया गया है। अर्थ के लिए टीका
४. दृष्टव्य है।
३. जयोदय, १८/८४, ८२

> राष्ट्रं प्रवर्ततामिज्यां तन्वन्निर्बाधमुद्धुरम् ॥
> गणसेवी नृपो जातराष्ट्रस्नेहो वृषेक्षणम् ।
> बहुनिर्णयधीशाली ग्राम्यदोषातिगः क्षमः ॥[1]

- देश निर्बाधरूप से महती प्रतिष्ठा को प्राप्त करता हुआ विद्यमान रहे । राजा गणसेवी, देश से स्नेह करने वाला, धर्म को धारण करने वाला, बुद्धि से सुशोभित, ग्राम्य दोष से रहित और शक्तिशाली हो ।

जयोदय में राष्ट्रीय महत्ता का द्योतन करने वाला श्लेषालंकारमय वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है । ऐसे वैशिष्ट्य का पूर्ववर्ती काव्यों में अभाव है । काव्य में गुंजायमान राष्ट्रीय चेतना के स्वर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की कोशिकाओं को झंकृत कर अखण्डता, एकनिष्ठता और सदाचरण की ओर कदम बढ़ाने की प्रेरणा देते है तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ा कर राष्ट्रीयता को प्रस्फुटित करते है ।

LLL

१. जयोदय, २८/१०० का उत्तरार्ध, १०१

तृतीय परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

१. अभिनव भारती : अभिनव गुप्त, सम्पादक तथा भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, प्रकाशक-हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

२. आदि पुराण, भाग-२ : आचार्य जिनसेन, आचार्य गुणभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९६५

३. उत्तरमेघः कालिदास, प्रकाशक - रामनारायणलाल बैनीमाधव, इलाहाबाद, २फरवरी, १९७५

४. ऋषभावतार : मुनि श्री ज्ञानसागर जी, दि० जैन समाज, मदनगंज, प्र० सं०, सन् १९५७

५. कर्त्तव्यपथ प्रदर्शन : आचार्य श्री १०८ ज्ञानसागरजी, ज्ञानोदय प्रकाशन, पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर-३, षष्ठ संस्करण, सन् १९८९

६. कर्त्तव्यपथ प्रदर्शनः मुनि श्री ज्ञानसागर, श्री दि० जैन जैन पंचायत, किशनगढ़, रैनवाल, तृतीय संस्करण, सन् १९५९

७. काव्यप्रकाश मम्मटाचार्य, मिथिला विद्यापीठ ग्रन्थमाला, सन् १९५७

८. काव्यप्रकाशःमम्मटाचार्य, टीकाकार गोविन्द ठक्कुर

९. काव्यानुशासन आचार्य हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस बंबई, द्वितीय संस्करण, सन् १९३४

१०. काव्यादर्शः दण्डी, भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना, प्रथम संस्करण, सन् १९२८

११. काव्यालंकार भामह, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९२८

१२. काव्यालंकार रूद्रट, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९६५

१३. कादम्बरी : महाश्वेता वृतान्त, प्रकाश हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, वि० सं०२०३३

१४. चक्रवाल : रामधारीसिंह दिनकर

१५. चिन्तामणि, भाग-२ : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मन्दिर, काशी, तृतीय आवृत्ति, संवत् २०१०

१६. जयोदय (मूलप्रति) : पं० भूरामल शास्त्री, प्रकाशक - ब्र० सूरजमल जैन, प्र०सं०, सन् १९५०

१७. जयोदय पूर्वार्ध : ब्रह्मचारी भूरामल, ज्ञानसागर ग्रन्थमाला, ब्यावर, प्र०सं०, सन् १९७८

१८. जयोदय उत्तरार्ध : महाकवि भूरामल, ज्ञानोदय प्रकाशन, पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर-३, सन् १९८९

१९. तत्त्वार्थ दीपिका : (तत्त्वार्थसूत्र टीका) श्री क्षु० ज्ञानभूषणजी महाराज, प्रकाशक दि० जैन समाज हिसार (पंजाब), वीर निर्वाण सं० २४८४

२०. दशरूपक : धनञ्जय, प्रकाशक · सीताराम शास्त्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार मेरठ, तृतीय संस्करण, सन् १९७६

२१. दयोदय चम्पू : मुनि श्री ज्ञानसागर जी, प्रकाशचन्द जैन, ब्यावर, प्र०सं०, सन् १९६६

२२. धम्मपद · अनुवादक एवं सम्पादक · त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित, संस्कृत पुस्तकालय, कचौड़ी गली, वाराणसी।

२३. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, वि० संवत् २०१९

२४. ध्वन्यालोकलोचन अभिनव गुप्त

२५. नाट्य दर्पण : रामचन्द्र गुणचन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, सन् १९६१

२६. नाट्य शास्त्र : भरतमुनि, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६४

२७. नीति शतक : भर्तृहरि, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, सन् १९७६

२८. पल्लव : सुमित्रानन्दन पन्त, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली सन् १९५८

२९. पवित्र मानवजीवन : मुनि श्री ज्ञानसागर, दि० जैन महिला समाज, पंजाब, प्रथम संस्करण, सन् १९५६

३०. पूर्वमेघ: कालिदास, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, कचौड़ी गली, वाराणसी

३१. प्रवचनसार प्रतिरूपक : आचार्य ज्ञानसागर, प्रकाशक महावीर सागाका पाटनी, किशनगढ़ रेनवाल, सन् १९७२

३२. भाग्योदय (भाग्य परीक्षा) : ब्र. भूरामल शास्त्री, जैन समाज हांसी, प्रथम संस्करण सन् १९४५

३३. भक्तिरसामृत सिन्धु : रूप गोस्वामी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९६३

३४. भद्रोदय (समुद्रदत्त चरित) : आचार्य ज्ञानसागर, दि० जैसवाल जैन समाज अजमेर, प्रथम संस्करण, सन् १९६९

३५. मानव धर्म : ब्र० भूरामलजी (आचार्य ज्ञानसागरजी) दि० जैन पंचायत सभा ललितपुर, सन् १९८७

३६. मालविकाग्निमित्र : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, कचौड़ी गली, वाराणसी

३७. मुनिमनोरञ्जनाशीति : महाकवि भूरामल (आचार्य ज्ञानसागर) विद्यासागर साहित्य संस्थान, पनागर, जबलपुर, प्रथम संस्करण, ३ जून १९९०

३८. मेधावी : गांगेय राघव

३९. मृच्छकटिक : शूद्रक, संस्कृत हिन्दी टीका - आचार्य श्रीधरप्रसाद पन्त, प्रकाशक स्टुडेण्ट स्टोर, बिहारीपुर (बरेली), प्रथम संस्करण, सन् १९७२

४०. रघुवंश : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, कचौड़ी गली, वाराणसी

४१. रस मीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण, सन् १९६६

४२. रस सिद्धान्त : डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सन् १९६४

४३. रीतिविज्ञान : विद्यानिवास मिश्र, नई दिल्ली, मेकमिलन, १९७७

४४. वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६७

४५. वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक, प्रकाश हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार राधेश्याम मिश्रा चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, च० सं०, वि० सं० २०३९

४६. विद्याधर से विद्यासागर : सुरेश सरल, प्रकाशक- ब्र० राकेश जैन, ४१७, फूटाताल चौक, जबलपुर, प्र० सं० १९८५

४७. विवेकोदय : ब्र भूरामल शास्त्री, बाबू विश्वम्भरदास जैन, हिसार, प्रथम संस्करण, सन् १९४७

४८. वीरोदय : मुनि श्री ज्ञानसागर जी, प्रकाशचन्द जैन, ज्ञानसागर ग्रन्थमाला, ब्यावर, सन् १९६८

४९. वीर शासन के प्रभावक आचार्य : डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर एवं डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९७५

५०. वैराग्य शतक : भर्तृहरि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, सन् १९८२

५१. शृंगार शतकः भर्तृहरि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, सन् १९७९

५२. श्रीमद् भागवत :

५३. शैली और शैलीविज्ञान : वि० कृष्णस्वामी अयंगार

५४. सरल जैन विवाह विधि :ब्रह्म. भूरामल शास्त्री, दि० जैन समाज, हिसार, प्रथम संस्करण, सन् १९४७

५५. सम्यक्त्वसार शतक : क्षुल्लक श्री ज्ञानभूषण जी, दि० जैन समाज, हिसार, वि० संवत् २०१२

५६. सचित्त विवेचन : ब्रह्म. भूरामल शास्त्री, जैन समाज, हाँसी, प्रथम संस्करण, सन् १९४६

५७. समयसार टीका : मुनि श्री ज्ञानसागर , दि० जैन समाज, अजमेर, प्रथम संस्करण, सन् १९६८

५८. साहित्य दर्पण : विश्वनाथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण सन् १९६९

५९. साहित्य दर्पण : हिन्दी विमर्श व्याख्या, डॉ० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी - १

६०. सुदर्शनोदय : मुनि श्री ज्ञानसागर, मुनि श्री ज्ञानसागर जैन ग्रन्थमाला, ब्यावर, नवम्बर, १९६६

६१. सौन्दरनन्द : अश्वघोष, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, कचौड़ी गली, वाराणसी

६२. स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म : ब्रह्म. भूरामल शास्त्री, खजान सिंह विमलप्रसाद जैन, मुजफ्फरनगर, सन् १९४२

६३. हिन्दी सेमेंटिक्स : हरदेव बाहरी, भारती प्रेस पब्लीकेशन, इलाहाबाद, सन् १९५९

६४. Poetic Image C D. Lewis

६५. Poetic Pattern · Rabin Skeltion

६६. Critique of Poetry Michael Roberts

□□□

शोध प्रबन्ध

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में अप्रस्तुत विधान : डॉ० नगेन्द्र मोहन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नई दिल्ली-६, प्रथम संस्करण, सन् १९७२

२. जायसी की बिम्ब योजना : डॉ० सुधा सक्सेना, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण, सन् १९६६

३. महाकवि ज्ञानसागर के काव्य : एक अध्ययन . डॉ० किरण टण्डन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, ५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली, प्र० सं०, सन् १९८४

४. शैलीविज्ञान और प्रेमचन्द की भाषा : डॉ० सुरेशकुमार, द मेकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली, प्र० सं०, सन् १९७८

पाण्डुलिपि

१. ऋषि कैसा होना है : आचार्य श्री ज्ञानसागर जी

२. जयोदय उत्तरार्ध स्वोपज्ञ टीका : आचार्य श्री ज्ञानसागर, जी

३. मुनिमनोरञ्जनाशीति : आचार्य श्री ज्ञानसागर जी

४. मूक माटी अनुशीलन : डॉ० श्री रतनचन्द्र जैन, रीडर, बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल (म. प्र.)

५. वीरशर्माभ्युदय : आचार्य श्री ज्ञानसागर जी

६. भक्तियाँ : आचार्य श्री ज्ञानसागर जी

परमपूज्य आचार्य 108
श्री ज्ञानसागर जी महाराज का

जीवन परिचय

-:: जन्म ::-
सन् १८९१
-:: जन्मस्थान ::-
राणोली-ग्राम (जिला-सीकर) राज.
-:: जन्मनाम ::-
भूरामल शास्त्री
-:: ब्रह्मचर्य व्रत ::-
सन् १९४७ (वि. सं. २००४)
-:: क्षुल्लक दीक्षा ::-
सन् १९५५ (वि. सं. २०१२)
-:: क्षुल्लक दीक्षा नाम ::-
क्षुल्लक १०५ श्री ज्ञानभूषण महाराज
-:: ऐल्लक दीक्षा ::-
सन् १९५७ (वि. सं. २०१४)
-:: दीक्षा गुरु ::-
आ. १०८ श्री शिवसागर जी महाराज
-:: मुनि दीक्षा ::-
सन् १९५९ (वि. सं. २०१६)
-:: दीक्षा गुरु ::-
आ. १०८ श्री शिवसागर जी महाराज
-:: मुनि दीक्षा नाम ::-
मुनि १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज
-:: आचार्य पद ::-
७ फरवरी सन् १९६९
(फाल्गुनवदी ५ सं. २०२५)
-:: आचार्य पद त्याग एवं
सल्लेखनाव्रत ग्रहण ::-
२२ नवम्बर, १९७२ (मंगसिर वदी
२ सं. २०२९)
-:: समाधिस्थ ::-
१ जून १९७३ (ज्येष्ठ कृष्ण
अमावस्या सं. २०३०)
-:: पट्टशिष्य ::-
पू. आ. श्री विद्यासागरजी महाराज
-:: सल्लेखना अवधि ::-
६ मास १३ दिन (मिति अनुसार)
६ मास १० दिन (दि. अनुसार)